प्रमाण और उसके भेदों
के
प्रामाण्य की परीक्षा

इलाहाबाद विश्वविद्यालय की डी० फिल्० उपाधि हेतु प्रस्तुत

शोध-प्रबन्ध

निर्देशक :
प्रो० डी० एन० द्विवेदी
विभागाध्यक्ष
दर्शन विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय,
इलाहाबाद

प्रस्तुतकर्ता :
अरुण कुमार दुबे
दर्शन विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय,
इलाहाबाद

दर्शन विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
इलाहाबाद
1998

विषयानुक्रम

आमुख

आरम्भ मे दर्शन का सम्बन्ध परमसत्ता या इससे सम्बन्धित सर्वोच्च सत् से माना गया था। किन्तु आधुनिक काल के प्रारम्भ मे तत्त्व की अपेक्षा ज्ञान के विश्लेषण को महत्त्व दिया गया और काण्ट के दर्शन मे यह पूरी तरह से ज्ञान-मीमासा हो गया। समकालीन दर्शन मे इसका सम्बन्ध विश्लेषण से हो गया। इधर नवीनतम प्रवृत्तियो के अनुसार पुन दर्शन का सम्बन्ध सत्ता के सामान्य विश्लेषण से जुडने लगा है और हाइडेगर के इस कथन को अत्यधिक महत्वपूर्ण माना जाने लगा है कि "Metaphysics is the core of Philosphy." यदि तर्क के लिए हम यह मान भी ले कि दार्शनिक चिन्तन का केन्द्रबिन्दु तत्त्वमीमांसा है, तो भी यह प्रश्न उठता ही है कि जिस तत्त्व या सत्ता सामान्य का अध्ययन तत्त्वमीमासा मे किया जाता है, उसके स्वरूप, संख्या आदि को जानने का साधन क्या है? इन प्रश्नों का निर्णायक उत्तर तब तक नही खोजा जा सकता, जब तक हम मानवीय ज्ञान की उत्पत्ति, स्वरूप, निकष तथा ज्ञान के साधनो के स्वरूप, भेद, प्रामाण्य व सीमा आदि से सम्बन्धित प्रश्नों का उत्तर नही खोज लेते। वस्तुत. कोई भी विश्वास—चाहे तत्त्वमीमासीय हो या इससे भिन्न—तर्क के अभाव मे अधविश्वास मात्र माना जाता है। प्रमाणमीमांसा मानव के सहज विश्वास को अन्धविश्वास होने से बचा लेती है। ज्ञान मीमासा की इसी महत्ता ने मुझे ज्ञानमीमासीय विषय पर शोध-कार्य करने के लिए प्रेरित किया और शोध विषय के रूप में मैने **"प्रमाण और उसके भेदों के प्रामाण्य की परीक्षा"** को चुना। वैसे, दर्शन की अवधारणा से सम्बन्धित यह विवाद मुख्यत· पाश्चात्य दर्शन मे दिखाई देता है। भारतीय दर्शन मे तो तत्त्वमीमांसा एव ज्ञानमीमांसा का निर्वाह साथ-साथ हुआ है। न्याय दर्शन इसका सबसे उत्कृष्ट प्रमाण है। भारतीय दर्शन की इसी समन्वयात्मक दृष्टि के कारण प्रस्तुत शोध—प्रबन्ध प्रमाणमीमांसा हेतु भारतीय दर्शनों को सीमा रेखा के रूप में स्वीकार करता है। विषयवस्तु को अति विस्तार से बचाने के लिए सभव व एतिह्य प्रमाणों का विवेचन प्रस्तुत शोध प्रबन्ध मे नही किया गया है।

विषयवस्तु की दृष्टि से प्रस्तुत शोध प्रबन्ध उपसहार के अतिरिक्त सात का अध्यायो मे विभक्त है।

अध्याय प्रथम – **'प्रमा एवं प्रमाण'** के अंतर्गत प्रमा और प्रमाण के सामान्य स्वरूप पर विचार करते हुए, विभिन्न भारतीय दर्शनो के अनुसार प्रमा एव प्रमाण के विभिन्न लक्षणो के निरूपण के साथ ही इनके लिए तर्कसंगत निकष प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। विभिन्न भारतीय दर्शनों में मान्य प्रमाणों की संख्या का उल्लेख भी प्रस्तुत अध्याय में है।

अध्याय द्वितीय - **'प्रत्यक्ष प्रमाण'** मे प्रत्यक्ष के स्वरूप पर विचार करते हुए विभिन्न भारतीय दर्शनो के अनुसार प्रत्यक्ष के सामान्य स्वरूप, विशिष्ट लक्षण, प्रत्यक्ष की प्रक्रिया, प्रत्यक्ष प्रमा के करण और प्रत्यक्ष ज्ञान के विभिन्न घटको यथा—इन्द्रिय, सन्निकर्ष एव प्रत्यक्ष ज्ञान के विषय के साथ ही प्रत्यक्ष के भेदो का विवेचन किया गया है। अन्त मे विवेच्य विषय के समस्त पक्षो पर एक आलोचनात्मक दृष्टिकोण प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है।

अध्याय तृतीय – **'अनुमान प्रमाण'** के अन्तर्गत अनुमान प्रमाण के सामान्य स्वरूप की व्याख्या करते हुए उसके विशिष्ट लक्षण एव प्रामाण्य के बारे मे विभिन्न भारतीय दर्शनों का दृष्टिकोण प्रस्तुत करने की कोशिश की गयी है। इसी क्रम में अनुमान के करण, घटक एव उसके तार्किक आकार पर विचार करते हुए उसके आधारभूत तत्त्वो यथा-व्याप्ति तथा पक्षधर्मता से सम्बन्धित विभिन्न पक्षो को उद्घाटित करने का प्रयास किया गया है। अन्त मे विभिन्न दर्शनो के अनुसार अनुमान के भेदो पर विचार करते हुए अनुमान प्रमाण से सम्बद्ध समस्त पक्षो का समालोचनात्मक विश्लेषण करने का प्रयास किया गया है।

अध्याय चतुर्थ – **'उपमान प्रमाण'** मे उपमान प्रमाण के सामान्य स्वरूप, विशिष्ट लक्षण, प्रामाण्य के साथ उपमान की प्रक्रिया, करण तथा सादृश्यानुमान व उपमान के सम्बन्धों पर विचार करते हुए उपमान के प्रयोजन का समीक्षात्मक विवेचन प्रस्तुत किया गया है।

अध्याय पंचम – **'शब्द प्रमाण'** के अन्तर्गत शब्द प्रमाण के सामान्य स्वरूप, विशिष्ट लक्षण, प्रामाण्य, शब्दार्थ, शब्दार्थ सम्बन्ध, वाक्य के स्वरूप, वाक्यार्थ बोध की विधियो के साथ शब्द प्रमाण के भेदो का आलोचनात्मक विवेचन प्रस्तुत किया गया है।

अध्याय षष्ठ– **'अर्थापत्ति प्रमाण'** के अन्तर्गत अर्थापत्ति के सामान्य स्वरूप पर विचार करते हुए विभिन्न भारतीय दर्शनो मे मान्य उसके विशिष्ट लक्षणो, भेदो, प्रामाण्य आदि पर विचार करते हुए अध्याय के अत मे अर्थापत्ति प्रमाण के समग्र पक्षो पर एक समीक्षात्मक दृष्टिकोण प्रस्तुत किया गया है।

अध्याय सप्तम – **'अनुपलब्धि प्रमाण'** मे अनुपलब्धि प्रमाण के स्वरूप, लक्षण, प्रामाण्य तथा उसके प्रमेयरूप अभाव के भेदो के विवेचन के साथ अनुपलब्धि प्रमाण के सम्पूर्ण पहलुओ पर एक समालोचनात्मक दृष्टि डाली गयी है।

अन्त में, **'उपसंहार'** मे शोध प्रबन्ध की उपलब्धि एवं स्थापना पर विचार करने का प्रयास किया गया है।

इसके अतिरिक्त शोध से सम्बन्धित आधार पुस्तको एवं सहायक सदर्भ ग्रन्थो की सूची प्रस्तुत है।

शताब्दियो से सचित ऋषियों की ज्ञानराशि के प्राभाण्य की परीक्षा करना मुझ जैसे मन्दमति किन्तु 'कवि यशः प्रार्थी' के लिए अत्यन्त दुरूह एवं असंभव है। फिर भी इस कार्य में यत्किंचित् सफलता प्राप्त हुई, उसका सम्पूर्ण श्रेय मेरे शोध-निर्देशक **आचार्य प्रवर प्रो0 देवकी नन्दन द्विवेदी, विभागाध्यक्ष, दर्शन विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद** को है जिन्होंने अपना बहुमूल्य समय निकाल कर अपने कुशल निर्देशन के द्वारा दुर्लभ तथ्यों को सुलभ कराया, तत्परतापूर्वक शोध-कार्य को सम्पन्न करने के लिए प्रेरित किया तथा अपना असीम स्नेह एवं आशीर्वाद प्रदान करते हुए मेरे शोध-कार्य को पूर्णता तक पहुँचाया। इस महती सदाशयता एवं अनुग्रह के लिए गुरूवर प्रो० द्विवेदी जी का मैं आजीवन आभारी रहूँगा।

अनवरत संरक्षक की भूमिका का निर्वाह करने वाले डॉ० जटाशकर त्रिपाठी, रीडर, दर्शन विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद, के प्रति भी मैं हार्दिक आभार व्यक्त करता हूँ जिन्होंने तमाम व्यस्तताओं के बाद भी समय-समय पर उचित मार्गदर्शन के द्वारा मेरे शोध-कार्य को शीघ्रतिशीघ्र पूर्ण करने के लिए अपना हर संभव सहयोग दिया। सदैव मेरे कल्याण में सन्नद्ध डॉ0 हरिशंकर उपाध्याय, रीडर, दर्शन विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद, को भी मैं हृदय से धन्यवाद देता हूँ जिनका पूर्ण सहयोग एवं आशीर्वाद शोध-कार्य के दौरान निरन्तर मिलता रहा। श्री राममूर्ति पाठक, विभागाध्यक्ष, दर्शन विभाग, इलाहाबाद डिग्री कालेज, इलाहाबाद का मैं आजीवन आभारी रहूँगा जिनकी सदाशयतापूर्ण असीमित सहायता के बिना यह दुरूह कार्य सम्पन्न न हो पाता।

मै परम श्रद्धेय गुरूप्रवर प्रो0 संगम लाल पाण्डेय, प्रो० राम लाल सिंह, प्रो० जे०एस० श्रीवास्तव, डॉ० राजेन्द्र स्वरूप भटनागर, श्री श्याम किशोर सेठ, डॉ० छोटे लाल त्रिपाठी, डॉ० नरेन्द्र सिह, डॉ0 गौरी चट्टोपाध्याय, डॉ0 मृदुला रवि प्रकाश एवं परम हितैषी अग्रज तुल्य डॉ0 विभुराम मिश्र के प्रति भी आभार व्यक्त करता हूँ जिनके स्नेहहिल झरनों से निस्सृत असीम कृपा एवं आशीर्वाद के परिणामस्वरूप मेरे लिए दुर्बोध सा प्रतीत होने वाला यह विषय सुगम बन सका।

मैं इलाहाबाद विश्वविद्यालय पुस्तकालय, इलाहाबाद, केन्द्रीय ग्रन्थालय बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय, आई०सी०पी०आर० लखनऊ एवं डॉ० गंगानाथ झा केन्द्रीय शोध संस्थान, इलाहाबाद के कर्मचारियों के प्रति भी आभार व्यक्त करना अपना परम कर्त्तव्य समझता हूँ जिन्होंने मेरे शोध-विषय से सम्बन्धित प्रभूत सामग्री को तत्परतापूर्वक उपलब्ध कराने में अभिरूचि प्रदर्शित की।

विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के प्रति भी मैं अपना आभार व्यक्त करता हूँ जिसने वरिष्ठ शोध छात्रवृत्ति प्रदान करके मेरे शोध कार्य को सम्पन्न करने में अपना अविस्मरणीय योगदान दिया है।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध के सफलता पूर्वक सम्पन्न होने के लिए मै गार्हस्थ्य जीवन के झंझावात में निरन्तर संघर्षरत, कर्मठता की प्रतिमूर्ति पूज्यपिता श्री पारसनाथ दुबे एवं वात्सल्य तथा करूणा की साक्षात् प्रतिमूर्ति पूज्या माता श्रीमती उमराजी देवी का चिर ऋणी हूँ जिन्होंने मुझे निरन्तर प्रेरणा एवं आशीर्वाद प्रदान कर प्रस्तुत शोध कार्य योग्य बनाया। इसी क्रम में मैं अपनी सहधार्मिणी श्रीमती शशि दुबे, अनुज श्री अनिल कुमार दुबे एवं बेटे शिवम् से शोध-कार्य योग्य मिलने वाले उपयुक्त वातावरण एवं अन्य सभी प्रकार के सहयोग के लिए इनके प्रति मैं हृदय से धन्यवाद ज्ञापित करता हूँ।

अब मै सुहृद एवं बाल सखा श्री राम सागर शर्मा, श्री श्याम कान्त त्रिपाठी, श्री राजेश कुमार सिंह, डॉ0 दीप नारायण यादव, श्रीयुत् श्री प्रकाश दुबे, श्री मिथिलेश कुमार तिवारी, श्री हरी कान्त मिश्र, श्री राम सागर गुप्त, श्री लालता प्रसाद यादव, श्री जगदम्बा प्रसाद सिंह, श्री देवेन्द्र प्रताप सिंह, श्री चन्द्र प्रकाश सिंह, कुँवर विक्रम सिंह, श्री अजय कुमार सिंह एवं अनुजवत् श्री जय प्रकाश तिवारी के प्रति कृतज्ञता प्रकट करता हूँ जिन्होंने शोध-कार्य में प्रत्यक्ष एव परोक्ष हर प्रकार का सहयोग दिया। मैं जय दुर्गे मॉ कम्प्यूटर प्वांइट के श्री रतन खरे एवं सुश्री प्रीति के प्रति भी धन्यवाद ज्ञापित करना आवश्यक समझता हूँ जिनके अथक प्रयास एवं आत्मीय सहयोग के बिना मेरा यह कार्य शीघ्र सम्पन्न नहीं हो सकता था।

अन्त मे, मैं यह विनम्र निवेदन करना भी अपना कर्त्तव्य समझता हूँ कि यदि इस शोध-प्रबन्ध में कुछ तथ्य सत्य व अनुकूल बन पड़े हों, तो यह ऋषियो की महती साधना एवं गुरूओं की महती कृपा का प्रतिफल है और यदि कुछ भी दुष्ट या अनुचित लगे, तो वह मेरे अपने ही अज्ञान से जनित है, अतएव क्षन्तव्य है।

23 अप्रैल, 1998

अरूण कुमार दुबे
दर्शन विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद।

अध्याय : प्रथम

प्रमा एवं प्रमाण

अध्याय : प्रथम

प्रमा एवं प्रमाण

भारतीय ज्ञानमीमासा मे ज्ञान शब्द का पाश्चात्य ज्ञानमीमासा पद **"नालेज"** की तुलना मे अधिक व्यापक अर्थ मे प्रयोग किया गया है। पाश्चात्य दर्शन में प्रयुक्त नालेज (ज्ञान) शब्द केवल यथार्थ ज्ञान का वाचक है। **जी० ई० मूर** ने ज्ञान की प्रकृति को स्पष्ट करने के लिए **"उपयुक्त ज्ञान"** (Knowledge Proper) शब्द का प्रयोग किया है।[1] पाश्चत्य ज्ञानमीमांसीय अवधारणा से भिन्न भारतीय ज्ञानमीमासीय चिन्तन में ज्ञान के अन्तर्गत यथार्थ और अयथार्थ दोनो प्रकार के ज्ञान सम्मिलित है। इनमे से यथार्थ ज्ञान प्रमा तथा अयथार्थ ज्ञान अप्रमा कहलाता है । पाश्चात्य दर्शन की उपयुक्त ज्ञान की अवधारण भारतीय ज्ञानमीमासीय पद प्रमा के समान है। अनेक विचारकों ने नालेज और प्रमा को अभिन्न माना है।[2]

यथार्थ ज्ञान को प्रमारुप मानने में सभी भारतीय दार्शनिक मतैक्य रखते है, किन्तु यह यथार्थता किन अवस्थाओ में है अथवा किन ज्ञानों मे है, इस विषय मे भारतीय दार्शनिकों मे मतभेद परिलक्षित होता है । दूसरे शब्दो में, प्रमा की विशेषताओं तथा उसके मापदण्ड के बारे मे उनमे मतभेद है । यहाँ विचारणीय प्रश्न यह है कि क्या प्रमा का कोई सर्वमान्य लक्षण और मापदण्ड स्थापित किया जा सकता है? क्या उस सर्वमान्य विशेषता मे प्रमा की अन्य विशषताएँ अन्तर्भूत है या उसमे अन्य विशषताओ का निषेध हो जाता है? इन प्रश्नों पर विभिन्न दर्शनो मे अपनी–अपनी दार्शनिक मान्यताओ के अनुसार विचार किया गया है।

प्रमा का लक्षण

न्याय दर्शन में यथार्थ अनुभव को प्रमा का एक मुख्य लक्षण मााना गया है। **न्याय भाष्य** में **वात्स्यायन ने "यथार्थ विज्ञानम् सा प्रमा"** कहकर प्रमा का लक्षण निर्धारित किया है तथा बाद मे **"तस्मिन्स्तदिति प्रत्यय"**[3] के रुप मे अपने लक्षण को स्पष्ट किया है। इस लक्षण के अनुसार विषय के अनुरुप ही उसका अनुभव (ज्ञान) होने पर वह अनुभव प्रमारुप है अन्यथा अप्रमारुप है। दूसरे शब्दो मे, यथा अर्थ (विषय) तथा अनुभव ही प्रमा का लक्षण है। इस प्रकार न्याय दार्शनिक किसी वस्तु के असदिग्ध तथा यथार्थ अनुभव को प्रमा कहते है । उनके अनुसार स्मृति चूँकि किसी अतीत घटना के अनुभव पर आधारित होती है, इसलिए उसे प्रमा रुप न मानकर अप्रमारुप ही माना जाना चाहिए।

प्रख्यात नैयायिक **जयन्त भट्ट** ने **"न्याय मंजरी"** में प्रमा को **"असंदिग्ध तथा अव्यभिचारी अर्थोपलब्धि"** के रुप में परिभाषित किया है।[4] उनके अनुसार अर्थोपलब्धि का अर्थ **"अर्थजन्योपलब्धि"** है। प्रभाकर की भॉति वे भी कहते हैं कि जो ज्ञान अर्थ अर्थात विषय से उत्पन्न हो, वह प्रमा होता है । चूँकि स्मृति की उत्पत्ति विषय से न होकर पूर्वज्ञान के संस्कारो

से होती है, अतः उसे अर्थजन्योपलब्धि नही कहा जा सकता और इसी लिए स्मृति प्रमारूप न होकर अप्रमारूप है। इस प्रकार नैयायिक प्रमा को सवादी ज्ञान के रूप में परिभाषित करते है। उनका यह मत पाश्चात्य दर्शन मे स्वीकृत सत्य के संवादिता सिद्धान्त के पर्याप्त निकट है जिसमें वस्तु व ज्ञान को परस्पर स्वतन्त्र माना जाता है।

किन्तु प्राचीन न्यायदर्शन में स्वीकृत प्रमा का लक्षण दोषपूर्ण है। यहाँ कठिनाई यह है कि यदि वस्तु ज्ञान से स्वतन्त्र है और दोनों के भिन्न आयाम हैं तो दोनों के भिन्न आयाम हैं तो दोनों में तुलना कैसे संभव है? तुलना के अभाव में यह कैसे निर्णीत होगा कि ज्ञान वस्तु के अनुरूप है या प्रतिकूल? न्याय दर्शन में इसका कोई तर्कसंगत समाधान नहीं मिल पाता। पुनश्च जयन्त द्वारा निर्धारित प्रमा के लक्षण को मान लिया जाय तो प्रत्यक्ष के अतिरिक्त अन्य सभी ज्ञान अप्रमा की कोटि में आ जायेंगे। इतना हीं नहीं, जयन्त की परिभाषा को मान लेने पर भूत कालीन तथा भविष्यकालीन वस्तुओ का ज्ञान भी विषय द्वारा उत्पन्न न होने कारण अप्रमारूप ही होगा। अतः प्राचीन न्याय द्वारा निर्धारित प्रमा का लक्षण अमान्य है।

इन्ही कठिनाइयो के कारण नव्य न्याय के जनक आचार्य गगेश ने प्रमा को "यथार्थानुभवः" या "अर्थोपलब्धि" के रूप में परिभाषित न करके अन्य रूप में परिभाषित करते हैं।[5] **"तत्त्वचिन्तामणि"** में उन्होनें **"तद्वति तत्प्रकारकानुभवो वा"** के रूप में प्रमा को परिभाषित किया है। अर्थात् जो वस्तु वास्तव में जिस तरह की हो, उसे उसी तरह का समझना प्रमा है। इसे स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं कि **"यत्र यदस्ति तत्र तस्यानुभवः प्रमा।"** अर्थात जहॉ जो है, वहाँ उसी का अनुभव प्रमा है जैसे यदि 'क' 'ख' में है तो 'ख' मे 'क' का ज्ञान प्रमा हैं।

किन्तु **प्रो० जे०एन० मोहन्ती**[6] ने **"तद्वति तत्प्रकारकानुभवो वा"** की आलोचना करते हुए कहा है कि यह परिभाषा मूलतः यथार्थता से भिन्न नही है। उनके अनुसार तद्वती तद् प्रकारकत्व में तद्वती अंश तात्त्विक स्थिति की ओर संकेत करता है जबकि तत्तप्रकारकत्व ज्ञानात्मक स्थिति की ओर निर्देश करता है। इस प्रकार इस परिभाषा का अर्थ हुआ कि यदि ज्ञानात्मक स्थिति तात्त्विक स्थिति के अनुरूप (संवादी) हो, तो वह ज्ञान प्रमारूप होगा और यदि दोनों पक्षों में सामञ्जस्य न हो तो वह अप्रमारूप होगा। लेकिन यहाँ प्रश्न यह है कि यदि वस्तु ज्ञान से स्वतंत्र हो तो ज्ञान और विषय की समरूपता का ज्ञान कैसे होगा? यदि ज्ञान और वस्तु में अव्यवहित संवादिता को स्वीकार किया जाय तो संशय और भ्रम जो अप्रमारूप हैं, की व्याख्या नहीं की जा सकती है। इस प्रकार गंगेश द्वारा प्रस्तुत प्रमा का लक्षण यथार्थवाद की कठिनाइयों की ओर ले जाता है और इसीलिए अमान्य है।

सांख्य दर्शन के अनुसार किसी विषय के यथार्थ निश्चित ज्ञान (अर्थपरिच्छित्ति) को "प्रमा" कहते हैं । **सांख्य सूत्रकार कपिल** के अनुसार असन्निकृष्ट अर्थ का निश्चय करना प्रमा है और पुरूष इस प्रमारूपी फल का आश्रय है। **वाचस्पति** मिश्र ने **"चित्तवृत्ति"** के रूप में प्रमा को परिभाषित किया है। उनके अनुसार प्रमा वह ज्ञान है जो उस विषय को बताता है जो

सशयरहित, वास्तविक ओर नवीन हो–**"तच्चासंदिग्धविपरीता– नधिगतविषयचित्तवृत्तिः।"**[7] सांख्यों के अनुसार चैतन्य (पुरूष) के प्रकाश के बिना, जड़ बुद्धि में किसी विषय का ज्ञान नही हो सकता। लेकिन यहाँ कठिनाई यह है कि यदि पुरूष को प्रमाता माना जाय तो उसमें कर्त्तृत्व का आरोप करना होगा, जो कि युक्तियुक्त नही है, क्योंकि पुरूष स्वभावतः निष्क्रिय और प्रमा का साक्षी है। अत. सांख्य मत को भी निर्दोष नही माना जा सकता है।

जैन दर्शन मे प्रमा के लिए प्रमाण शब्द का प्रयोग किया है। **समन्तभद्र** के अनुसार 'स्व' और 'पर' का अवभास कराने वाला ज्ञान प्रमाण है– **"स्वपरावभासकं यथा प्रमाणं भुवि बुद्धि विलक्षणम्।"** सिद्धसेन दिवाकर ने इसमें **"बाधविवर्जितम्"** को भी जोडा है –**"प्रमाण स्वपराभासिज्ञानं बाधविवर्जितम्।"**[8] **अकलंकदेव, माणिक्यनन्दि** आदि कुछ आचार्य **"अपूर्व अनधिगत"** आदि पदों को जोडकर **नवीन ज्ञान** को प्रमाण मानने के पक्ष में हैं, जबकि **हेमचन्द्र** प्रभृति आचार्य अगृहीतग्रहण के अलावा गृहीतग्रहण को भी प्रमाण मानते हैं। जैनों के दो सम्प्रदायों में से **दिगम्बर** अगृहीतग्राही को ही प्रमाण मानते हैं जबकि श्वेताम्बर गृहीतग्राही को भी प्रमाण मानते हैं। वस्तुतः जैनियों का प्रमाण विचार बौद्धो व मीमांसकों से काफी साम्य रखता है। इसलिए इसमें बौद्ध व मीमांसा मत मे विद्यमान सारे दोष आ जाते हैं।

जैनों की भाँति बौद्ध दार्शनिक भी प्रमा व प्रमाण में अंतर नहीं मानते है और दोनों के लिए **"सम्यक् ज्ञान"** शब्द का प्रयोग करते हैं। **धर्मोत्तर** के अनुसार जिससे सभी प्रकार के पुरूषार्थ की सिद्धि हो, ऐसी वस्तु का प्रदर्शक ज्ञान है प्रमाण[9] तथा अविसंवादकत्व ही प्रमात्व है। **"धर्मोत्तर प्रदीप"** में **धर्मोत्तर** ने अनधिगत विषय के ज्ञान को प्रमा माना है– **"अनधिगत विषयं प्रमाणं।"**[10] **धर्मकीर्ति के अनुसार अविदिति अर्थ का ज्ञान कराने वाला सम्यक् तथा अविसंवादक ज्ञान प्रमाण है– "अविसंवादकं ज्ञानम्, सम्यग्ज्ञानम् अनाधिगत विषयम् प्रमाणम्।"** इस प्रकार बौद्ध दार्शनिक केवल दो विशेषताओं से युक्त ज्ञान को प्रमारूप मानते हैं। पहला **अविसंवादक ज्ञान** दूसरा **अनधिगत विषय से युक्त ज्ञान है**। अविसंवादक ज्ञान से बौद्धों का आशय उपदर्शित वस्तु को प्राप्त करा देने वाले ज्ञान अर्थात् प्रयोजनपूरक ज्ञान या अर्थक्रिया कारी ज्ञान से है, जबकि अनधिगत विषय के ज्ञान से उनका आशय नवीन ज्ञान से है। प्रमा के इन दोनों लक्षणों मे से प्रथम का समर्थन **नैयायिकों** व प्रभाकर मीमांसको ने भी किया है, जबकि द्वितीय का समर्थन **मीमांसक** करते है।

किन्तु प्रमा के उपर्युक्त दोनों लक्षण दोषपूर्ण हैं। संवादप्रवृत्ति या अर्थक्रियाकारित्व को प्रमा का लक्षण मानने का **मीमांसकों व अद्वैत वेदान्तियों** ने विरोध किया है। **धर्मराजाध्वरीन्द्र** के अनुसार कभी–कभी मिथ्या संज्ञान भी हमारे प्रयोजन को सिद्ध कर देता है। इस लिए प्रयोजन की पूर्ति मात्र अथवा **"संवादप्रवृत्यानुकूलता"** को प्रमा का स्वतंन्त्र निकष नहीं माना जा सकता है। **नारायण** के अनुसार किसी ज्ञान की उपयोगिता के आधार पर उसके प्रमात्व का निर्धारण करने से 'अतिव्याप्त परिभाषा दोष उत्पन्न' हो जाला है, क्योकि स्मृति की उपयोगिता के आधार

पर उसे भी प्रमा कहा जा सकता है। पुनश्च, कभी–कभी अतीतकाल और भविष्यकाल की वस्तुओं के ज्ञान का वर्तमान काल में कोई उपयोग और अस्तित्व नहीं होता है। अतः उनकी कोई उपयोगिता न होने के कारण उनका ज्ञान भी अप्रमा हो जायेगा।[11] इसके अतिरिक्त जिस व्यक्ति को प्यास न लगी हो, उसके लिए जल का ज्ञान यथार्थ होते हुए भी अप्रमारूप हो होगा। इससे स्पष्ट होता कि उपयोगिता के आधार पर किसी ज्ञान के प्रमात्व का निर्धारण नही किया जा सकता । लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि उपयोगिता का प्रमात्व निर्धारण में कोई मूल्य नही है। भूतकालीन वस्तुएँ वर्तमान काल में भले ही उपयोगी न हों, किन्तु उनका प्रभाव बना रहता है। इसी प्रकार भविष्य सम्बन्धी वस्तुओं एवं घटनाओं का ज्ञान वर्तमान वस्तु के किसी न किसी प्रभाव के रूप मे ही संभव होता है। इस आधार पर कहा जा सकता है कि यद्यपि किसी ज्ञान के प्रमात्व निरूपण में उपयोगिता भी महत्व पूर्ण हो सकती है, तथापि इसे प्रमा का स्वतन्त्र लक्षण नही माना जा सकता है।

इसी प्रकार, अनधिगतता को भी प्रमा का लक्षण नहीं माना जा सकता है, क्योंकि अनधि ागतता को प्रमा का लक्षण मान लेने पर भूत तथा भविष्य के विषय में ज्ञान तथा अनुमान से प्राप्त ज्ञान की सत्यता पर भी संदेह उत्पन्न होने का भय है। इसलिए अविसंवादक ज्ञान की भाँति ही अनधिगत ज्ञान को प्रमा का स्वतंन्त्र लक्षण नहीं माना जा सकता है। अतः प्रमा सम्बन्धी बौद्ध मत भी अमान्य है।

प्राभाकर मीमांसक ज्ञानमीमांसा तथा तत्वमीमांसा दोनो ही क्षेत्रों में धुर वस्तुवादी हैं। वे सभी ज्ञान को प्रमा रूप मानते हैं। उनके अनुसार ज्ञान इकाई रूप न होकर दो ज्ञानों का का मिश्रण होता है। ज्ञान वस्तु का प्रकाशक है और वस्तु को प्रकाशित करने में ही उसका प्रमात्व है। चूँकि सभी ज्ञान वस्तु के प्रकाशक हैं, इसलिए सभी ज्ञान प्रमारूप हो जायेंगे। इस कठिनाई से बचने के लिए प्राभाकरों ने अनुभूति को प्रमा माना है। अनुभूति वस्तु व इन्द्रिय के सम्पर्क से प्रत्यक्षतः उत्पन्न होती है, इसलिए वह प्रमारूप है। स्मृति अनुभूति रूप न देकर संस्कार जन्य है, इसलिए वह प्रमारूप नहीं है– **'अनुभूतिः प्रमाणम् सा स्मृतेरन्या स्मृतिः पुनः पूर्व विज्ञान संस्कारमात्रजम् ज्ञानमुच्यते।'**[12]

प्राभाकरों के उपर्युक्त सिद्धान्त को मान लेने से धारावाहिक ज्ञान के विषय में कठिनाई यह उठती है कि उसे प्रमारूप माना जाय या अप्रमारूप। प्राभाकरों की उपर्युक्त परिभाषा को मान लेने से धारावाहिक ज्ञान मे बाद के क्षणों का ज्ञान संस्कार जन्य होने से अप्रमा कहा जायेगा और इस प्रकार पूरा धारावाहिक ज्ञान अप्रमा हो जायेगा। किन्तु ऐसा मानना उचित नहीं होगा क्योकि हमें धारावाहिक ज्ञान से भी सत्य ज्ञान प्राप्त होता रहता है। उक्त कठिनाई का समाधान करते हुए **शालिकनाथ** ने कहा है कि बाद के क्षणों के वस्तु का ज्ञान भी इन्द्रियों और वस्तु के सन्निकर्ष से माना जायेगा क्योंकि वे सभी ज्ञान पहले क्षण के ज्ञान से जुड़े हुए हैं। इसलिए पूरा धारावाहिक ज्ञान प्रमा के अन्तर्गत रखा जा सकता है। किन्तु प्रभाकर के अनुयायियों को अपनी प्रमा की

परिभाषा को सुरक्षित रखने में तब कठिनाई होती है जब उनके सामने ऐसे सत्य का ज्ञान प्रदान करने वाले अनुमान का प्रश्न उपस्थित होता है जिनमे पक्ष इन्द्रियों के समक्ष उपस्थित नही होता और व्याप्ति के आधार पर अनुमान किया जाता है।

प्रभाकर के कुछ अनुयायियो ने **व्यवहार–अविसंवाद** को भी प्रमा का लक्षण मान लिया है। उनके अनुसार जिस ज्ञान से व्यवहार में वस्तु प्राप्ति होने पर हमारी आकाक्षा पूरी होती है, वह प्रमा है और जिस ज्ञान से व्यवहार में सफलता नही मिलती हो, वह अप्रमा है। यहॉ प्राभाकरो का मत बौद्धो व नैयायिको के सदृश हो जाता है। अतः प्राभाकर मत में भी वे कठिनाइयॉं आ जाती है, जो बौद्धो व नैयायिको के मत में विद्यमान है।

इस प्रकार प्राभाकरो के मत में एक विकास–क्रम दिखाई देता है। वे क्रमशः प्रमा के तीन रूपों की चर्चा करते हैं। प्रथम स्तर पर वे सभी ज्ञान को प्रमा मानते हैं। किन्तु यह मत अव्यवहारिक है। द्वितीय स्तर पर वे केवल अनुभूति को प्रमा मानते है। इस अर्थ में स्मृति प्रमा नहीं है। इस मत की रक्षा करने में उन्हे बहुत कठिनाई का सामना करना पडता है। तीसरे स्तर वे व्यवहार मे अविसवादी ज्ञान को प्रमा मानते है। किन्तु यहॉ भी वे अपने को निर्दोष नही रख पाते। इस प्रकार प्राभाकर मीमासक प्रमा की परिभाषा में निरन्तर सुधार करते रहे, किन्तु कोई निर्दोष एवं सर्वमान्य परिभाषा देने मे से सफल नहीं हो पाये।

कुमारिल भट्ट ने प्रमा को परिभाषित करते हुए लिखा है –

"तस्मात् दृढ़ं यदुत्पन्नं नाऽपि संवादमिच्छति।
ज्ञानान्तरेण विज्ञानं तत् प्रमाणं प्रतीयताम् ।।"[13]

अर्थात प्रमा वह दृढ़ (निश्चित) ज्ञान है जिसके संवाद (प्रामाण्य, सत्यापन) के लिए किसी अन्य ज्ञान की आवश्यकता नहीं होती है। **उम्बेक के अनुसार** प्रमाण की उक्त परिभाषा में **'दृढ़'** पद प्रमा को सशय से अलग करता है तथा न **"संवादमिच्छति"** (जिसका अन्य किसी ज्ञान से बाध नहीं होता) प्रमा का भ्रम से भेद करता है। **पार्थसारथि मिश्र के अनुसार प्रमा वह ज्ञान है** जो कारण–दोष से रहित, बाधकज्ञान से रहित तथा अगृहीतग्राही (अनधिगत नवीन) हो **"कारणदोषाबाधकज्ञानरहितम् अग्रहीतग्राहिज्ञानम् प्रमाणम्।"**[14]

स्पष्टतः भाट्ट मीमांसकों का प्रमा लक्षण प्राभाकर मीमांसकों के प्रमा लक्षण से भिन्न है। **प्राभाकर व्यवहार** अविसवाद को भी प्रमा का लक्षण मानते है, जबकि भाट्ट मत में व्यवहार अविसंवाद को प्रमा का लक्षण नहीं बताया गया है। इस वैषम्य के बाद भी दोनों अनधिगतता को समान रूप से प्रमा का लक्षण मानते हैं। **बौद्ध** भी अनधिगतता को प्रमा का लक्षण मानते हैं। लेकिन दोनो में प्रमुख अंतर यह है कि बौद्ध धारावाहिक ज्ञान को प्रमा का लक्षण नहीं मानते, जबकि मीमांसक धारावाहिक ज्ञान को प्रमारूप मानते हैं। इस प्रकार मीमांसा दर्शन में प्रमा की चार विशेषताएँ मानी गयी हैं– 1. अनधिगतता, 2. दृढता, 3. कारणदोषरहितता, 4. बाधकज्ञानरहितता।

अब यहाँ प्रश्न यह है कि क्या प्रमा के लिए ज्ञान मे उपर्युक्त सभी विशेषताएँ होनी आवश्यक हैं? क्या प्रमा के उपर्युक्त लक्षणों एवं मानदण्डों को किसी सर्वोच्च लक्षण एवं मानदण्ड के अन्तर्गत रखा जा सकता है? उपर्युक्त में से **नवीनता या अनधिगतता** को प्रमा का लक्षण नहीं माना जा सकता, क्योंकि ऐसी स्थिति में भूत तथा भविष्य के बारे मे ज्ञान तथा अनुमान से प्राप्त ज्ञान की सत्यता पर भी सन्देह होने लगेगा। इसलिए नवीनता को प्रमा का लक्षण नही माना जा सकता। **'दृढ़ता'** या **निश्चितता** को प्रमा को विशेषता मानी जा सकती है। किन्तु किसी ज्ञान के प्रमात्व का निरूपण मनोवैज्ञानिक निश्चितता के आधार पर नही किया जा सकता है। मनोवैज्ञानिक निश्चितता प्रमा के साथ–साथ भ्रम (अप्रमा) मे भी पायी जाती है। अतः प्रमा के लिए वस्तुनिष्ठ निश्चितता आवश्यक है। जब किसी ज्ञान की सत्यता की निश्चितता के लिए हमारे पास कोई तार्किक आधार होता है, तो उसे प्रमा कहते है। अतः दृढ़ता को प्रमा का लक्षण माना जा सकता है, किन्तु दृढ़ता का आधार मनोवैज्ञानिक नहीं बल्कि तार्किक होना चाहिए। इसी प्रकार **"कारण–दोषरहितता", "बाधकज्ञानरहितता"** को भी प्रमा की विशेषता मानने में कोई मतभेद नहीं है।

मीमांसकों ने जिसे "बाधकज्ञानरहितता" कहा है, अद्वैत वेदान्तियों ने उसे ही "अबाधितविषयज्ञान" कहा है। धर्मराजाध्वरीन्द्र अबाधिता को प्रमा का प्रमुख लक्षण निर्धारित करते हुए लिखा है– **"प्रमात्वं अनधिगताबाधित–विषयज्ञानत्वंम्।**[15] अर्थात अनधिगत और अबाधित विषय का ज्ञान ही प्रमा है। दूसरे शब्दों में, जिस ज्ञान का उत्तर काल में बाध न हो ऐसे ज्ञान को प्रमा मानना चाहिए। यह लक्षण अनुभव तथा स्मृति दोनों पर समान रूप से घटित होता है, इसलिये वेदान्तियों ने स्मृति को प्रमा मानने का विरोध नहीं किया। उनके अनुसार स्मृति को भी प्रमा माना जा सकता है। **जैन** और **वैशेषिक** दार्शनिकों ने भी स्मृति को प्रमा रूप माना है।

किन्तु **नव्य न्याय के जनक आचार्य गंगेश** ने अबाधिता को प्रमा का लक्षण मानने का इस आधार पर विरोध किया है कि अबाधिता को प्रमा का लक्षण मान लेने पर अप्रमा को भी प्रमारूप माना पड़ेगा क्योंकि कभी–कभी अज्ञान भी काफी समय तक अबाधित रहता है। उनके अनुसार यद्यपि एक सत्य ज्ञान को असत्य ज्ञान बाधित करता है, किन्तु यह बाधा उसी समय होगी, जब एक ज्ञान सत्य और दूसरा ज्ञान असत्य होगा। किन्तु यदि दोनों ही ज्ञान असत्य होंगे, तो बाधा होगी ही नहीं। गंगेश यह भी कहते हैं कि यदि हम यह मान भी लें कि एक ज्ञान दूसरे से बाधित हो जाता है, तो इससे यह निष्कर्ष निकालना संभव नहीं है कि इन दोनों ज्ञानों में से कौन सा ज्ञान प्रमारूप है। इसीलिए गंगेश अबाधिता को प्रमा का लक्षण मानने का विरोध करते हैं।

किन्तु अद्वैत वेदान्तियों के विरूद्ध गंगेश का आक्षेप उचित नहीं है। वस्तुतः गंगेश का आक्षेप केवल तभी प्रयोज्य हो सकता है, जब हम यह मान लें कि जिस समय एक ज्ञान दूसरे ज्ञान से बाधित होता है और अन्य ज्ञान के रूप में परिवर्तित होता है, तो यह परिवर्तन आकस्मिक

या अकारण होता है। किन्तु अद्वैत वेदान्तियो का ऐसा कोई मन्तव्य नही है। उनके अनुसार अबाधिता का अर्थ यह है कि यदि दो ज्ञानों मे विरोध हो तो इस विरोध की कोई न कोइ उपयुक्त व्याख्या अवश्य उपलब्ध होनी चाहिए, अन्यथा उसे प्रमा नहीं कहा जा सकता है।

अबाधिता के उपर्युक्त अर्थ को स्वीकार करके **न्याय दर्शन** मे स्वीकृत यथार्थता की **विशेषताओं से उत्पन्न कठिनाइयों को भी सुलझाया जा सकता है। अबाधिता को स्वीकार कर लेने पर कारण दोषरहितता और निश्चितता की विशेषताऐं स्वतः ही स्वीकृत हो जायेंगी। अबाधिता को** स्वीकार किये बिना प्रमा की अन्य विशेषताएँ स्वीकार नही की जा सकती हैं। इससे सिद्ध होता है कि अबाधिता वह सर्वोच्च मापदण्ड है जिसके अन्तर्गत अन्य सभी मापदण्ड स्वतः स्थापित हो जायेगें। अत अबाधित सत्य ज्ञान को प्रमा का निर्दोष लक्षण माना जा सकता है।

प्रमाण

प्रमा के विवेचन प्रकरण मे यह स्पष्ट किया गया है कि अर्थ विषयक यथार्थ (अबाधित) ज्ञान को प्रमा कहते हैं। इस सन्दर्भ मे यहाँ एक स्वाभाविक प्रश्न यह उठता है कि इस यथार्थता को परखने की कसौटी क्या है? अथवा सत्य का बोध कराने के लिए साधन क्या है ? इन प्रश्नों पर विचार करना इस लिए आवश्यक है कि साधन के अभाव में न तो अर्थ विषयक यथार्थ ज्ञान हो सकता है और न ही यथार्थज्ञान (प्रमा) का अयथार्थ ज्ञान (अप्रमा) से विभेद ही किया जा सकता है। उक्त परिपेक्ष्य में यह माना जाता है कि प्रमाता को जिन साधनों के द्वारा विषय का यथार्थ (अबाधित) ज्ञान होता है, उन्हें दार्शनिक शब्दावली मे **'प्रमाण'** कहा जाता है। कहा भी गया है कि प्रमाणो के अधीन प्रमेय की व्यवस्था और प्रमाणों की व्यवस्था उनके लक्षणों पर अवलम्बित होती है– **''मानाधीना मेयसिद्धिर्मानसिद्धिश्च लक्षणात्।''**[16] वस्तुतः प्रमाण विषयक परिचर्चा के अभाव में कोई भी ज्ञान सिद्धान्त तार्किक रूप से पंगु ही रहता है। यह प्रमाण ही है जो कि ज्ञेय को बौद्धिक स्तर पर व्याख्यायित करने का प्रयास करता है। एक अर्थ में प्रमाणमीमांसा ज्ञान की समूची प्रक्रिया का बौद्धिकीकरण है। अतएव ज्ञान के सन्दर्भ में प्रमाण के स्वरूप, प्रकार आदि पर विचार करना न केवल महत्वपूर्ण है बल्कि अनिवार्य भी है। व्युत्पत्ति की दृष्टि से प्रमाण शब्द **'प्र'** उपसर्ग पूर्वक **'मा'** धातु में ल्युट प्रत्यय जोडकर बना है। ल्युट जब भाव में होता है, तो इसका अर्थ है **'प्रमा'** (यथार्थ ज्ञान), परन्तु ल्युट जब करण अर्थ मे किया जाता है, तब इसका अर्थ होता है– प्रमा का करण या साधन–**"प्रमीयतेऽनेनेति प्रमाणम्।"** इस प्रकार प्रमाण शब्द के उपर्युक्त दो अर्थ विवक्षित होते हैं, फिर भी इसका अधिक प्रयोग प्रमा के करण के रूप में ही किया जाता है। विवेच्य प्रसंग मे भी प्रमाण शब्द का प्रयोग इसी दूसरे अर्थ में किया गया है।

जिस प्रकार प्रमा को यथार्थानुभवरूप में स्वीकार करने में दार्शनिको में मतभेद नही दिखाई देता, उसी प्रकार प्रमाण को प्रमा के करण के रूप में **(प्रमाकरणं प्रमाणं)**[17] स्वीकार

करने मे दार्शनिको में कोई विप्रतिपत्ति दृष्टिगोचर नही होती। लेकिन करण शब्द की व्याख्या को लेकर दार्शनिको मे मतभेद दृष्टिगोचर होता है।

करण शब्द की व्याख्या करते हुए **महर्षि पाणिनि** ने कहा है कि **"साधकतम् करणम्"**[18] अर्थात् क्रिया की सिद्धि मे जो सबसे प्रकृष्ट उपकारक अथवा सर्वाधिक सहायक कारण होता है, उसे करण कहा जाता है। साधकतम् उसे कहते है जो क्रिया का प्रकृष्टोपकारक अर्थात सबसे अधिक समीपवर्ती हो, जिसका व्यापार होते ही क्रिया के फल की निष्पत्ति हो जाये तथा बीच मे किसी वस्तु का व्यवधान न हो।

करण शब्द की व्याख्या को लेकर **प्राचीन नैयायिकों** व **नव्य नैयायिकों** में मतभेद है। **प्राचीन नैयायिकों** के अनुसार करण का अर्थ है ऐसा कारण (साधन) जो व्यापारवत् और असाधारण हो—**"व्यापारवद् असाधारणम् कारणं करणम्"**। यहाँ असाधारण कारण से आशय ऐसे कारण से है जिसकी अनुपस्थिति में कार्य की उत्पत्ति न हो सके। यहाँ पर **असाधारण** शब्द **'करण'** को अन्य कारणों से अलग करता है, जबकि **'व्यापार'** शब्द इस प्रकार के विषयो को छोड़ देता है, जो कार्य करने के समय व्यापारवत् नही है, किन्तु ऐसा करने की (व्यापार की) क्षमता रखते है। किन्तु **नव्य नैयायिक** करण की इस व्याख्या को अस्वीकार करते हैं। उनके अनुसार **करण** ऐसा कारण (साधन) है जिसके होने से तुरन्त कार्य उत्पन्न होता है— **"फलयोग्यावच्छिन्नं कारणं तज्जनकताप्रयोजक जनकताकत्वं व्यापारत्वम्।"**[19] इस प्रकार प्राचीन नैयायिक जहॉ करण को द्रव्यस्वरूप मानते है, वहाँ नव्य नैयायिकों के अनुसार करण स्वयं व्यापार का स्वरूप है। जैसे, कुल्हाड़ी से लकड़ी काटने की स्थिति में प्राचीन नैयायिकों के अनुसार स्वयं कुल्हाडी करण है, जबकि नव्य नैयायिकों के अनुसार कुल्हाडी का प्रहार (कुल्हाडी का व्यापार) करण है।

वस्तुतः करण की व्याख्या के सम्बन्ध में प्राचीन और नव्य नैयायिकों के मतों में अंतर होते हुए भी कोई आत्यन्तिक विरोध नहीं है, क्योंकि पाणिनि के सूत्र **"साधकतमं करणम्"** से दोनों ही लक्षण निष्पन्न हो सकते है। दोनों लक्षणों मे साधकतम् कारण से ही क्रिया की निष्पत्ति होती है।[20] इस प्रकार करण के दोनो लक्षणों द्वारा प्रमाण की निष्पति होती है।

प्रमाण का लक्षण

'प्रमाकरणं प्रमाणम्, इस रूप में प्रमाण को परिभाषित करते हुए भी अपनी—अपनी दार्शनिक मान्याताओं के आधार पर विभिन्न दर्शनो में प्रमाण के विशिष्ट लक्षण निर्धारित किये गये हैं, जिनका विवेचन अधोवत् है—

न्याय दर्शन में यथार्थ अनुभव को प्रमा तथा उसे साधन को प्रमाण माना गया है। **वात्स्यायन** के अनुसार **"उपलब्धि[21] अर्थात ज्ञान[22] अथवा प्रमा के साधन को प्रमाण कहते है।"** उनके अनुसार विषय के अनुरूप ज्ञान उत्पन्न करने वाला साधन प्रमाण है। **वाचस्पति मिश्र**

के अनुसार जिस साधन के द्वारा अर्थ की उपलब्धि होती है, उसे प्रमाण कहा जाता है **"उपलब्धि हेतुः प्रमाणम्।"**[23] उनके अनुसार "उपलब्धि" मात्र से स्मृतिभिन्न अभिव्यभिचारी रूप प्रमा ज्ञान अभिप्रेत है, जबकि लक्षण मे "हेतु" पद प्रमारूप फल से भिन्नता प्रदर्शित करने के लिए दिया गया है। किन्तु अर्थ की उपलब्धि के स्मरणात्मक एवं भ्रमात्मक ज्ञान से भिन्न होने पर भी संशयात्मक होने की संभावाना बनी रहती है। इसका निराकरण करने के लिए **जयन्त भट्ट** ने अपने "अर्थोपलब्धिरूप" प्रमाण लक्षण में **"अव्यभिचारिणी"** पद के साथ **"असंदिग्ध"** पद का निवेश किया है। इस प्रकार जयन्त भट्ट के अनुसार **"संशय और विपर्यय से भिन्न अर्थ विषयक ज्ञान को उत्पन्न करने वाला कारण समूह ही प्रमाण है।"** यहाँ एक विशेष उल्लेखनीय बात यह है कि पाणिनि ने जहाँ **"साधकतमं करणं प्रमाणम्"** माना है, वहाँ जयन्त भट्ट ने मुख्य और गौण सभी कारणो के समूह को प्रमाण माना है। उनका कहना है कि किसी एक भी कारण के न रहने से प्रमा का उत्पादन असभव है। इसलिए प्रमा ज्ञान के सभी कारणों का समूह ही प्रमाण है। **भासर्वज्ञ** के अनुसार सम्यक् अनुभव ही यथार्थ ज्ञान है, उसके साधन को प्रमाण कहते हैं। संक्षेप मे, प्राचीन न्यायाचार्यो ने सवादी ज्ञान के साधन को प्रमाण माना है। उनके अनुसार यथार्थ अनुभव का साधन ही प्रमाण है।

किन्तु प्रमाण का यह लक्षण दोषपूर्ण है, क्योंकि यदि वस्तु ज्ञान से स्वतंन्त्र है, तो दोनों मे तुलना संभव नही होगी और तुलना के अभाव में इसका निर्णय नहीं हो पायेगा कि ज्ञान वस्तु के अनुरूप है। ऐसी स्थिति में यथार्थनुभव (यथा वस्तु तथा ज्ञान) के साधन को प्रमाण भी नही माना जा सकता है। इन कठिनाइयो के निवारणार्थ **गंगेश** ने कहा कि **"तद्वति तत्प्रकारकानुभवः"** प्रमा है अर्थात जो वस्तु जिस तरह की हो उसे उसी तरह का समझना प्रमा है और उसके असाधारण कारण को प्रमाण कहते है। जगदीश, विश्वनाथ तथा अन्नं भट्ट ने गगेश का अक्षरशः समर्थन किया है। किन्तु प्रमाण का यह लक्षण भी दोषपूर्ण है, क्योकि गंगेश द्वारा निर्धारित प्रमा का लक्षण मूलतः यथार्थता से भिन्न नहीं है। अतः उनकी प्रमा की परिभाषा दोषपूर्ण होने से उनकी प्रमाण की परिभाषा भी दूषित हो गयी है। संक्षेप में, नैयायिको का यह मत उचित नहीं है कि यथार्थ अनुभव ही प्रमा है और उसका साधन (असाधारण कारण) प्रमाण है।

वैशेषिक दार्शनिकों के अनुसार प्रमा के करण को प्रमाण कहा जाता है। उनके अनुसार तत्त्वानुभव अर्थात् यथार्थ अनुभव प्रमा और जो उसके अयोग (सम्बन्धाभाव) से व्यवच्छिन्न हो, वह प्रमाण कहलाता है। **"तत्त्वानुभवः प्रमा। प्रमायोगव्यवच्छिन्नं प्रमाणम्।"**[24]

सांख्य दार्शनिक विज्ञानभिक्षु के अनुसार अनधिगत (अज्ञात या जो पूर्व में न जाना गया हो) अर्थ का अवधारण अर्थात् निश्चयात्मक ज्ञान ही प्रमा है। यह आत्मा और बुद्धि दोनों को अथवा दोनों में से एक आत्मा को होने वाला यथार्थ ज्ञान है। प्रमा के साधकतम् कारण जिसके तत्काल अनन्तर प्रमा की उत्पत्ति हो जाती है, वह प्रमाण कहलाता है। सांख्य दर्शन

मे प्रमाण केवल बोधस्वरूप या ज्ञान रूप ही है और यह ज्ञान विषयाकार परिणाम स्वरूप होने के कारण एक मात्र वुद्धि का ही धर्म है, इन्द्रियादि का नही। साख्य की भॉति **योग दर्शन** में भी बुद्धिनिष्ठ ज्ञान प्रमाण और पुरूषनिष्ठ ज्ञान प्रमा कहा जाता है।

जैन दार्शनिक समन्तभद्र के अनुसार समग्र वस्तु को अखण्ड (युगपद्) रूप से जानने वाला ज्ञान ही प्रमाण है– **"तत्त्वज्ञानं प्रमाणं ते युगपत् सर्वभासकम्।"** अन्यत्र उन्होंने **'स्व'** और **'पर'** के अवभासक ज्ञान को भी प्रमाण कहा है। **सिद्धसेन दिवाकर** ने इसमें एक अन्य पद **"बाध विवर्जितम्"** भी जोडा है। उनके अनुसार **"बाधविहीन स्वपराभासी ज्ञान ही प्रमाण है"**।[25] कुछ जैन दार्शनिक अगृहीतग्रहण को तथा कुछ गृहीतग्रहण को प्रमाण मानते हैं। जैनों का प्रमाण सम्बन्धी विचार बौद्धों व मीमांसकों के काफी निकट है। अतः इसमें भी उनके दोष आ गये हैं।

बौद्ध दार्शनिक धर्मोत्तर ने अनधिगत विषय के ज्ञान के साधन को प्रमाण माना है–**"अनधिगत विषयं प्रमाणं।"**[26] **धर्मकीर्ति** के अनुसार **"अविदित अर्थ का ज्ञान कराने वाला सम्यक् तथा अविसंवादक ज्ञान प्रमाण है।"** इस प्रकार बौद्धो के अनुसार नवीन और अर्थक्रियाकारी ज्ञान का साधन प्रमाण है। चूँकि विज्ञानवादी बौद्ध दार्शनिक वाह्यार्थ की सत्ता को स्वीकार नहीं करते, इसलिए ज्ञानगत योग्यता ही उनके मत में प्रमाण है। स्पष्टत. बौद्धों का प्रमाण लक्षण उनके प्रमा लक्षण पर आधारित है और प्रमा विवेचन प्रकरण में इनके प्रमा के लक्षण को दोषपूर्ण सिद्ध किया जा चुका है, इसलिए इनका प्रमाण लक्षण भी निर्दोष नहीं है।

मीमांसक प्रभाकर अनुभूति को प्रमाण मानते हैं– **"अनुभूतिः प्रमाणम्........।"**[27] प्रभाकर के कुछ अनुयायियों ने व्यवहार अविसंवाद (प्रयोजन को पूर्ति करने वाला) के साधन को प्रमाण माना है। किन्तु अनुभूति को प्रमाण मानने से धारावाहिक ज्ञान की व्याख्या नहीं हो पायेगी और व्यवहार अविसंवादक को प्रमाण मानने से बहुत से ऐसे साधनो को प्रमाण मानना पडेगा जो प्रमाण नही है तथा बहुत से ऐसे साधनो को प्रमाण से वाहिष्कृत करना पडेगा जो वस्तुतः प्रमाण हैं। अत. प्राभाकर मत भी ठीक नही है।

भाट्ट मीमांसकों ने चार विशेषताओं से युक्त ज्ञान को प्रमा तथा इनके साधन को प्रमाण कहा है। ये हैं – 1. नवीनता, 2. दृढता, 3. कारण दोष से रहित होना, 4. बाधकज्ञान से रहित होना। लेकिन नवीनता को प्रमा का लक्षण नहीं माना जा सकता है, क्योंकि ऐसा मानने पर भूत तथा भविष्य के विषय में ज्ञान तथा अनुमान से प्राप्त ज्ञान की सत्यता पर भी सन्देह होने लगेगा। इसी लिए "अग्रहीतग्राहिज्ञानम्" के साधन को प्रमाण नहीं माना जा सकता है। शेष तीनों विशेषताओं से युक्त ज्ञान को प्रमा तथा उनके साधन को प्रमाण माना जा सकता है।

सामान्यतः प्रमा के करण को प्रमाण[28] घोषित करते हुए स्मृति को प्रमा न मानने वालों तथा प्रमा मानने वालों को ध्यान में रखकर **धर्मराजाध्वरीन्द्र** ने प्रमा के दो लक्षण व्यक्त किये हैं। प्रथम स्मृति व्यावृत्त प्रमा का लक्षण इस प्रकार है– अनधिगत तथा अबाधित अर्थात दूसरे

प्रमाणो से अथवा उत्तर ज्ञान से मिथ्या सिद्ध न होने वाला वस्तु विषयक ज्ञान ही यथार्थ ज्ञान है– **"तत्र स्मृतिव्यावृत्तं प्रमात्वं अनधिगताबाधितविषयज्ञानत्वम्।"**[29] स्मृति का विषय पूर्व अधिगत होता है, क्योकि वह अनुभव सापेक्ष होता है। अतः "अनधिगत" पद से स्मृति की व्यावृत्ति की गयी है। इसी प्रकार **'शुक्तौ इदं रजतम्'** अर्थात शुक्ति में रजत का ज्ञान होता है, रजत ही इस ज्ञान का विषय है। परन्तु प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा स्पर्श करने पर उत्तर काल मे उसका बाध हो जाता है, इसलिए इस मिथ्या ज्ञान का व्यवच्छेदन करने के लिए लक्षण मे "अबाधित" पद का निवेश किया गया है। यथार्थ विषयिणी होने के नाते तथा उत्तरकाल के ज्ञान से बाधित न होने कारण ही कुछ दार्शनिकों ने स्मृति को भी प्रमा माना है। अद्वैत वेदान्त मे इसका विरोध नही किया गया है। इसी कारण **धर्मराजाध्वरीन्द्र** ने प्रमा का द्वितीय लक्षण इस प्रकार से दिया है–**"अबाधितविषयज्ञानत्वम्"।** अर्थात उत्तर काल के ज्ञान से बाधित न होने वाले विषय का ज्ञान ही प्रमा है। इसी लक्षण को वे स्मृति साधारण के नाम से ज्ञापित करते हैं–**"स्मृति साधारणं तु अबाधितविषयज्ञानत्वम्।"**[30] अनेक मे रहने वाले को साधारण कहते हैं। यह लक्षण समान रूप से अनुभव और स्मृति दोनों में घटित हो जाता है, इसी कारण इस लक्षण को स्मृति साधारण कहा गया है एवं प्रथम लक्षण को स्मृति व्यावृत्ति। सफल प्रवृत्ति को उत्पन्न करने वाली स्मृति को प्रमा सिद्ध करने के लिए ही यह द्वितीय लक्षण प्रयुक्त हुआ है और अबाधित प्रमा के करण को ही प्रमाण कहा गया है।

अब यहॉ प्रश्न यह है कि अबाधिता को प्रमा का निर्दोष लक्षण और एक मात्र निकष माना जा सकता है या नहीं? इस सन्दर्भ में प्रमा के विवेचन प्रकरण में व्यापक विचार–विमर्श के पश्चात् यह निष्कर्ष निकाला गया है कि अबाधिता को प्रमा का निर्दोष लक्षण एवं अन्तिम कसौटी माना जा सकता है। यहॉ उसका पुनर्विवेचन पुनरूक्ति दोष का प्रसंग उपस्थित करेगा। अतः सिद्धांत रूप में यही कहना उचित होगा कि अबाधित अर्थविषयक ज्ञान ही प्रमा तथा उसका करण प्रमाण है।

निष्कर्ष यह है कि प्रमाण वह है जिसके द्वारा प्रमिति हो–**"प्रमीयते येन तत्प्रमाणम्"**। इस साधन अर्थ में प्रमाण को निर्विवाद रूप से सभी दार्शनिकों ने स्वीकार किया है। लेकिन प्रमाण के जो विशिष्ट लक्षण बताये गये हैं, उनका कारण प्रमा ज्ञान का विशेष विवेचन है। चूंकि **अद्वैत वेदान्त** का प्रमा विवेचन तर्कसगत है, इसलिए उसका प्रमाण का विशिष्ट लक्षण भी अधिक तार्किक और ग्राह्य है।

इस अध्याय को समाप्त करने से पूर्व प्रमाण की संख्या पर भी विचार करना आवश्यक प्रतीत होता है। प्रमा और प्रमाण के विशिष्ट लक्षण की ही भॉति भारतीय दार्शनिकों में प्रमाण की संख्या को लेकर मतभेद है। विभिन्न दर्शनो में मान्य प्रमाणों की संख्या इस प्रकार है –

चार्वाक – 1 प्रत्यक्ष

बौद्ध एवं वैशेषिक – 1 प्रत्यक्ष, 2. अनुमान

साख्य	–	1 प्रत्यक्ष, 2 अनुमान एव 3 शब्द
न्याय	–	1 प्रत्यक्ष, 2 अनुमान, 3 उपमान, 4 शब्द
मीमासा (प्रभाकर)	–	1 प्रत्यक्ष, 2 अनुमान, 3 उपमान, 4 शब्द, 5. अर्थापत्ति
मीमासा (कुमारिल) और अद्वैत वेदान्त	–	1. प्रत्यक्ष, 2 अनुमान, 3. उपमान, 4 शब्द, 5. अर्थापत्ति, 6 अनुपलब्धि।
पौराणिक	–	1 प्रत्यक्ष, 2 अनुमान, 3 उपमान, 4 शब्द, 5 अर्थापत्ति, 6 अनुपलब्धि, 7. सभव, 8. एतिह्य।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि सम्पूर्ण भारतीय दर्शन में तत्वमीमांसीय चिन्तन के साथ–साथ ज्ञानमीमांसीय चिन्तन भी परिलक्षित होता है। समग्र भारतीय दर्शन में ज्ञान के स्वरूप, प्रकार, ज्ञान के साधनो एवं प्रमाणिकता के बारे में व्यापक रूप से विचार किया गया है। पाश्चात्य ज्ञानमीमांसा की तुलना में भारतीय ज्ञानमीमासा में ज्ञान शब्द का प्रयोग अधिक विस्तृत अर्थ में किया गया है। उसमे ज्ञान की परिधि मे यथार्थ व अयथार्थ दोनों प्रकार के ज्ञानों को समाहित कियां गया है तथा यथार्थ ज्ञान को प्रमा तथा अयर्थाथ ज्ञान को अप्रमा कहा गया है। यह प्रमा का सामान्य लक्षण है। प्रमा के विशेष लक्षण के बारे में दार्शनिकों में मतभेद है। इसमें से सर्वाधिक तर्कसंगत मत **अद्वैत वेदान्त** का है जिसके अनुसार अबाधित अर्थ विषयक ज्ञान ही प्रमा है। अन्य मतो के दोषों का विवेचन सम्बन्धित स्थल पर किया गया है।

प्रमा की तरह ही भारतीय दार्शनिकों में प्रमाण के सामान्य लक्षण के बारे मे यह सहमति है कि प्रमा का करण ही प्रमाण है। किन्तु प्रमाण विशेष के लक्षण को लेकर उनमें मतभेद परिलक्षित होता है, जिसमें सर्वाधिक सन्तोषजनक मत **अद्वैत वेदान्त** का है, जिसके अनुसार अबाधित अर्थविषयक ज्ञान का करण ही प्रमाण है। प्रमाण की इस विशेषता को मान लेने से प्रमाण की अन्य विशेषताएँ स्वतः ही इसमें समाहित हो जाती हैं, और अन्य लक्षणों में आने वाले दोष भी वारित हो जाते हैं। प्रमाणों की संख्या के बारे में भी भारतीय दार्शनिकों के बीच मतभेद है। भारतीय दर्शन में एक से लेकर आठ प्रमाण तक स्वीकार किये गये है, जिनमें संभव व एतिह्य के अतिरिक्त शेष छः बहुत महत्वपूर्ण हैं। इसीलिए अगले अध्यायों में केवल उन्हीं का विवेचन किया गया है।

संदर्भ-ग्रंथ-सूचिका

1 *Some Main Problems of Philosophy, Moore, G E , George Allen and Unwin, London, 1953, pp.81-82.*

2. ***Perception, Matilal; B.K., Clarendon Press, Oxford, 1986, p. 22 and The Nyay Theory of Knowledge, Chatterjee; S.C., Calcutta University, Press 1978, pp. 20-21.***

3. *न्याय भाष्य, 2.1.36, वात्स्यायन, कलकत्ता सस्कृत ग्रन्थमाला, ग्रन्थांक 18, कलकत्ता, 1936*

4. *न्यायमजरी, भट्ट, जयन्त, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, 1936, पृ012*

5 *गंगेशाज् थ्योरी आफ् ट्रुथ, मोहन्ती; जे०एन०, शान्तिनिकेतन, विश्वभारती, 1966, पृ0 45*

6. *तत्त्वचितामणि–1, उपाध्याय; गगेश, चौखम्बा प्रकाशन वाराणसी, 1917, पृ0 500*

7. *साख्यतत्त्व कौमुदी, मिश्र, वाचस्पति, सत्य प्रकाशन, बलरामपुर हाउस, इलाहाबाद, 1962, पृ0 5.*

8 *न्यायावतार, श्री परमश्रुत प्रभावक मण्डल, बम्बई, 1950, पृ0 1.*

9. *न्यायविन्दुटीका, धर्मोत्तर, काशी प्रसाद जायसवाल अनुशीलन सस्था, पटना, 1955, पृ0 3*

10. *धर्मोत्तर प्रदीप, धर्मोत्तर, काशी प्रसाद जायसवाल अनुशीलन सस्था, पटना, 1955, पृ0 19*

11. *मानमेयोदय, भट्ट; नारायण, थियोसोफिकल पब्लिशिग हाउस, अड्यार, मद्रास, 1933, पृ0 7.*

12. *प्रकरणपंचिका, मिश्र; शालिकनाथ, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, मुद्रणालय, काशी, 1961, पृ0 127.*

13. *श्लोकवार्तिक, 2.80 भट्ट; कुमारिल, मद्रास विश्वविद्यालय प्रकाशन, मद्रास, 1940.*

14. *शास्त्रदीपिका, मिश्र; पार्थसारथि, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, 1913, पृ0 55.*

15. *वेदान्तपरिभाषा, धर्मराजाध्वरीन्द्र, व्याख्या–मुसलगॉवकर, श्री गजानन शास्त्री, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1983, प्रत्यक्ष परिच्छेद, पृ0 9.*

16. *तत्त्वप्रदीपिका, श्लोक 18, चित्सुख, उदासीन सस्कृत विद्यालय, काशी, 1956, पृ0 356*

17. *वेदान्तपरिभाषा, धर्मराजाध्वरीन्द्र, व्याख्या–मुसलगॉवकर; श्री गजानन शास्त्री, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1983, प्रत्यक्षपरिच्छेद, पृ0 9.*

18. *(अष्टाध्यायी) पाणिनिसूत्र, 1.4.42, पाणिनि, रामलाल कपूर ट्रस्ट, बहालगढ़, सोनीपत, 1973.*

19. *तर्कभाषा, मिश्र; केशव, चौखम्बा प्रकाशन वाराणसी, 1953, पृ0 21.*

20. *न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका, मिश्र; वाचस्पति, कलकत्ता सस्कृत ग्रन्थमाला, ग्रन्थाक 18, 1936, पृ0 16–17.*

21. *न्यायभाष्य, वात्स्यायन, कलकत्ता संस्कृत ग्रन्थमाला, ग्रन्थाक 18, कलकत्ता, 1936, पृ0 91.*

22 *वही, पृ0 24.*

23. *न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका, मिश्र; वाचस्पति, कलकत्ता संस्कृत ग्रन्थमाला, ग्रन्थांक 18, 1936, पृ0 16.*

24. *सप्तपदार्थी, महादेव केशव काले, गिरगाँव, बम्बई, 1919, पृ0 140.*

25 *न्यायावतार, सिद्धसेन दिवाकर, श्री परमश्रुत प्रभावक मण्डल, बम्बई, 1950, पृ0 1.*

26. धर्मोत्तरप्रदीप, धर्मोत्तर, काशी प्रसाद जायसवाल अनुशीलन सस्था, पटना, 1955, पृ0 19.
27. प्रकरणपचिका, मिश्र; शालिकनाथ, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय मुद्रणालय, काशी, 1961, पृ0 127.
28 वेदान्तपरिभाषा, धर्मराजाध्वरीन्द्र, व्याख्या—मुसलगॉवकर, श्री गजानन शास्त्री, चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी, 1983, प्रत्यक्ष परिच्छेद, पृ0 9
29 वही, पृ0 9
30 वही, पृ0 10

अध्याय : द्वितीय

प्रत्यक्ष प्रमाण

प्रत्यक्ष प्रमाण

भारतीय दर्शन मे स्वीकृत समस्त प्रमाणो में प्रत्यक्ष प्रमाण का सर्वप्रथम और सर्वप्रमुख स्थान है। यह अन्य समस्त प्रमाणों का उपजीव्य है। इसीलिए सम्पूर्ण भारतीय दार्शनिक वाङ्मय मे प्रत्यक्ष प्रमाण की विस्तृत विवेचना पायी जाती है। जिस प्रकार से "प्रमाण" शब्द का प्रयोग प्रमा और प्रमाकरण दोनों के लिए उपलब्ध होता है और इन दो विभिन्न अर्थो में भी अकेला "प्रमाण' शब्द का प्रयोग आधारहीन नही कहा जा सकता, ठीक उसी प्रकार प्रमाणों के अन्तर्गत आने वाले प्रत्यक्ष प्रमाण में, **प्रत्यक्ष शब्द का प्रयोग–इन्द्रिय जन्य प्रमा, उस प्रमा के करण तथा उस प्रमा के विषयभूत पदार्थ आदि तीन विभिन्न अर्थो में होता है।** इसलिए इन तीनों में भी अकेला प्रत्यक्ष शब्द का प्रयोग आधारशून्य नहीं कहा जा सकता। यह प्रत्यक्ष शब्द की तीन विभिन्न व्युत्पत्तियों पर आधारित होता है जिनका विवेचन अधोवत् है।

प्रथम व्युत्पत्ति के अनुसार **"प्रति–विषयं प्रति गतम् अक्षम् इन्द्रियं यस्मै प्रयोजनाय तत् प्रत्यक्षम्"**[1] प्रत्यक्ष शब्द इन्द्रियजन्य ज्ञान का बोधक होता है, क्योंकि उसी ज्ञानात्मक प्रयोजन को सम्पन्न करने के लिए इन्द्रिय विषय के प्रति गमन करता है। द्वितीय व्युत्पत्ति के अनुसार **"प्रतिगतम्–विषयं प्रतिगतम् अर्थात विषयसन्निकृष्टम् अक्षं प्रत्यक्षम्"** अर्थात् प्रत्यक्ष शब्द प्रत्यक्ष प्रमा के करण का बोधक होता है, क्योंकि विषयसन्निकृष्ट इन्द्रिय को ही मुख्यत· प्रत्यक्ष प्रमाण माना जाता है। तृतीय व्युत्पत्ति के अनुसार **"प्रति–यं विषयं प्रति गतम् अक्षं स प्रत्यक्षः।"** अर्थात प्रत्यक्ष शब्द प्रत्यक्ष प्रमा के विषयभूत अर्थ का बोधक होता है, क्योंकि जिस विषय के प्रति इन्द्रिय का गमन होता है अर्थात जो अर्थ इन्द्रियसन्निकृष्ट होता है, वही प्रत्यक्ष प्रमा का विषय होता है। अत· विभिन्न व्युत्पत्तियों के आधार पर प्रत्यक्ष शब्द का प्रयोग प्रत्यक्ष प्रमा, प्रत्यक्षप्रमाकरण, तथा प्रत्यक्षप्रमा के विषय के रूप में होने पर भी किसी प्रकार का भ्रम नहीं होना चाहिए।

सम्पूर्ण भारतीय दर्शन में प्रत्यक्ष और अर्थाघत्ति को छोड़कर अन्य किसी शब्द का प्रयोग प्रमा और प्रमाण (प्रमा के साधन) के लिए नही हुआ है। जैसे अनुमान, उपमान, शब्द व अनुपलब्धि से जन्य प्रमा को क्रमशः अनुमिति, उपमिति, शाब्दी प्रमा व अभाव– प्रमा व इनके साधन को क्रमशः अनुमान, उपमान, शब्द व अनुपलब्धि कहा जाता है। किन्तु प्रत्यक्ष और अर्थापत्ति शब्द का प्रयोग प्रमा और प्रमाण इन दोनों अर्थो में होता है। **"पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते"** इस आधार पर **"रात्रौ भुङ्क्ते"**– जो प्रमा होती है, वह अर्थापत्ति है और उस प्रमा को उत्पन्न करने वाले पुष्टत्वज्ञान रूप करण को भी अर्थापत्ति कहते है।[2] किन्तु **केशव मिश्र** प्रभृति कुछ नैयायिक प्रमा व प्रमाण दोनों के लिए "प्रत्यक्ष" शब्द का प्रयोग किये जाने का विरोध करते हैं। इनके अनुसार प्रत्यक्ष से व्युत्पन्न ज्ञान के लिए "साक्षात्कार" शब्द का प्रयोग किया जाना चाहिए। प्रत्यक्ष शब्द का प्रयोग केवल प्रत्यक्ष प्रमाण के लिए ही किंया जाना चाहिए– **"साक्षात्कारिप्रमाकरणं प्रत्यक्षम्।**

साक्षात्कारिणी च प्रमा, सा एवोच्यते या इन्द्रियजा।"[3] लेकिन अधिकाश विद्वान प्रत्यक्ष को प्रमा व प्रमाण दोनो का बोधक मानते है।

यूँ तो प्रमाणो के विचार–प्रसग में सभी प्रमाण प्रमुख हैं परन्तु प्रत्यक्ष ही एक ऐसा प्रमाण है जिसका विवेचन सभी भारतीय दर्शनो में हुआ है और इसी लिए यहाँ विभिन्न दृष्टियों से प्रत्यक्ष की परिभाषा प्रस्तुत की गयी है। सर्वप्रथम यहॉ यह बताया गया है कि प्रत्यक्ष की उत्पत्ति कैसे हुई है? कहा गया है कि प्रत्यक्ष शब्द "प्रति" और "अक्ष" इन दो शब्दों के योग से बना है जिसमें "प्रति" का अर्थ है समीप तथा "अक्ष" का अर्थ आँख से लिया जाता है। यहॉ आँख के साथ–साथ अन्य इन्द्रियाँ भी शामिल हो सकती है। अतः जो वस्तु इन्द्रियो के समाने हो, उससे प्राप्त ज्ञान को यहॉ प्रत्यक्ष कहा गया है। अर्थात "इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्यं ज्ञानं प्रत्यक्षम्" इस परिभाषा के विश्लेषण से हम पाते है कि इसमे तीन महत्वपूर्ण तत्त्व है– इन्द्रिय, अर्थ और सन्निकर्ष। प्रत्यक्ष ज्ञान की उत्पत्ति के लिए अर्थ के साथ इन्द्रिय के सन्निकर्ष का होना परम आवश्यक है, अन्यथा प्रत्यक्ष ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती। इसीलिए प्रत्यक्ष की उक्त परिभाषा स्वीकृत की गयी। प्रत्यक्ष की इसी परिभाषा को मानने वाले दार्शनिकों में हैं– न्याय दर्शन के प्रवर्तक गौतम, वैशेषिक, भाट्ट मीमांसक एव कई अन्य दार्शनिक।

लेकिन प्रत्यक्ष की उपर्युक्त परिभाषा ज्यादा दिनों तक टिक नहीं पायी और कई अन्य दर्शनों ने इसमें **'अतिव्याप्ति दोष'** बताकर उसे मानने से अस्वीकार कर दिया। इनके अनुसार चूँकि प्रत्यक्ष का सम्बन्ध साक्षात् प्रतीति से है, जिसे हम **"इमिडियट नालेज"** कहते हैं, अतः साक्षात्प्रतीति को ही प्रत्यक्ष मानना चाहिए। प्रत्यक्ष की इस परिभाषा को मानने वालों में नव्य–नैयायिक, प्रभाकर मीमांसक तथा वेदान्ती आते हैं। नव्य–न्याय के प्रवर्तक गंगेश उपाध्याय ने "ज्ञानाकरणकं ज्ञानं प्रत्यक्षम्" माना है। अर्थात् प्रत्यक्ष में किसी ऐसे विषय की साक्षात् प्रतीति होती है, जिसमे मन का सयोग रहता है। परन्तु कुछ **अद्वैत वेदान्ती** अतरिन्द्रिय मन को नहीं मानते हैं। इसी प्रकार **बौद्ध दार्शनिक** कहते हैं कि **"Perception is the knowledge of the unique particular object that is given directly"** जीतवनही जीम`मदेमश्श इस तरह हम देखते हैं कि भिन्न–भिन्न दर्शनों में प्रत्यक्ष का भिन्न–भिन्न लक्षण निर्धारित किया गया हैं जिनका विवेचन इस प्रकार है।

प्रत्यक्ष का लक्षण

चार्वाक दर्शन में केवल प्रत्यक्ष को ही एकमात्र प्रमाण माना गया है। **"बृहस्पतिसूत्र"** मे स्पष्ट कहा गया है। **"प्रत्यक्षमेवेकं प्रमाणम्।"** अर्थात प्रत्यक्ष ही एकमात्र प्रमाण है। प्रत्यक्ष को ही एकमात्र प्रमाण मानने के पीछे चार्वाकों का तर्क है कि जिस प्रमाण के द्वारा यथार्थ, निश्चित और असन्दिग्ध ज्ञान की प्राप्ति संभव हो, केवल वही प्रमाण माना जा सकता है। अनुमान, शब्दादि प्रमाणों से प्राप्त ज्ञान में उपर्युक्त विशेषताओं का अभाव पाया जाता है, इसलिए उन्हें प्रमाण नहीं

माना जा सकता है। वस्तुतः ज्ञेय वस्तु की सत्यता या असत्यता की ही मुख्यतः ज्ञेय वस्तु का प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष होना है।

प्रत्यक्ष को ही ज्ञान प्राप्ति का एक मात्र प्रामाणिक साधन मानते हुए भी चार्वाको ने निश्चित रूप से प्रत्यक्ष को परिभाषित नहीं किया है। फिर भी चार्वाक दर्शन में प्रत्यक्ष का जो विवेचन किया गया है, उसके आधार पर कहा जा सकता है कि चार्वाकों के अनुसार प्रत्यक्ष वह ज्ञान है जो इन्द्रिय और अर्थ (विषय) के सन्निकर्ष से उत्पन्न होता है। प्रारम्भ मे चार्वाक केवल चाक्षुष प्रत्यक्ष को ही मानते थे, किन्तु कालान्तर मे् वे अन्य इन्द्रिय से उत्पन्न ज्ञान को भी प्रत्यक्ष की कोटि मे रखने लगे। इसका परिणाम यह हुआ कि चार्वाक दर्शन में प्रत्यक्ष के दो भेद स्वीकृत हुए– **वाह्य तथा मानस**। वाह्य प्रत्यक्ष ऑख, नाक, कान, त्वचा तथा जिह्वा के द्वारा होता है, जबकि मानस प्रत्यक्ष मानसिक अनुभूतियों के साथ मन के संयोग से होता है। इस तरह बाद में चार्वाक दर्शन में प्रत्यक्ष के कुल छः भेद स्वीकृत हुए–चाक्षुष, श्रौत, स्पार्शन, रासन, घ्राणज तथा मानस।

जैन दर्शन में स्वीकृत प्रत्यक्ष की अवधारणा अन्य दर्शनों की प्रत्यक्ष की अवधारणा से भिन्न है। अन्य दर्शनों में साधारणतया इन्द्रिय–प्रत्यक्ष को ही प्रत्यक्ष कहा गया है, किन्तु जैन दर्शन में आत्म–सापेक्ष ज्ञान को प्रत्यक्ष कहा गया है। उनके अनुसार जिस ज्ञान को आत्मा स्वयं जानता है, और जिसके लिए आत्मा को इन्द्रिय या मनरूपी माध्यम या उपकरण की आवश्यकता नही होती, वह ज्ञान प्रत्यक्ष है तथा जो ज्ञान इन्द्रिय–मन सापेक्ष है, अर्थात जिस ज्ञान के लिए आत्मा को इन्द्रिय या मन या दोनो की आवश्यकता होती है, वह ज्ञान परोक्ष होता है। प्रख्यात जैनाचार्य **कुन्दकुन्द** के अनुसार अन्य दार्शनिक इन्द्रियजन्य ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते हैं, किन्तु इन्दियाँ अनात्म होने से परद्रव्य है। अतः इन्द्रियों से उपलब्ध ज्ञान प्रत्यक्ष कैसे हो सकता है? इससे स्पष्ट होता है कि जैन दर्शन में प्रत्यक्ष को सामान्य इन्द्रियजन्यज्ञान से भिन्न अपरोक्ष ज्ञान के अर्थ में प्रयुक्त किया गया है और प्रत्यक्ष को विशद ज्ञान कहा गया है–**"प्रत्यक्षस्य वैशद्यं स्वरूपम्।"**[4] स्पष्टता या निर्मलता या स्वच्छतापूर्वक भासित होने वाला ज्ञान विशद ज्ञान है और यही प्रत्यक्ष है। वस्तुतः जैन दर्शन में प्रत्यक्ष को तीन अर्थो मे परिभाषित किया गया है– 1. विशद ज्ञान (पारमार्थिक) के अर्थ में, 2. आत्मा के अर्थ में, 3. परापेक्षारहित के अर्थ में।

जैनों के अनुसार प्रत्यक्ष एक स्पष्ट, सविकल्पक तथा व्यभिचाररहित ज्ञान है, जो सामान्यरूप द्रव्य और विशेषरूप पर्याय तथा अपने स्वरूप का भी बोध कराता है–

"प्रत्यक्ष लक्षणं प्राहुः स्पष्टं साकारमंजसा।
द्रव्यपर्यायसामान्य विशेषार्थात्म-वेदनम्।।"

जो ज्ञान केवल आत्मा से होता है, उसे प्रत्यक्ष कहते हैं। अक्ष, ज्ञा और व्याप् धातुएँ एकार्थवाचक हैं, इसलिए अक्ष का अर्थ है आत्मा–**"अक्ष्णोति, व्याप्नोति जानातीत्यक्ष आत्मा। तमेव प्रतिनियतं प्रत्यक्षम्।"**[5] अर्थात् मन, इन्द्रिय, परोपदेश आदि परद्रव्यों की अपेक्षा रखे बिना

एकमात्र आत्मस्वभाव को ही कारणरूप से ग्रहण करके सर्वद्रव्य पर्यायों के समूह में एक समय में ही व्याप्त होकर प्रवर्तमान जो ज्ञान केवल आत्मा के द्वारा ही उत्पन्न होता है, उसे प्रत्यक्ष कहते है।

इन्द्रिय और मन की अपेक्षा के बिना व्यभिचार रहित जो साकार ग्रहण होता है, उसे ही प्रत्यक्ष कहते है– **"इन्द्रियानिन्द्रियापेक्षमतीत व्यभिचारं साकार ग्रहणं प्रत्यक्षम्।"**[6] इससे स्पष्ट होता है कि जैन दर्शन द्वारा निर्धारित प्रत्यक्ष का लक्षण अन्य दर्शनों के प्रत्यक्ष लक्षण से भिन्न है।

भारतीय ज्ञानमीमासीय चिन्तन में प्रत्यक्ष की परिभाषा विभिन्न दृष्टिकोणों से की गई है। प्रत्यक्ष विषयक सभी बौद्धेतर परिभाषाएँ भावात्मक दृष्टिकोण से निरुपित की गयी हैं। किन्तु बौद्ध दार्शनिक इसे उचित नहीं मानते हैं। बौद्ध नैयायिकों ने व्यावृत्ति (अपोह) के नियम के द्वारा प्रत्यक्ष को परिभाषित करने का प्रयास किया है। उनका मत है कि किसी वस्तु की स्वलक्षणात्मक परिभाषा संभव ही नही है, क्योंकि प्रत्येक धारणा अपने प्रतिरुप के साथ सम्बद्ध होती है। यथा– नील और नीलेतर। नील की वास्तविक परिभाषा केवल व्यावृत्ति नियम के द्वारा इस प्रकार दी जा सकती है कि 'नील' वह है जो 'नीलेतर' नहीं है। बौद्ध दर्शन में विशेषकर दिङ्नाग और धर्मकीर्ति के द्वारा प्रत्यक्ष की परिभाषा, प्रत्यक्ष का लक्षण और प्रत्यक्ष के विषय का निरुपण इसी दृष्टिकोण से निषेधात्मक और विभेदात्मक रुप में किया गया है। ऐसा करने में उनका द्विविध प्रयोजन अभिप्रेत है,जो इस प्रकार है–

1. प्रमाण के प्रत्यक्ष स्रोत का विज्ञान के अन्य माध्यमों से विभेद करना, और
2. इस बौद्ध अवधारणा का तद्विषयक बौद्धेतर दृष्टिकोणों से विभेद करना।

ज्ञान के अन्य माध्यमों से प्रत्यक्ष के विभेद की स्थापना के लिए बौद्ध नैयायिक **"प्रमाणव्यवस्थावाद"** का प्रतिपादन करते हैं। इसके अनुसार ज्ञान का एक साधन ज्ञान के दूसरे साधन के विषय एवं क्षेत्र में न तो क्रियाशील हो सकता है और न ही उसका अतिक्रमण कर सकता है। अर्थात् प्रत्यक्ष का विषय न तो अनुमान का विषय हो सकता है और न ही अनुमान का विषय प्रत्यक्ष का विषय हो सकता हो सकता है। इसी आधार पर बौद्धों ने प्रतिपादित किया कि प्रत्यक्ष का विषय विशेष (स्वलक्षण) है जो अर्थक्रिया में समर्थ होता है और अनुमान का विषय सामान्य (सामान्य लक्षण) है जो अर्थक्रिया में समर्थ होता है।[7]

अपने दूसरे उद्देश्य की पूर्ति हेतु बौद्ध प्रत्यक्ष विषयक विभिन्न मतवादों का खण्डन करके अपनी धारणा का मण्डन करते हैं। बौद्धेतर प्रत्यक्ष विषयक विभिन्न मतों की दो सामान्य विशेषताएँ हैं–

1. यह इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न होता है, और
2. इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न प्रत्यक्ष, नाम-जाति-गुण आदि पूर्वक होता है। इसके लिए बौद्ध पूर्वपक्ष के रुप में **अक्षपाद गौतम** को लेते है, जिनके अनुसार **"इन्द्रियार्थ सन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम्"** प्रत्यक्ष की परिभाषा

है।[8]

"न्यायसूत्र" में प्रत्यक्ष के चार लक्षणों का विधान किया गया है– 1 इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न, 2 अव्यपदेश्य, 3. अव्यभिचारी एवं 4. व्यवसायात्मक। **दिङ्नाग** इन लक्षणो मे दोष दिखाते है। उनके अनुसार प्रथम लक्षण मे प्रत्यक्ष इन्द्रिय मात्र तक सीमित हो जाने के कारण **'अव्याप्ति दोष'** से ग्रस्त है (एक देशवृत्तित्त्वम् अव्याप्तिः)। द्वितीय एवं तृतीय **'अव्यपदेश्य'** और **'अव्यभिचारी'** लक्षण प्रत्यक्ष की प्रमाणता के कारण अनावश्यक हैं। चतुर्थ लक्षण **'व्यवसायात्मक'** मनोभ्रान्ति और अनुमानादि में भी प्रयुक्त होने के कारण **'अतिव्याप्ति दोष'** से ग्रसित है (अधिकदेशवृत्तित्त्वम् अतिव्याप्तिः)।

इसके अतिरिक्त उक्त परिभाषा में दिये गये लक्षण परस्पर व्याघातक हैं। यदि प्रत्यक्ष इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न है, तो यह कभी भी निश्चयात्मक नही हो सकता, क्योकि इन्द्रियाँ कभी भी प्रत्यक्ष को निश्चयात्मक नहीं बना सकती हैं। यदि इन्द्रिय और अर्थ से उत्पन्न ज्ञान निश्चयात्मक है, तो फिर प्रत्यक्ष के लक्षण में **'अव्यपदेश्य'** शब्द को सम्मिलित नही किया जाना चाहिए, क्योंकि जो निश्चयात्मक है, उसे अवश्य व्यक्त किया जा सकता है। **नैयायिकों** के अनुसार इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से जाति व्यक्तियुक्त पदार्थ का प्रत्यक्ष होता है– **"सामान्य विशेष उभयमपि गृह्णाति।"**[9] लेकिन **दिङ्नाग** के अनुसार यदि रुपादि धर्म ही इन्द्रियों के विषय हैं, तो वे धर्म जिस द्रव्य में रहते हैं, उनका प्रत्यक्ष इन्द्रियों द्वारा नहीं हो सकता है।[10] यदि रुपादि धर्म से उस द्रव्य का स्वतन्त्र अस्तित्त्व है, तो उसका अवश्य इन्द्रिय–ग्रहण होना चाहिए। यदि वह इन्द्रिय ग्राह्य गुणो का समुच्चय मात्र है, तो वह नाममात्र हमारी मानसिक संरचना मात्र ही सिद्ध होता है।

इस प्रकार बौद्धों द्वारा बौद्धेतर प्रत्यक्ष की अवधारणा का खण्डन विभिन्न तर्कों के द्वारा किया गया है। यहाँ प्रत्यक्ष विषयक बौद्धेतर मतों के खण्डन का मौलिक आधार यह है कि किसी भी ज्ञान की संरचना में इन्द्रिय और बुद्धि दो मौलिक तत्वों का योगदान होता है। **कान्ट** ने भी कहा है कि इन्द्रियों के द्वारा ज्ञान की सामग्री प्राप्त होती है और बुद्धि उन्हें व्यवस्थित कर निश्चयात्मक ज्ञान का रुप देती है। बौद्ध न्याय की भाषा में **इसे प्रत्यक्ष की ग्राह्यता तथा प्रापकता कहते हैं। ग्राह्यता का अर्थ है इन्द्रियों द्वारा प्राप्त वस्तु का निर्विकल्पक विज्ञान (संवेदन मात्र), जो इन्द्रिय और वस्तु के सन्निकर्ष का प्रथम क्षण होता है।** प्रापकता का अर्थ है सविकल्पक, अध्यवसायात्मक ज्ञान जो बौद्धों की दृष्टि में बौद्धिक विकल्पात्मक है। यद्यपि नैयायिक भी प्रत्यक्ष के निर्विकल्पक एव सविकल्पक दो भेद मानते हैं, लेकिन सविकल्पक को ही वे प्रत्यक्ष का साक्षात् फल (ग्राह्यता) मानते हैं। ज्ञानमीमांसा की सूक्ष्म व्याख्या में एक सैद्धान्तिक आग्रह निहित है कि ज्ञान की संरचना में इन्द्रिय और बुद्धितर का पृथक -पृथक स्पष्टीकरण किया जाय। लेकिन पदार्थ और इन्द्रिय के सन्निकर्ष से उत्पन्न सविकल्पक ज्ञान के रुप में इन्द्रिय प्रत्यक्ष की परिभाषा करने वाले इस तथ्य पर कोई ध्यान नहीं देते हैं कि शुद्ध विज्ञान एक नवीन विज्ञान होता है– किसी

नवीन वस्तु का विज्ञान होता है, न कि प्रत्यभिज्ञा और ऐसा प्रत्येक विज्ञान का केवल प्रथम क्षण ही होता है। इन्द्रिय प्रत्यक्ष–यथार्थ इन्द्रिय प्रत्यक्ष–प्रत्यक्ष का केवल प्रथम क्षण ही होता है। परवर्ती क्षणो में जब ध्यान जागृत हो जाता है तो यह शुद्ध इन्द्रिय प्रत्यक्ष इन्द्रिय प्रत्यक्ष नही रह जाता जो यह प्रथम क्षण मे था।

इसके अतिरिक्त बौद्धेतर ''इन्द्रिय प्रत्यक्ष'' की सामान्य परिभाषा में इन्द्रिय प्रत्यक्ष के कार्य तथा उसके अन्य सहवर्ती सामान्य कारणों के कार्य के बीच एक प्रच्छन्न अस्तव्यस्तता मिलती है। इन्द्रिय प्रत्यक्ष का स्वय अपना कार्य, स्वयं अपना विषयार्थ और स्वयं अपना कारण होता है। इसका कार्य विषयार्थ को इन्द्रियों के समक्ष उपस्थित करना होता है (साक्षात्कारित्व व्यापार)। यद्यपि यह कार्य किसी विषयार्थ को इन्द्रिय–ग्राह्यता के क्षेत्र मे हठात्[11] खीच कर लाने के आशय से नहीं किया जाता, परन्तु ज्ञान के रुप में –ज्ञानाकार स्वरुप में–प्रस्तुत किया जाता है। इसका विषयार्थ कोई वस्तु विशेष[12] (स्वलक्षण) होता है, क्योंकि मात्र यही यथार्थ वस्तु हो सकता है जो यथार्थ व प्रापक होने के कारण इन्द्रियों मे उद्दीपन उत्पन्न कर सकता है। कारण अथवा कारणों में से एक पुनः एक विशेष वस्तु होता है। समस्त प्रमाण या ज्ञान की सामान्य विशिष्टता यह है कि उसे उत्पन्न करने वाले कारणों में से एक कारण के साथ ही उसका विषयार्थ भी होता है। इन्द्रिय प्रत्यक्ष का कार्य किसी विषयार्थ की इन्द्रिय गोचर क्षेत्र में उपस्थिति का संकेत मात्र होता है। उसके (विषयार्थ) स्वरुप की संरचना एक भिन्न कार्य है (यथा– 'यह घट है,' 'यह पट है" आदि) जिसे एक दूसरा निकाय (माध्यम) सम्पन्न करता है। यह परवर्ती कार्य प्रथम क्षण के पदचिह्नो का अनुसरण करता है। स्पष्टतः बौद्ध मत स्वरुप संरचना की सम्पूर्ण क्रिया को विकल्पात्मक मानता है जो निर्विकल्पक विज्ञान की नींव पर एक पक्षीय आत्मगत पहुँच है। यही निर्विकल्पक विज्ञान सम्पूर्ण ज्ञानमीमांसा का आधार परमार्थ सत् है। **श्चेरवात्स्की** ने इसे **"Sensational core of perception"** कहा है।[13] अतः इन्द्रिय प्रत्यक्ष की मौलिक विशेषता इसका ''रचनात्मक'' न होना है। इसके पश्चात् विकल्पों द्वारा मानसिक चित्रों की रचना होती है, किन्तु यह स्वयं अरचनात्मक होता है जिससे निर्विकल्पक विज्ञान नाम, जाति, गुण आदि से संप्रयुक्त होकर सविकल्पक के रुप में प्राप्त होता है, क्योंकि विकल्प किसी विशेष सन्दर्भ में कल्पना चित्र के अतिरिक्त और कुछ नहीं होता। स्पष्ट है कि शुद्ध इन्द्रिय प्रत्यक्ष समस्त स्मृति धर्मो से रहित होता है। इसे तो इन्द्रिय प्रत्यक्ष भी नही कहा जा सकता है। यह शुद्ध विज्ञान प्रत्यक्ष का विज्ञानात्मक केन्द्र है।

निष्कर्ष यह है कि इन्द्रिय प्रत्यक्ष, उसका कार्य एवं विषय प्रत्यक्ष की उत्तरवर्ती विकल्पात्मक क्रिया से भिन्न होता है। प्रथम किसी विषय की उपस्थिति का संकेत मात्र होता है, यही शुद्ध प्रत्यक्ष है और द्वितीय कल्पना चित्र का निर्माण होता है। इन्द्रिय प्रत्यक्ष की परिच्छेदित एवं विशेषीकृत परिभाषा में इस अंतर का स्पष्टीकरण होना चाहिए, जो बौद्धेतर दार्शनिक नहीं करते है। बौद्धों के अनुसार यह अंतर इस परिभाषा से स्पष्ट हो जाता है कि प्रत्यक्ष, प्रमाण का वह

स्रोत है, जिसका कार्य विषयार्थ को इन्द्रिय-गोचर क्षेत्र में उपस्थित कर देना होता है और तदुपरान्त उसके कल्पना-चित्र (आकार) का निर्माण आता है।[14] इस परिभाषा से तात्पर्य यह निकलता है कि केवल प्रथम क्षण ही इन्द्रिय-प्रत्यक्ष होता है, इसके बाद का चित्र स्मृतिजन्य होता है।

इस प्रकार बौद्ध दार्शनिक प्रत्यक्ष के अन्य लक्षणों में उपस्थित दोषों को दिखाकर स्वमत के अनुसार प्रत्यक्ष का निरुपण करते हैं। सामान्यतः बौद्धाचार्य कल्पनारहित और निर्भान्त ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते है। बौद्ध न्याय में विशेषकर बसुबन्धु, दिङ्नाग, धर्मकीर्ति तथा मोक्षाकर गुप्त द्वारा प्रत्यक्ष लक्षण का विवेचन किया गया है।

आचार्य बसुबन्धु ने "वाद-विधि" नामक ग्रन्थ (जो अब अनुपलब्ध है) में **"ततोऽर्थाद् विज्ञानं प्रत्यक्षं"**[15] प्रत्यक्ष लक्षण किया है। "न्यायवार्तिक तात्पर्यटीका" में तथ्य विश्लेषण के धनी **वाचस्पति मिश्र** बसुबन्धु कृत प्रत्यक्ष को व्याख्यायित करते हुए कहते हैं कि **"जिस अर्थ का जो ज्ञान होता है, यदि उससे ही वह होता है, अन्य अर्थ से नहीं, तो उसे प्रत्यक्ष कहते हैं।"**[16] प्रत्यक्ष का लक्षण इस प्रकार किये जाने से प्रत्यक्ष की प्रत्यक्षाभास, अनुमान[17] तथा संवृत्तिज्ञान[18] से व्यावृत्ति हो जाती है।

बसुबन्धु के उक्त लक्षण पर आक्षेप करते हुए **न्यायवर्तिककार** कहते हैं– **"यदि शब्दों के अनुसार ही इस सूत्र का अर्थ मान लिया जाय, तो भी इस प्रकार का ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं हो सकता, क्योंकि ग्राह्य अर्थ और ग्राहक ज्ञान एक साथ नहीं रहते हैं।"**[19] इसकी व्याख्या करते हुए **वाचस्पति मिश्र** लिखते हैं–

"यतो भवति ज्ञानं स ग्राह्योऽर्थः कारणं ग्राहकं च ज्ञानं
कार्य, तयोरयुगपदभावात् वर्तमानाभं ज्ञानमतीते न प्रत्यक्षं स्यात्।
तत्समानकालयोस्तु कार्यकारणभावाभावात् ततो नास्तीति भावः।"[20]

अर्थात् जिससे ज्ञान होताा है, वह ग्राह्य अर्थ ही ज्ञान का कारण है और उसका ग्राहक ज्ञान उसका कार्य है। वे दोनो एक साथ नहीं रहते (क्योंकि ज्ञान के क्षण में अर्थ नष्ट हो जाता है), इसलिए वर्तमान रुप में भासित होने वाला ज्ञान नष्ट हुई वस्तु के विषय में होगा तथा वह मिथ्या होगा और मिथ्या होने के कारण प्रत्यक्ष न कहलायेगा। समकालीन वस्तुओं का तो कार्यकारण भाव ही नहीं हो सकता। इसलिए "उसी अर्थ से उत्पन्न होने वाला ज्ञान प्रत्यक्ष है, यह (लक्षण) नहीं हो सकता।"

बौद्धों की ओर से इस आक्षेप का परिहार करते हुए कहा गया है कि पदार्थ क्षणिक है, इसलिए समानक्षण (एक. कालः) में ही कारण का नाश तथा कार्य की उत्पत्ति होती है, इस प्रकार ज्ञान का कारण जो अर्थ है, वह ज्ञान से भिन्न काल में अर्थात् पूर्व क्षण में रहता है, तथापि वह ज्ञान का ग्राह्य है, क्योंकि उसकी ग्राह्यता का अभिप्राय यह है कि वह अपने समानाकारक ज्ञान को ही उत्पन्न करता है। इसके अतिरिक्त ग्राह्यता का कोई अभिप्राय नहीं है। इसी के समर्थन

मे **धर्मकीर्ति** ने भी कहा है कि यदि संशय इस बात का है कि जो अर्थ भिन्न काल में रहता है, वह किस प्रकार से ग्राह्य है, तो इसके समाधान में कहा जा सकता है कि अर्थ की ग्राह्यता का अभिप्राय है– ज्ञान का हेतु होना और जो अर्थ किसी विज्ञान में अपना आकार अर्पित करने की क्षमता रखता है, वही ज्ञान का हेतु कहलाता है। इस कारण हेतु से होने वाला ज्ञान मिथ्या नहीं है, क्योंकि अर्थ के द्वारा किया हुआ नीलाकार इत्यादि ज्ञान में विद्यमान (वर्तमान) रहता है। इसलिए ज्ञान की वर्तमानता उचित ही है।[21] इस प्रकार बसुबन्धु के अनुसार **ततोऽर्थाद्विज्ञानम्** यह प्रत्यक्ष का लक्षण है।

किन्तु बौद्धदर्शन मे बसुबन्धुकृत प्रत्यक्ष-लक्षण बहुत महत्वपूर्ण नहीं है, क्योकि यह बौद्ध दर्शन के सभी प्रयोजनों को पूरा नहीं कर पाता है। **दिङ्नाग** ने इस लक्षण की कटु आलोचना करते हुए कहा है कि यह लक्षण वस्तुवादियों के "इन्द्रियार्थ सन्निकर्षोत्पन्न ज्ञान प्रत्यक्षम्" से बहुत साम्य रखता है। इस पर दिङ्नाग की टिप्पणी है – **"नाचार्यस्य वादविधिः।"**[22] **श्चेरवात्स्की** का भी कहना है कि वसुबन्धु का यह लक्षण विज्ञानवाद की दृष्टि से संगत नहीं है।[23]

न्याय दार्शनिकों एवं बसुबन्धु के प्रत्यक्ष लक्षण को दोषपूर्ण सिद्ध करने के उपरान्त बौद्ध न्याय के जनक **आचार्य दिङ्नाग** प्रत्यक्ष का सर्वथा मौलिक लक्षण प्रस्तुत करते हैं। उन्होने **"प्रमाणसमुच्चय"** में प्रत्यक्ष के लिए **"प्रत्यक्षं कल्पनापोढं इति"** लक्षण प्रस्तुत किया है। वर्तमान समय मे उपलब्ध "प्रमाणसमुच्चय" में यह पाठ **"प्रत्यक्षं कल्पनापोढं नामजात्याद्यसंयुतम्"**[24] के रुप में है। इसके अनुसार जो ज्ञान नाम, जाति, गुण, द्रव्य, क्रिया आदि पंचविध विकल्पनाओं से सर्वथा रहित हो, वही प्रत्यक्ष है।

यहाँ प्रश्न उठता है कि यह कल्पना क्या है? दिङ्नाग के अभिमत को स्पष्ट करते हुए **उद्योतकर** कहते है कि नाम, जाति (आदि) की योजना ही कल्पना है। अतः जो न नाम (संज्ञा किसी भी तरह की) से कहा जाये, न जाति आदि से जिसका निर्देश किया जाये, ऐसा विषय के स्वरुप का अनुसरण करने वाला (विषय के स्वरुप को दर्शाने वाला) विषय का व्यवस्थापक (परिच्छेदक) स्वसंवेद्य (जिसका अनुभव अपने द्वारा ही किया जाता है) ज्ञान प्रत्यक्ष कहलाता है–

"अपरे तु मन्यते –प्रत्यक्षं कल्पनापोढमिति। अथ केयं कल्पना? नामजातियोजनेति। यत् किल नाम्नाऽभिधीयते न च जात्यादिभिर्व्यपदिश्यते विषयस्वरुपानुविधायि परिच्छेदकमात्मसंवेद्यं तत्प्रत्यक्षमिति।"[25]

दिङ्नाग ने अपने प्रत्यक्ष लक्षण में इसे इस प्रकार से स्पष्ट किया है कि नाम इत्यादि शब्द अनेक प्रकार के होते हैं, जैसे – यदृच्छाशब्द, गुणशब्द, जातिशब्द, क्रियाशब्द व द्रव्यशब्द। इस प्रकार की कल्पना जिस ज्ञान में अर्थ से या स्वरुप से नहीं है, वह कल्पना से रहित है और वही प्रत्यक्ष है। इसी से कहा गया है कि जिसका अर्थ से या स्वरुप से नाम द्वारा कथन नही।किया जाता, न ही जाति आदि से जिसका निर्देश किया जाता है, वह प्रत्यक्ष है।

उक्त लक्षण में व्यभिचार दोष को दूर करने के लिए "विषय स्वरुपानुविधायि" पद द्वारा

विषय को ज्ञान का कारण कहा गया है। विषय का परिच्छेदक या व्यवस्थापक बतलाकर ज्ञान की प्रामाणिकता कही गयी है तथा " आत्मसंवेद्यं" पद द्वारा इसकी विज्ञानरुपता प्रकट की गयी है। प्रत्यक्ष स्वसवेद्य है। अर्थात् इसका स्वतः ही अनुभव किया जाता है, कोई दूसरा इसका ग्राहक नही है। इस कारण से यह कल्पना रहित (निर्विकल्पक) है– **"लक्षणवादिनः उत्तरं नामेति .... प्रत्यक्षं कल्पनापोढम् प्रत्यक्षेनैवसिध्यति।"**[26] कहा भी गया है– जो प्रत्यक्ष है, वह कल्पना-रहित है। उसके कल्पनाविनिर्मुक्तता की सिद्धि "आत्मसंवेदन रुप प्रत्यक्ष से होती है।"[27]

वस्तुतः दिङ्नाग ने प्रत्यक्ष का जो लक्षण निर्धारित किया, उसका उद्देश्य बौद्धेतर प्रत्यक्ष की सामान्य परिभाषा में व्याप्त अतिव्याप्ति आदि दोषों को दूर करके यथार्थवादियों व विज्ञानवादियों दोनों को सन्तुष्ट करना था। उनके प्रत्यक्ष लक्षण से प्रत्यक्ष का सविकल्पक प्रत्यक्ष, जिसमें नामजात्यादि की योजना सम्मिलित होती है, से व्यावृत्ति हो जाती है, तो अनुमानादि से इसकी व्यावृत्ति के लिए क्या पूछना? लेकिन दिङ्नाग का प्रत्यक्ष लक्षण भी पूर्णतः निर्दोष नहीं रह पाता। **उद्योतकर** ने इस लक्षण की भ्रान्ति में **'अतिव्याप्ति'** प्रदर्शित की। आगे चलकर धर्मकीर्ति ने दिङ्नाग के लक्षण मे **"अभ्रान्त"** पद का अधिक निवेश कर उसका परित्याग कर दिया।

अपने पूर्ववर्ती आचार्य दिङ्नाग द्वारा किये गये प्रत्यक्ष लक्षण का परिष्कार करते हुए धर्मकीर्ति ने अपने सूत्रग्रन्थ **"न्यायविन्दु"** में प्रत्यक्ष का लक्षण इस प्रकार किया है– **"प्रत्यक्षं कल्पनापोढमऽभ्रान्तम्"।**[28] अर्थात प्रत्यक्ष वह ज्ञान है जो कल्पनारहित (निर्विकल्पक) तथा निर्भान्त (सभी संशयों से मुक्त) होता है। यह प्रत्यक्ष दो विशेषताओं या लक्षणों से युक्त है। **प्रथम** तो वह निर्विकल्पक (अकल्पनात्मक) है एवं **द्वितीय,** उसमें भ्रान्ति का सर्वथा अभाव है। यहाँ निर्विकल्पक से धर्मकीर्ति का आशय साक्षात् ज्ञान से है। जो वस्तु जैसी है, यदि उसी रुप में हमें ज्ञात हो सके तो ऐसे प्राप्त हुए ज्ञान को हम साक्षात्कारात्मक ज्ञान कहेंगे।[29] यही निर्विकल्पक या अकल्पनात्मक ज्ञान है।

वस्तुतः, धर्मकीर्ति विहित प्रत्यक्ष के दोनों लक्षण दो प्रकार की विप्रतिपत्तियों के निराकरणार्थ है। **"कल्पनापोढ"** शब्द के ग्रहण से सविकल्पक प्रत्यक्ष और अनुमान से प्रत्यक्ष की व्यावृत्ति हो जाती है। **"अभ्रान्त"** पद के द्वारा भ्रम-विभ्रम आदि ज्ञान से प्रत्यक्ष को व्यावृत्त किया गया है। धर्मकीर्ति के अनुसार दिङ्नाग ने अपने लक्षण में "अभ्रान्त" पद का निवेश न करके गलती किया है। अभ्रान्त पद का ग्रहण न करने पर चलते हुए वृक्ष, द्विचन्द्रादि का दर्शन भी प्रत्यक्ष सीमा मे होगा, क्योंकि वह कल्पनारहित ज्ञान है। इसी समस्या से बचने के लिए लक्षण में "अभ्रान्त" शब्द का निवेश किया गया है।

धर्मोत्तर यद्यपि यह मानते हैं कि "कल्पनापोढ" शब्द में ही "अभ्रान्त" शब्द के अर्थ का भी समावेश हो सकता है, किन्तु वे धर्मकीर्ति के इस मत का समर्थन करते हैं कि गाड़ी आदि से यात्रा करते समय लोगों को मार्ग के दोनों ओर पीछे छूटते हुए पेड़ों आदि के चलने या दौड़ने का जो भ्रम होता है, उसका परिहार "अभ्रान्त" शब्द के प्रयोग के बिना नहीं हो सकता। वैसे वे

दिङ्नाग के इस मत को भी उचित बताते है कि आनुभविक भ्रमो के सम्बन्ध मे ''कल्पनापोढ'' शब्द ही पर्याप्त है। धर्मोत्तर के अनुसार धर्मकीर्ति ''अभ्रान्त'' शब्द द्वारा इस बात का संकेत करना चाहते थे कि प्रत्यक्ष से स्वलक्षण वस्तु का ज्ञान होता है।[30]

वस्तुतः प्रत्यक्ष के लक्षण में ''अभ्रान्त'' पद का प्रयोग बौद्ध दर्शन में विवाद का विषय रहा है। **असंग** ने प्रत्यक्ष के लक्षण में "अभ्रान्त" पद का ग्रहण किया था, लेकिन दिङ्नाग ने इसे अनावश्यक समझकर छोड दिया। दिङ्नाग के अनुसार भ्रान्ति मानसिक है तथा प्रत्यक्षाभास अथवा भ्रान्ति कल्पनाजन्य होती है। धर्मकीर्ति ने यद्यपि ''प्रमाणवार्तिक'' में प्रत्यक्ष लक्षण के लिए सद्य अभ्रान्त पद का ग्रहण नहीं किया है[31] लेकिन "न्याय बिन्दु" में अभ्रान्त पद का निवेश किया है। धर्मकीर्ति द्वारा अभ्रान्त पद की प्रयुक्ति तथा दिङ्नाग द्वारा उसके त्याग के प्रश्न पर विभिन्न लोगों का विभिन्न मत है।

दिङ्नाग ने प्रत्यक्ष के लक्षण में अभ्रान्त पद का ग्रहण नही किया, क्योंकि वे प्रत्यक्ष, जो वाह्य वस्तुओं की सत्ता सिद्धि का प्रखर प्रमाण माना जाता है, की विज्ञानवादी व्याख्या करना चाहते थे। प्रत्यक्ष की विज्ञानवादी व्याख्या का आधारभूत तर्क यह है कि ''इन्द्रिय और अर्थ से उत्पन्न प्रत्यक्ष की असाधारण ग्राह्यता विज्ञान है, जो स्वयं वस्तु नहीं है। उसी निर्विकल्पक विज्ञान (जो प्रत्ययमात्रै) को बुद्धि नामजाति आदि विकल्पों से युक्त कर वाह्य वस्तु के रुप में प्रक्षिप्त करती है और विज्ञान की अविसंवादकता, विज्ञान के कारण घटपदादि के सारुप्य के आधार पर निश्चय करती है। यह सब विज्ञान क्षण पश्चात् बुद्धि की विकल्पात्मक क्रिया है। विकल्पात्मक परिधि में प्रत्यक्ष सविकल्पक होने से शुद्ध प्रत्यक्ष नहीं रह जाता है। शुद्ध प्रत्यक्ष तो प्रत्यक्ष की प्रक्रिया में विज्ञानात्मक केन्द्र तक सीमित है। इस विज्ञानात्मक केन्द्र में भ्रम –विभ्रम के लिए कोई स्थान नहीं है। भ्रम और विभ्रम तो प्रत्यक्ष के विकल्पात्मक बौद्धिक क्षेत्र में स्पष्ट होते हैं। प्रत्यक्ष की असाधारण ग्राह्यता विज्ञानमात्र के भ्रान्त–अभ्रान्त का कोई प्रश्न ही नहीं बनाता है, क्योंकि इस स्थल में ग्राह्य- ग्राहक, विषर्य–विषयी, भ्रान्त-अभ्रान्त का कोई विग्रह ही संभव नहीं है। इसलिए दिङ्नाग ने प्रत्यक्ष–लक्षण में कल्पनापोढता (जिसे स्वसंवेद्यता से विज्ञानरुप सिद्ध किया गया है) के अतिरिक्त अभ्रान्त पद का निवेश अनावश्यक एव असंगत समझा। अतः दिङ्नाग का लक्षण मूलतः विज्ञानवादी है। प्रत्यक्ष लक्षण में अभ्रान्त पद का निवेश करने पर उसे वस्तुवाद का आग्रही होने से नहीं बचाया जा सकता है। दिङ्नाग बौद्ध दर्शन के आद्यान्त अवस्तुवादी एवं अपनी विज्ञानवादी प्रवृत्ति को सुरक्षित रखने में सफल रहे हैं।

धर्मकीर्ति दिङ्नाग के शिष्य होते हूए भी प्रत्यक्ष का लक्षण उसके विज्ञानात्मक केन्द्र का अतिक्रमण करके व्यवसायात्मिकम् बुद्धि के क्षेत्र में जाकर करते हैं। ऐसा करके वे प्रत्यक्ष की ग्राह्यता विज्ञान और प्रत्यक्ष की प्रापकता–घटपटादि वाह्य वस्तु (जो बुद्धिरचित हैं) के भेद पर निर्मित बौद्ध प्रमाण मीमासा को विवादास्पद बना देते हैं, क्योंकि प्रत्यक्ष के उस केन्द्र में कोष्ठीकृत होकर जहाँ प्रत्यक्ष की भ्रान्तता और अभ्रान्तता का परिच्छेदन हो गया है, वहाँ बौद्ध प्रमाणमीमांसीय

गति के अनुसार बुद्धि की विकल्पात्मक क्रिया सम्पूर्ण प्रत्यक्ष को विकल्पावृत्त कर चुकी होती है, तब प्रत्यक्ष को कल्पनापोढ रुप से लक्षित करना संभव नहीं होगा। इस प्रकार प्रत्यक्ष के लक्षण में कल्पनापोढता और अभ्रान्तता विरुद्ध पद होंगे। फिर प्रत्यक्ष के इस बौद्धिक पक्ष में स्वलक्षण को प्रत्यक्ष के विषय के रुप में भी निर्देशित कर पाना संभव नहीं होगा, क्योंकि प्रत्यक्ष के इस बौद्धिक केन्द्र से स्वलक्षण का विकल्पात्मक ग्रहण ही होगा और उसे परमार्थ सत् मानना पडेगा।

वस्तुतः जहाँ दिङ्नाग यह मानते हैं कि प्रत्यक्ष की परिभाषा में केवल "कल्पनापोढम्" पद के प्रयोग से ही सत्य को सभी प्रकार की भ्रान्तियों से मुक्त रखा जा सकता है, वहॉ धर्मकीर्ति यह मानते है कि सत्य को सभी प्रकार की भ्रान्तियों से मुक्त रखने के लिए प्रत्यक्ष की परिभाषा में "कल्पनापोढम्" पद के साथ ही "अभ्रान्त" शब्द का समावेश आवश्यक है। इसमे कोई सन्देह नही है कि उक्त दृष्टिकोण से " प्रत्यक्षं कल्पनापोढमऽभ्रान्तम्" के रुप में प्रत्यक्ष की परिभाषा और अधिक स्पष्टता और प्रखरता को प्राप्त कर लेती है। लेकिन ऐसा कर धर्मकीर्ति नैयायिको के लोक़ सामान्य पर आधारित वस्तुवाद का विरोध तो कर देते हैं, लेकिन इससे न तो शुद्ध वस्तुवाद का विरोध हो पाता है और न यह परिभाषा आत्मविरोध के दोष से ही मुक्त हो पाती है।

बौद्धों के प्रत्यक्ष लक्षण की अन्य दार्शनिकों ने भी आलोचना की है। **मीमांसकों** ने कहा है कि इन्द्रिय ज्ञान के द्वारा जाति आदि की योजना सहित पदार्थ का जो सविकल्पक प्रत्यक्ष होता है, उसका निराकरण नहीं किया जा सकता, क्योंकि यह अनुभवसिद्ध है कि जाति, गुण आदि की प्रतीति द्रव्य से अलग नहीं हो सकती है। जब प्रतीति होती है, तब द्रव्य के साथ ही होती है। केवल इन्हीं की अलग से प्रतीति हो, ऐसा व्यवहार में नहीं देखा जाता। वस्तु का जो लक्षण किया जाता है वह व्यवहार के लिए ही किया जाता है। इसलिए सविकल्पात्मक प्रत्यक्ष जो कि जाति गुण आदि की योजना के साथ होता है, उसका निराकरण नहीं किया जा सकता–

"एतत् अनुपपन्नं सविकल्पक विज्ञानानां जात्यादियोजना उदीयमानानाम्, इन्द्रियज्ञानानां प्रत्यक्षतयाकरणात्। यथोच्यते जाति गुणयोद्रव्यात् पृथक्त्वेन अग्रहणात् भेद एवं नास्ति।"

नाम आदि की योजना को भी असंगत मानना ठीक नहीं है, क्योंकि 'अयं देवदत्तः' यह ज्ञान प्रत्यक्षात्मक होता है, यह प्रतीति सिद्ध है– **"नामकल्पनापि देवदत्तो यमिति प्रत्यक्षम्, इन्द्रियव्यापारान् विद्याऽमित्वात्।"** इन्द्रियो से होने वाले ज्ञान में नाम योजना आवश्यक है। इसलिए नामयोजना के द्वारा उत्पन्न ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं होता है–यह मानने वालों का मत समीचीन नही है। रूप से रहित पदार्थ के विषय में रूपवान् –यह ज्ञान नहीं हो सकता। गुण की योजना, जाति की योजना, नाम की योजना प्रत्यक्ष ज्ञान में आवश्यक है। सभी प्रत्यक्षात्मक ज्ञानों से यह ज्ञात होता है कि यह वस्तु इस प्रकार की है। जब वस्तु के प्रकार का बोध होता है, तो यह कैसे माना जा सकता है कि उसका ज्ञान नाम, जाति, गुण आदि की योजना से रहित हो रहा है। उसमें नाम, जाति, गुण आदि की योजना स्वयंमेव हो जाती है। जाति और गुण सभी विषयों के विशेषण

है, इसलिए जाति, गुण से हीन प्रतीति नही हो सकती। सभी ऐन्द्रिक ज्ञान दोनो से युक्त होते है। अतः "कल्पनापोढ" यह विशेषण भी निरर्थक है।[32] इस प्रकार बौद्धों का प्रत्यक्ष लक्षण दूषित हो जाता है।

न्याय दर्शन में प्रत्यक्ष को भिन्न रूप में परिभाषित किया गया है। यह एक सामान्य तथ्य है कि प्रत्येक इन्द्रिय का आपना अलग-अलग विषय होता है और उसी विषय को वह इन्द्रिय ग्रहण करती है। जब इन्द्रियॉ क्रियाशील होकर अपने-अपने विषय को ग्रहण करती हैं और उसके अनन्तर जो ज्ञान होता है उसे प्रत्यक्ष कहते है। **"न्यायभाष्य"** में इसे इस तरह से कहा गया है– **"अक्षस्य प्रतिविषयम् वृत्तिः प्रत्यक्षम्।"** इसी सिद्वान्त को मानते हुए प्रत्यक्ष की एक सामान्य परिभाषा न्याय दर्शन में की गयी है जिसके अनुसार इन्द्रिय और विषय के सम्पर्क के उत्पन्न होने वाला ज्ञान प्रत्यक्ष है– **"इन्द्रियार्थ सन्निकर्षजन्यं ज्ञानं प्रत्यक्षम्।"** न्याय दर्शन के प्रणेता की अमर कृति **"न्यायसूत्र"** में इसी परिभाषा के अनुरूप प्रत्यक्ष की दूसरी परिभाषा दी गयी है जिसके अनुसार **"इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमत्यपदेश्यमव्यभिचारि– व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम्।"**[33] अर्थात इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न, अव्यपदेश्य अर्थात् अकथनीय या अशाब्द, अव्यभिचारी अर्थात् संशय-विपर्ययादि से रहित जो व्यवसायात्मक (निश्चयात्मक) ज्ञान है, वह प्रत्यक्ष है। स्पष्ट है कि यहॉ गौतम ने प्रत्यक्ष का जो लक्षण किया है, वह यथार्थ अनुभवरूप है। उन्होंने प्रत्यक्ष प्रमा और उसके करण का स्पष्ट प्रतिपादन नही किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि उन्हें प्रत्यक्ष ज्ञान से प्रत्यक्ष प्रमा और उसका करण दोनों अभीष्ट रहा हो। परन्तु परवर्ती नैयायिकों ने प्रत्यक्ष की परिभाषा में प्रत्यक्ष प्रमा और उसके करणत्व का स्पष्ट उल्लेख किया है। **उनके अनुसार इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न तथा यथार्थ ज्ञान को प्रत्यक्ष-ज्ञान तथा उसके करण को प्रत्यक्ष प्रमाण कहते हैं।**

प्रत्यक्ष लक्षण प्रतिपादक उपर्युक्त सूत्र में आये हुए शब्दों की व्याख्या को लेकर नैयायिकों में मतभेद है। **"अव्यपदेश्य"** पद की व्याख्या करते हुए **वात्स्यायन** ने लिखा है कि प्रत्यक्षीकृत वस्तु को नाम से अभिहित करने में उसकी शुद्व प्रत्यक्षता नष्ट हो जाती है और वह शब्द ज्ञान हो जाता है। इसलिए प्रत्यक्ष के लक्षण में "अव्यपदेश्य" विशेषण दिया गया है। **"अव्यपदेश्य"** (शब्दों में न प्रकट कर सकने लायक) पद के द्वारा प्रत्यक्ष प्रमाण का शब्द प्रमाण से भेद किया गया है: –**"नामधेयशब्देन व्यपदेश्यमानं सत् शाब्दं प्रसज्यते, अत आह अव्यपदेश्यमिति।"**[34]

इस सन्दर्भ में **उद्योतकर** वात्स्यायन से अपनी असहमति व्यक्त करते हुए कहते हैं शब्द प्रमाण से प्रत्यक्ष की भिन्नता तो प्रत्यक्ष की परिभाषा में परिगणित दूसरे लक्षण "इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं" से स्पष्ट हो जाती है। दूसरी बात यह है कि यदि "अव्यपदेश्य" का अर्थ "शब्दों में न व्यक्त किया जा सकने वाला" लिया जाय और इसी आधार पर यह कहा जाय कि शब्द प्रमाण से अंतर के लिए ऐसा किया गया है तो यह उचित नहीं है, क्योंकि शब्दवाच्यतामात्र से कोई ज्ञान प्रत्यक्षेतर नहीं हो जाता और यदि प्रतीति स्वयं ही भ्रान्ति हो तो उसके परिहार के लिए सूत्र में प्रयुक्त "अभिच्यारि" शब्द ही पर्याप्त हैं। अतः यह कहना अनुचित है कि प्रत्यक्ष की

परिभाषा को शब्द प्रमाण से अलग करने के लिए "अव्यपदेश्य" पद का प्रयोग किया गया है।

उत्तरवर्ती नैयायिक **अन्नंभट्ट** तथा **विश्वनाथ** ने भी प्रत्यक्ष की परिभाषा में से "अव्यपदेश्य" शब्द को छोड दिया है। इनके अनुसार शब्द ज्ञान के प्रति श्रोतेन्द्रिय और शब्द का सान्निकर्ष कारण नही है। अतः शब्द प्रमाण में प्रत्यक्ष प्रमाण के लक्षण की 'अतिव्याप्ति' का प्रश्न ही नहीं उठता। ऐसी स्थिति में उसके परिहार के लिए "अव्यपदेश्य" विशेषण अनावश्यक है।

परिभाषा में **"अव्यभिचारि"** पद के प्रयोग को लेकर व्याख्याकारों में कोई विशेष मतभेद नहीं दिखाई देता है। प्रायः सभी न्यायचार्य, वात्स्यायन के इस मत को मानते हैं कि गौतम ने प्रत्यक्ष की परिभाषा में "अव्यभिचारि" पद का समावेश इसलिए किया है ताकि "भ्रान्ति" में प्रत्यक्ष लक्षण की 'अतिव्याप्ति' न हो जाए।

लेकिन परिभाषा में **"व्यसायात्मक"** पद के प्रयोग के बारे में व्याखकारों में मतभेद है। **वात्स्यायन** के अनुसार संशय को प्रत्यक्ष के क्षेत्र से बहिष्कृत करने के लिए प्रत्यक्ष के लक्षण में "व्यवासात्मक" शब्द का प्रयोग किया गया है। किन्तु **वाचस्पति मिश्र** का कहना है कि "व्यवसायात्मक" शब्द से गौतम ने सविकल्पक प्रत्यक्ष का उल्लेख किया है, क्योंकि संशय का निवारण तो **"अभिव्यभिचारी" पद से ही हो जाता है**। लेकिन जयन्त भट्ट संशय और भ्रम को दो अलग–अलग वस्तुएँ मानते हैं। इसिलए उनके अनुसार भ्रम की व्यावृत्ति के लिए "अव्यभिचारी" तथा संशय की व्यावृत्ति के लिए "व्यवसायात्मक" शब्द का प्रयोग किया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि गौतम द्वारा निर्धारित प्रत्यक्ष की परिभाषा में प्रयुक्त विशेषणों के अर्थ को लेकर नैयायिकों में मतभेद है, किन्तु नव्य न्याय के सभी पूर्ववर्ती आचार्य गौतम के इस विचार से सहमत है कि "प्रत्यक्ष इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न अव्यपदेश्य, अव्यभिचारी और व्यवसायात्मक ज्ञान है।"

प्रत्यक्ष की उपर्युक्त परिभाषा से यह सिद्ध होता हैं कि प्रत्यक्ष ज्ञान के लिए इन्द्रिय और विषय दोनों की स्थिति आवयश्यक है। किन्तु दोनों के रहने पर भी तब तक ज्ञान नहीं हो सकता, जब तक इन्द्रिय और विषय का आपस में सम्बन्ध स्थापित न हो। इन्द्रिय और विषय के सम्पर्क से ही प्रत्यक्ष ज्ञान की उत्पत्ति होती है। जैसे– हम घड़े को देखते हैं और देखकर यह व्यवहार करते हैं कि मैं घड़े को जानता हूं। यह घट का ज्ञान तब तक नहीं होता जब तक कि घटरूप विषय के साथ नेत्रेन्द्रिय का सम्बन्ध नहीं होता। सम्बन्ध होने के बाद घट का ज्ञान होता है और यही प्रत्यक्ष ज्ञान कहलाता है। इसी प्रत्यक्ष को प्रमाण माना जाता है, क्योंकि प्रमा के तीन लक्षण–अनुभव, असदिग्धत्व और यथार्थत्व–इसमें घटित होते है।

प्रत्यक्ष ज्ञान के लिए केवल इन्द्रिय और विषय का सम्बन्ध होना ही महत्वपूर्ण नहीं है और न केवल इन्द्रिय और विषय के सम्बन्ध से ही प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, बल्कि उसके लिए मन, आत्मा आदि का सम्बन्ध भी अपेक्षित है। इसलिए माना जाता है कि आत्मा से मन का सम्बन्ध होता है, मन का इन्द्रिय से सम्बन्ध होता है और इन्द्रिय का विषय से जब तक मन का इन्द्रिय के साथ

सम्बन्ध नही होता, तब प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। इसलिए यह अनुभूति सत्य है कि जब हमारा मन कही दूसरी जगह रहता है तब हम सामने रखी वस्तु को भी नही देख सकते और उसके बारे मे सुनते हुए भी नहीं सुन पाते। तात्पर्य यह है कि हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ कोई भी काम इस स्थिति मे सफलता पूर्वक नही कर पातीं। इसके अतिरिक्त न्याय दर्शन यह भी मानता है कि केवल इन्द्रिय और मन का सम्बन्ध होना भी प्रत्यक्ष का मूल कारण नहीं है, अपितु प्रत्यक्ष के लिए मन का आत्मा के साथ सम्बन्ध होना भी आवश्यक है, क्योंकि ज्ञान को प्राप्त करने वाला तथा ज्ञान का आधार आत्मा ही है। न्याय दर्शन आत्मा को ही ज्ञान का अधिकरण या आश्रय मानता है। ज्ञान समवाय सम्बन्ध से आत्मा में ही रहता है और आत्मा ज्ञान का आश्रय है। इसलिए प्रत्यक्ष ज्ञान हेतु मन का आत्मा के साथ सम्बनध होना आवश्यक है।

प्राचीन न्याय द्वारा प्रतिस्थापित प्रत्यक्ष–लक्षण की इस परिभाषा को सामान्य रूप से स्वीकार कर लिया गया है, किन्तु नव्य न्याय के जनक आचार्य गंगेश उपाध्याय, अद्वैत वेदान्ती तथा कुछ अन्य दार्शनिको ने इस प्रत्यक्ष लक्षण का खण्डन किया है। इस लक्षण में मुख्यत. तीन दोष बताये जाते हैं''–अतिव्याप्ति, अव्याप्ति तथा अन्योन्याश्रय।

अतिव्याप्ति दोष इस लक्षण में इसलिए है कि न्याय सहित प्राय अधिकांश भारतीय दार्शनिकों ने मन को पृथक् इन्द्रिय स्वीकार किया है। इस प्रकार कुल इन्द्रियाँ छः हो जाती है। प्रत्यक्ष ज्ञान मे जब वस्तु के साथ इन्द्रिय का सम्बन्ध होता है, तो उसी समय उसके साथ मन का सम्बन्ध होना भी अनिवार्य है, इस बात को न्याय दर्शन स्वीकार करता है, क्योंकि बिना मन के साथ सम्बन्ध हुए विषय का स्पष्ट ज्ञान नहीं हो सकता। न्याय दर्शन के अनुसार मन का विषय के साथ सम्बन्ध होना केवल प्रत्यक्ष में ही अनिवार्य नहीं है, अपितु अनुमानादि मे भी आवश्यक है। अतः मन के साथ यदि वस्तु का सम्बन्ध प्रत्यक्ष है, तो वस्तु के साथ मन का सम्बन्ध तो अनुमान में भी होता है, अतः यह प्रत्यक्ष लक्षण अनुमान में भी चला जायेगा। इसलिए लक्षण अव्यािप्ति दोष से दूषित होने के कारण हेय है।

प्रत्यक्ष के लक्षण में दूसरा दोष **अव्याप्ति** है। न्याय के अनुसार प्रत्यक्ष ज्ञान के लिए इन्द्रिय और विषय का सम्बन्ध **आवश्यक** है। लेकिन न्याय दर्शन का यह भी मत है कि ईश्वर को प्रत्यक्ष ज्ञान बिना किसी इन्द्रिय के होता है। अतः ईश्वरीय ज्ञान मे ईश्वर के इन्द्रिय न होने के कारण उसका विषय से सम्बन्ध कैसे बनेगा और बिना सम्बन्ध के कैसे प्रत्यक्ष होगा? अतः या तो इस लक्षण के अनुसार ईश्वर को प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होना चाहिए और यदि ईश्वर को ज्ञान होता है तो यह लक्षण ठीक नहीं माना जाना चाहिए। इसलिए इस परिभाषा को उचित नहीं माना जा सकता।

इस लक्षण में तीसरा दोष **अन्योन्याश्रय** है, क्योंकि इस लक्षण में इन्द्रिय और वस्तु के सम्बन्ध को प्रत्यक्ष माना गया है। इस विषय में जब यह प्रश्न उठता है कि इन्द्रिय किसे कहते हैं तो न्याय दर्शन कहता है कि जिसके द्वारा प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, उसे इन्द्रिय कहते हैं। प्रत्यक्ष

किसे कहते हैं? इसके उत्तर मे नैयायिकों का कहना है कि प्रत्यक्ष वह है जो इन्द्रियों के द्वारा होता है। इस प्रकार नैयायिको के अनुसार प्रत्यक्ष ज्ञान के लिए इन्द्रिय आवश्यक है और इन्द्रिय सिद्धि के लिए प्रत्यक्ष आवश्यक है। इसलिए इसमे अन्योन्याश्रय दोष है।

बौद्ध नैयायिक दिङ्.नाग प्रत्यक्ष की न्याय-परिभाषा का खण्डन करते हुए कहते हैं कि उक्त परिभाषा मे दिये गये लक्षण परस्पर व्याघातक है। यदि इन्द्रिय और अर्थ से उत्पन्न प्रत्यक्ष ज्ञान निश्चयात्मक है, तो फिर प्रत्यक्ष के लक्षण में "अव्यपदेश्य" पद को नहीं सम्मिलित किया जाना चाहिए, क्योंकि जो निश्चयात्मक है, उसे अवश्य ही व्यक्त किया जा सकता है। इसलिए प्रत्यक्ष के लक्षण में "अव्यपदेश्य" पद निरर्थक है। प्राभाकर मतानुयायी **शालिकनाथ मिश्र** ने उपरोक्त प्रत्यक्ष लक्षण में प्रयुक्त "अव्यपदेश्य" पद की सार्थकता को तो अंगीकृत किया है, किन्तु वे "अव्यभिचारी" और "व्यवयात्मक" विशेषण को मान्यता नहीं देते हैं, क्योंकि उनके मत में विपर्यय एवं सशय नामक कोई ज्ञान होता ही नही है। अतः उसकी व्यावृत्ति के लिए किसी भी विशेषण की आवश्यकता नहीं है।[35] किन्तु **प्राभाकर मीमांसकों** का यह आक्षेप उचित नहीं प्रतीत होता है, क्योंकि व्यवहार में संशय और विपर्यय की प्रतीति सभी को होती है। लेकिन इसके अतिरिक्त अन्य सभी आरोप न्याय के उपर्युक्त लक्षण पर पूर्णतः लागू होते हैं।

प्रत्यक्ष प्रमाण की उपर्युक्त परिभाषा सम्बन्धी दोषों से बचने के लिए नव्य नैयायिकों ने प्रत्यक्ष की नवीन परिभाषा दी है। उनके अनुसार इन्द्रिय-वस्तु सम्पर्क प्रत्यक्ष का सामान्य लक्षण नहीं है, बल्कि साक्षात् प्रतीति प्रत्यक्ष का सामान्य लक्षण है। नव्य न्याय के जनक **गंगेश** के शब्द हैं– **"प्रत्यक्षस्य साक्षात्कारित्वं लक्षणम्।"**[36] यह साक्षात्कारित्व इन्द्रिय, अर्थ व मनसादि के सन्निकर्ष से उत्पन्न होता है। उनका मत है कि जब कोई पदार्थ हमारे सामने आता है, तो हमको बिना किसी व्यवधान के उसका ज्ञान होता है, उस पदार्थ विशेष के ज्ञान के लिए हमको किसी अन्य प्रमाण की आवश्यकता नहीं होती है। अतः पदार्थ की साक्षात् प्रतीति को ही प्रत्यक्ष प्रमाण का लक्षण मानना उचित होगा। इस परिभाषा को मान लेने से सुख दुःखादि मानसिक अनुभूतियों, योगि प्रत्यक्ष एवं ईश्वरीय प्रत्यक्ष की भी व्याख्या हो जाती है। अतः यह परिभाषा प्राचीन न्याय की तुलना में अधिक सन्तोषजनक है, क्योंकि इसके माध्यम से लौकिक एवं अलौकिक मानवीय तथा ईश्वरीय सभी प्रत्यक्षो की व्याख्या हो जाती है। इसी आधार पर उत्तरवर्ती आचार्यो ने प्रत्यक्ष प्रमाण का लक्षण "साक्षात्कारी प्रमा का करण" किया है और साक्षात्कारी प्रमा को **इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्य** बताया **है–"साक्षात्कारिप्रमाकरणं प्रत्यक्षम्।"**[37] न्यायसिद्धान्तमञ्जरीकार ने भी साक्षात्काररूप प्रमा के करण को प्रत्यक्ष कहा **है– "साक्षात्कारप्रमाकरणं प्रत्यक्षम्।"**[38]

गंगेश उपाध्याय ने इसके अतिरिक्त प्रत्यक्ष की एक अन्य परिभाषा निश्चित की है। उनका कहना है कि प्रत्यक्ष प्रमाण के अतिरिक्त जितने भी प्रमाण हैं, उनमें साक्षात् प्रतीति न होकर कुछ न कुछ व्यवधान के साथ प्रतीति होती है। अर्थात उनके लिए अन्य ज्ञानों की आवश्यकता होती है। जैसे, अनुमान जन्य ज्ञान के पूर्व व्याप्ति का ज्ञान आवश्यक होता है,

उपमिति के पूर्व सादृश्य-ज्ञान आवश्यक है, शाब्द-ज्ञान के पूर्व पद का ज्ञान आवश्यक है और स्मृति के पूर्व अनुभव आवश्यक है। किन्तु प्रत्यक्ष ही ऐसा प्रमाण है जिसमें किसी अन्य प्रमाण की आवश्यकता नही पडती। दूसरे शब्दो मे, प्रत्यक्ष ज्ञान की उत्पत्ति का कारण कोई अन्य ज्ञान नही है। इसीलिए गगेश ने "साक्षात्कारित्व" के अतिरिक्त प्रत्यक्ष की एक दूसरी परिभाषा देते हुए कहा कि प्रत्यक्ष वह ज्ञान है जो बिना किसी माध्यम के होता है या जिसका कारण कोई अन्य ज्ञान नहीं है–**"ज्ञानाकारणकं ज्ञानं प्रत्यक्षम्।" विश्वनाथ पंचानन** ने भी उसी मत का समर्थन करते हुए लिखा है कि–**"ज्ञानाकरणं ज्ञानं प्रत्यक्षम्।"**[39]

लेकिन विश्वनाथ समर्थित **गंगेश** कृत प्रत्यक्ष की द्वितीय परिभाषा "ज्ञानाकारणक ज्ञान प्रत्यक्षम्" निर्दोष नही प्रतीत होती है, क्योंकि सविकल्पक प्रत्यक्ष (ज्ञान) मे यह लक्षण **'अव्याप्त'** है। अत. "ज्ञानाकारणकं ज्ञानं प्रत्यक्षं" के रूप में प्रत्यक्ष का लक्षण सदोष हो जाता है। दूसरी बात यह है कि ज्ञानाकरणक ज्ञानत्वरूप प्रत्यक्ष का लक्षण केवल तभी माना जा सकता है जब हम मन को अंतरिन्द्रिय के रूप में स्वीकार कर ले। अर्थात् हम यह मान लें कि प्रत्यक्ष में हमें किसी ऐसे विषय की साक्षात् प्रतीति होता हैं जिसमें मन का सयोग रहता है। किन्तु जो दार्शनिक मन को अंतरिन्द्रय नहीं मानते, जैसे कुछ अद्वैत वेदान्ती, उनके लिए प्रत्यक्ष की यह परिभाषा सन्तोषजनक नहीं रह पाती। वे तो ऐसी साक्षात् प्रतीति को प्रत्यक्ष मानेंगे जिसमें मन का संयोग नहीं होता। अतः कुछ शर्तो के साथ साक्षात्कारित्व ज्ञान को प्रत्यक्ष का लक्षण माना जा सकता है।

वैशेषिक दर्शन में प्रत्यक्ष का जो लक्षण निर्धारित किया गया है, वह बहुत कुछ प्राचीन न्याय के समान है। **प्रशस्तपाद** ने प्रत्यक्ष शब्द की जो व्युत्पत्ति दी है, उसके अनुसार प्रत्यक्ष शब्द ज्ञान सामान्य का वाचक है–चाहे वह यथार्थ (प्रमा) हो या अयथार्थ (अप्रमा)–**"तत्राक्षम् अक्षं प्रतीत्योत्पद्यते, इति प्रत्यक्षम्।"**[40] प्रशस्तपाद के अनुसार प्रत्यक्ष वह ज्ञान है जिसमें वस्तु का सामान्य और विशेष के आगमन से रहित आलोचनमात्र होता है– **"सामान्यविशेष ज्ञानोत्पत्तौ अविभक्तम् आलोचनमात्रं प्रत्यक्षम्।"**[41] "प्रशस्तपादभाष्य " में प्रत्यक्ष की एक वैकल्पिक परिभाषा यह भी दी गई है कि आत्मा, मन, इन्द्रिय और वस्तुओ के सन्निकर्ष से उत्पन्न निर्दोष तथा शब्द द्वारा अकथनीय ज्ञान प्रत्यक्ष है–**"अथवा सर्वेषु पदार्थेषु चतुष्टयसन्निकर्षाद् अवितथम् अव्यपदेश्यं यद् ज्ञानं उत्पद्यते तत् प्रत्यक्षम्।"**[42]

प्रत्यक्ष के उपर्युक्त लक्षण में "अव्यपदेश्य" पद के सन्निवेश के औचित्य की व्याख्या करते हुए प्रशस्तपाद ने कहा है कि सन्निहित पदार्थ में चक्षुरिन्द्रिय के व्यापार के पश्चात 'गौ' है– ऐसा शब्द सुनकर 'गौ' का जो ज्ञान होता है, उसमें इन्द्रिय की भी कारण है, किन्तु वह प्रत्यक्ष नही है, क्योंकि उस ज्ञान मे शब्द ही अतिशय साधक है, इन्द्रिय तो केवल सहायक मात्र है। अतः प्रत्यक्ष के क्षेत्र से ऐसे ज्ञान की व्यावृत्ति के लिए लक्षण में "अव्यपदेश्यं" पद का सन्निवेश किया गया है।

सांख्य दर्शन में प्रत्यक्ष की परिभाषा से सम्बन्धित तीन परम्पराएँ दृष्टिगोचर होती है

जिनका प्रतिनिधित्व करने का श्रेय क्रमशः महर्षि कपिल, विन्ध्यवासिन और ईश्वरकृष्ण को है। **सांख्यकार कपिल** के अनुसार प्रत्यक्ष वह प्रमाण है जो वस्तुओं के साथ इन्द्रियों का सम्बन्ध होने पर उनके आकार का ज्ञान कराता है– **"यत् सम्बन्धं सत् तदाकारोल्लेखि विज्ञानं तत् प्रत्यक्षम्।"** विन्धयवासिन ने प्रत्यक्ष को **"श्रोतादिवृत्तिरविकल्पिका"** के रूप में परिभाषित किया है। उनके मत की व्याख्या करते हुए **गुणरत्न** ने कहा है कि अपने-अपने विषयों के सम्पर्क मे आने पर ज्ञानेन्द्रियॉ विषयो का रूप धारण कर लेती है। **ईश्वरकृष्ण** ने प्रत्यक्ष को **"प्रतिविषयाध्यवसाय"** के रूप में परिभाषित किया है। उनके अनुसार इन्दियों का विषय के साथ सम्पर्क होने पर उत्पन्न ज्ञान प्रत्यक्ष (अध्यवसाय) है। **वाचस्पति मिश्र** ने "अध्यवसाय" को निश्चायक ज्ञान का पर्याय माना है।

साख्य दर्शन में प्रत्यक्ष की प्रक्रिया न्याय-वैशेषिक की प्रक्रिया से भिन्न है। सांख्य के मत में इन्द्रियों के माध्यम से बुद्धि का संस्कार प्रत्यक्ष का कारण है, न कि इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष, जैसा कि न्याय-वैशेषिक में माना गया है। साख्य में दो प्रकार के करण माने गये हैं– अन्तः करण और बाह्यकरण। बुद्धि अहकार और मन ये तीन अंतः करण है। प्रत्यक्ष ज्ञान कराने में ये द्वारि (प्रधान) हैं और बाह्यकरण अर्थात् पंच ज्ञानेन्द्रियाँ द्वार अर्थात् सहकारी कारण हैं। अन्तःकरणों की सहायता से बुद्धि ही प्रत्यक्षयोग्य सभी विषयों का ज्ञान प्राप्त करती है। यह कार्य जड़ बुद्धि पुरूष के चैतन्य से प्रतिविम्बित होने के बाद ही करती है।

योग दर्शन मे प्रत्यक्ष प्रमाण के विषय में अलग से कुछ विशेष नहीं कहा गया है। इस सम्बन्ध में उसे सांख्य पूरक कहा जा सकता है। **दोनों में प्रमुख अंतर यह है कि सांख्य के प्रतिबिम्बवाद के स्थान पर योग दर्शन में पारस्परिक प्रतिबिम्बवाद का आश्रय लिया गया है। वाचस्पति मिश्र** के अनुसार जब विषयाकारक बुद्धि पर पुरूष के चैतन्य का प्रतिबिम्ब पड़ता है, तब बुद्धि की अचेतन बुद्धि उद्भासित हो उठती है और वह प्रकाशित होकर प्रत्यक्ष ज्ञान के रूप में परिणत हो जाती है। यही **प्रतिबिम्बवाद** है। **विज्ञानभिक्षु** इसका खण्डन करते हैं[43] और **पारस्परिक प्रतिबिम्बवाद** का प्रतिपादन करते हैं।[44] इनके अनुसार केवल पुरूष का चैतन्य ही बुद्धि में प्रतिबिम्बित नहीं होता, बल्कि बुद्धि भी अपने अर्थाकाररूप से पुरूष में प्रतिबिम्बित होती है। पुरूष में प्रतिम्बित होने वाला ज्ञान ही प्रत्यक्ष प्रमाण है।

वस्तुतः, विज्ञानभिक्षु आत्मा में बुद्धि का प्रतिबिम्बित होना इसलिए मानते है कि इससे आत्मा के सुखदःखादि अनुभव की व्याख्या हो जाती है, अन्यथा शुद्ध चैतन्यरूप आत्मा को जो सभी विकारों से रहित है, सुख दुःख का अनुभव नही हो सकता। पारस्परिक प्रतिबिम्बवाद को न मानने से ये अनुभव केवल बुद्धि को ही हो सकते हैं, पुरूष को नहीं। अतः पुरूषों के प्रत्यक्षसिद्ध सुखदुःखादि अनुभवों के उपपादन के लिए पारस्परिक प्रतिबिम्बवाद का आश्रय लिया गया है। "योगसूत्र" को **"वेदव्यासी"** टीका में भी इसी मत का समर्थन किया गया है।[45]

पूर्वमीमांसा दर्शन का उद्देश्य प्रमाण विवेचन के स्थान पर धर्म या वेदार्थ विचार करना

है। सूत्रकार जैमिनि का उद्देश्य केवल यह बताना था कि धर्म का ज्ञान केवल वेद से होता है प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाणो से नही, फिर भी "मीमासासूत्र" मे उन्होने प्रत्यक्ष का उल्लेख इसलिए किया जिससे धर्म के ज्ञापन में प्रत्यक्ष की अप्रामाणिकता को सिद्ध किया जा सके। उनके अनुसार इन्द्रियो के अर्थ के साथ सम्बन्ध होने पर पुरूष में जो बुद्धि (ज्ञान) की उत्पत्ति होती है, उसे प्रत्यक्ष कहते हैं। यह प्रत्यक्ष विद्यमान वस्तु का ज्ञान कराने वाला होने से धर्म के ज्ञान में निमित्त नही हो सकता–**"सत् सम्प्रयोगे पुरूषस्येन्द्रियाणां बुद्धिजन्य तत्प्रत्यक्षम् अनिमित्तं विद्यमानोपलम्भनत्वात्।"**[46] भाष्यकार **शबर स्वामी** भी सूत्रकार का समर्थन करते हुए कहते हैं कि चूँकि प्रत्यक्ष सत् अर्थात् विद्यमान (वर्तमान कालिक) विषय का ज्ञान कराने वाला है, अविद्यमान (असत्) विषय का नहीं, इसलिए प्रत्यक्ष से भविष्य विषयक धर्म का ज्ञान नहीं हो सकता। **वृत्तिकार उपवर्ष** प्रभृति कुछ आचार्यो का कहना है कि प्रत्यक्ष की शुद्ध परिभाषा के लिए "जैमिनि सूत्र" मे समाविष्ट शब्दों के क्रम में परिवर्तन करके इस रूप में पढ़ने की आवश्यकता है– **"तत् सम्प्रयोगे पुरूषस्य इन्द्रियाणां बुद्धिजन्य तत् प्रत्यक्षम।"** इस प्रकार परिभाषा में "तत्" और "सत्" का स्थानान्तरण कर देने से प्रत्यक्ष की शुद्ध परिभाषा प्राप्त हो जाती हैं, जिसके अनुसार **"किसी व्यक्ति की ज्ञानेन्द्रियों का केवल उस वस्तु के सम्पर्क से उत्पन्न ज्ञान ही प्रत्यक्ष है, जिसका वह प्रत्यक्षण करता है।"**

कुमारिल भट्ट के अनुसार "ज्ञानेन्द्रियों का अपने सत् (वास्तविक रूप में विद्यमान) विषयों के साथ सम्यक् सम्बन्ध होने से जो ज्ञान उत्पन्न होता है, वह प्रत्यक्ष है।" कुमारिल भट्ट के अनुसार "जैमिनिसूत्र" में "सत्" शब्द का प्रयोग धर्म के ज्ञान में प्रत्यक्ष की अप्रामाणिकता तथा योगज प्रत्यक्ष के निराकरण हेतु किया गया है–

"अविद्यमान संयोगात् प्रत्यक्षत्वानिराकृतिः।
योगिनां केन लभ्येत नेष्टं सद्ग्रहणं यदि।।"[47]

कुमारिल का यह भी कहना है कि प्रत्यक्ष ज्ञान मे सशय व भ्रम आदि का सन्निवेश रोकने के लिये "सत्सम्प्रयोगे" शब्द का प्रयोग किया गया है। यदि " सत्सप्रयोगे" शब्द के स्थान पर केवल "प्रयोग" शब्द का प्रयोग किया गया होता, तो यह लक्षण "शुक्तमिदं रजतम्" रूप भ्रान्ति क्षेत्र में व्याप्त करा देता। इसी को वारित करने के लिये परिभाषा में "सत्सम्प्रयोगे" शब्द का प्रयोग किया गया है–

"सम्यगर्थे च शब्दो दुष्प्रयोग निवारणः।
प्रयोग इन्द्रियाणां च व्यापारो येषु कथ्यते।।"[48]

प्राभाकर मीमांसकों का प्रत्यक्ष लक्षण **गंगेश उपाध्याय** से पर्याप्त साम्य रखता है। **प्रभाकर मिश्र** ने साक्षात् प्रतीति को प्रत्यक्ष माना है–**"साक्षात् प्रतीतिः प्रत्यक्षम्।"**[49] साक्षात् प्रतीति का अर्थ है– प्रमाता को अपने स्वयं के रूप में विषय (वस्तु) का साक्षात् ज्ञान। इनके अनुसार प्रत्यक्षज्ञान स्थल में विषय, आत्मा और ज्ञान तीनों का (त्रिपुटी) प्रत्यक्ष होता है। प्रत्यक्ष

का उपर्युक्त लक्षण अनुमान प्रमाणादि मे घटित नहीं हो सकता, क्योंकि अनुमानादि सभी ज्ञान–स्थलो मे आत्मा एवं ज्ञान का प्रत्यक्ष होता है। अनुमान स्थल में इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष होने पर विषय का अपने रूप मे ज्ञान अपने (स्व-अग्नि) द्वारा नहीं होता, वल्कि स्वतिरिक्त (अग्नि से अतिरिक्त) जो पर (दूसरा धूमादि लिग) है, उससे सम्बद्ध होकर ज्ञान होता है।[50] इसलिए अनुमिति की साक्षात् प्रतीति (ज्ञान) न होने के कारण उसे प्रत्यक्ष नही कहा जा सकता।

शालिकनाथ मिश्र भी प्रभाकर के प्रत्यक्ष लक्षण से सन्तुष्ट हैं। इनके अनुसार प्रतीति दो प्रकार की होती है– 1. परामर्श आदि कारणों से जानित और 2. उससे अजनित साक्षात् प्रतीति।

इनमे से **द्वितीय प्रकार** की प्रतीति ही प्रत्यक्ष है। इसे ही **नैयायिकों** ने "ज्ञानाकरणं ज्ञानम्" कहा है। प्रत्यक्ष की व्याख्या में इसी आशय से प्रभाकर ने प्रत्यक्ष को विषय के साक्षात् ज्ञान का स्वरूप बताया है।[51] "इदं रजतम्" इत्यादि भ्रम ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं माने जाते ("अन्यसंप्रयुक्ते चक्षुष्यन्यविषयं ज्ञानं च प्रत्यक्षमिति। कथं तर्हि विपर्ययः? अग्रहणादेव–इति वदामः"),[52] क्योंकि प्रमाण का सामान्य रूप अर्थात् अनुभूतित्व उसमें (भ्रम ज्ञान मे) प्राप्त नहीं है, अपितु "इदं" अंश में वह ज्ञान "प्रत्यक्ष" तथा "रजतांश" में "स्मरण" माना जाता है। इन दो ज्ञानों में "इदं" विषयक ज्ञान मे साक्षात्व तथा रजत ज्ञान मे स्मृतित्व मान्य है। मेय, माता और प्रमा– इन तीनों विषयों का ज्ञान प्रत्यक्ष मे होता है। आशय यह है कि "अयं घटः" इत्याकारक ज्ञान का पूर्ण स्वरूप है– "अयं घटः"–"घटमहं जानामि।" इस प्रकार के प्रत्यक्ष ज्ञान में तीन विषय प्रस्फुरित होते हैं–घट, घट ज्ञान और ज्ञान का आश्रय भूत आत्मा। यही प्रभाकर सम्मत **'त्रिपुटी'** है, जिसका मान (प्रकाश) प्रत्येक ज्ञान में होता है। इसका उल्लेख **शालिकनाथ मिश्र** ने प्रकरण पंञ्चिका में किया है।[53]

इस प्रकार सम्पूर्ण पूर्वमीमांसा दर्शन में प्रत्यक्ष का जो विवेचन किया गया है, उसके विश्लेषण से स्पष्ट होता है कि प्रत्यक्ष के लिये निम्नलिखित बातें आवश्यक हैं–

1. विषय की उपस्थिति,
2. इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष तथा
3. पुरूष (आत्मा) की उपस्थिति, जिसमें ज्ञान की उत्पत्ति होती है।

लेकिन **नैयायिकों** ने मीमांसकों की प्रत्यक्ष की परिभाषा की तीव्र आलोचना की है। नैयायिकों का कहना है कि "मीमांसा सूत्र" में प्रत्यक्ष की जो परिभाषा दी गयी है, वह उचित नहीं है, क्योंकि उसे मान लेने से संशय और विपर्यय भी प्रत्यक्ष के विषय बन जायेंगे, क्योंकि इन्द्रियार्थ सम्बन्ध (सत्संप्रयोग) उनमें भी होता है। इस सम्बन्ध में **कुमारिल भट्ट का यह तर्क भी ठीक नहीं है** कि "इन्द्रियों का विषयों के साथ सम्यक् (सम्) सम्बन्ध (प्रयोग) होने पर (सत्) जो ज्ञान होता है वह प्रत्यक्ष है और इस प्रकार 'संशय' और 'विपर्यय' जैसे असम्यक् सम्बन्ध स्वतः ही प्रत्यक्ष की परिधि से बाहर हो जाते है," क्योंकि इन्द्रिय-विषय-सम्बन्ध की सम्यग्ता का ज्ञान तो एक अतीन्द्रिय तत्त्व है। सम्यग्ता प्रत्यक्षगोचर नहीं हुआ करती। यदि उत्तरवर्ती प्रभाव के आधार

पर उसका अनुमान करने की बात कही जाय तो यह भी इस कारण अस्वीकार्य है कि सूत्र मे "सत्" शब्द ज्ञान के साथ विशेषण के रूप में प्रयुक्त नहीं हुआ है। यह कहना तो और भी हास्यास्पद होगा कि बोधब्य ज्ञान के साथ 'सत्' विशेषण को स्वयं ही जोड लेगे, क्योकि यदि बोधव्य इतने ज्ञानी हैं, तो उनको प्रत्यक्ष की परिभाषा समझाने की आवश्यकता ही क्या रह जाती है?

वृत्तिकार उपवर्ष का सुझाव भी अमान्य है, क्योकि उनके सुझाव को मान लेने पर भी सशय और विपर्यय पर भी लागू होने के कारण परिभाषा मे अतिव्याप्ति दोष का निवारण नही हो पाता। पुनश्च, मीमांसकों का यह कहना कि योगिक प्रत्यक्ष धर्म का ज्ञान कराने मे असमर्थ है, स्वयं उनके लिये बदतोव्याघात है, क्योंकि वे योगिक प्रत्यक्ष को कोरी कल्पना समझते हैं। अतः **नैयायिकों के अनुसार महर्षि जैमिनि के सूत्र में दी गयी प्रत्यक्ष** की परिभाषा "सत्सम्प्रयोगे पुरुषस्येन्द्रियाणां बुद्धिजन्य तत् प्रत्यक्षम्" ठीक नहीं है।

अद्वैत वेदान्त मे अन्य सभी दर्शनों द्वारा प्रतिपादित प्रत्यक्ष की परिभाषाओं के लक्षणों के प्रति सामूहिक अरूचि प्रदर्शित करते हुए यह कहा गया है कि प्रत्यक्ष-लक्षण की पूर्ण परिभाषा किसी के भी मत से नही बनती। प्रत्यक्ष की परिभाषा एवं व्यवहार के अनुसार प्रत्यक्ष प्रमाण से ज्ञात सभी वस्तुओं का ज्ञान पृथक-पृथक रूप से स्पष्ट होना चाहिए। प्रत्यक्ष के द्वारा व्यावहारिक जगत में दो प्रकार का ज्ञान होता है। **एक** तो यह कि "ज्ञान प्रत्यक्ष है"। जैसे, "घट विषयक ज्ञानवानहम्" अर्थात् मैं घट विषयक ज्ञानवान् हूँ और **दूसरा** यह कि "विषयः प्रत्यक्ष" जिसमें केवल घटादि विषयो का ही प्रत्यक्ष होता है। इन दोनों प्रक्रियाओं का निर्वाह किसी भी मत में नहीं हो पाता, इसलिये सभी का प्रत्यक्ष लक्षण अपूर्ण है। अद्वैत वेदान्त ने इन दोनों व्यवहारों को ध्यान में **रखकर प्रत्यक्ष प्रमाण के ज्ञानगत प्रत्यक्ष एवं विषयगत प्रत्यक्ष** दो भेद **किये हैं।**

प्रत्यक्ष के समय इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि वास्तव में प्रत्यक्ष किसका होता है? वेदान्त मत में प्रथम साक्षात्कार प्रकाश या चैतन्य का ही होता है और प्रकाश या चैतन्य के विशेषण के रूप में अन्य वस्तुओं का भान होता है। इसकी पुष्टि के लिये यह उदाहरण दिया जा सकता है कि घनान्धकार संयुक्त किसी कमरे में नानाविध वस्तुएँ हैं, किन्तु घनान्धकार के कारण कोई उनको देख नही सकता। यदि इस कमरे में कोई छिद्र कर दिया जाय या खिडकी खोल दी जाय अर्थात यदि किसी भी तरह उसमे प्रकाश जाने की व्यवस्था कर दी जाय, तो सबसे पहले उस कमरे में प्रकाश दिखाई पडेगा। प्रकाश के अनन्तर अन्य वस्तुएँ दिखाई पड़ेंगी। प्रकाश के **पूर्व कुछ भी नहीं दिखाई पड़ेगा। इससे यह सिद्ध होता है कि सर्व प्रथम प्रत्यक्ष प्रकाश का ही** होता है। प्रकाश विशेषणतया अन्त में अन्य वस्तुओं का ज्ञान होता है। इसी लिए उपनिषदों में कहा गया **है– "तमेव भान्तम् अनुभाति सर्वं, तस्य भासां सर्वमिदं विभाति।" इस** प्रकाश को ही अद्वैत वेदान्त स्वप्रकाश मानता है। अतः यही वास्तविक प्रत्यक्ष है। चूँकि अद्वैत वेदान्तानुसार प्रकाश या चैतन्य की प्रतीति साक्षात् रूप से ही होती है, इसलिए प्रत्यक्ष को **नव्य न्याय की तरह**

साक्षात्प्रतीतिरूप माना गया है– **"साक्षात् प्रतीतिः प्रत्यक्षम्।"** लेकिन मन के इन्द्रिय को लेकर उनमे मतभेद है। न्याय दर्शन मे मन को इन्द्रिय मानकर मानस प्रत्यक्ष सहित कुल छः प्रकार के प्रत्यक्ष माने गये है। लेकिन धर्मराजाध्वरीन्द्र ने मन के इन्द्रियत्व का निषेध करके पॉच ज्ञानेन्द्रियो से होने वाले पॉच प्रकार के ही प्रत्यक्ष-ज्ञान माने हैं।

लेकिन यहॉ प्रश्न यह यह है कि यदि "चैतन्य ही प्रत्यक्ष प्रमा है" तो इसका अर्थ यह है कि चैतन्य कारणरहित या उत्पत्तिरहित है। ऐसी स्थिति मे प्रत्यक्ष प्रमा रूप चैतन्य मे चक्षु. श्रोतादिरूप पंचज्ञानेन्द्रियों को प्रमाण (कारण) कैसे माना जा सकता है?

इसके उत्तर में वेदान्तपरिभाषाकार का कहना है कि **"चैतन्यस्यानादित्वेऽपि तदभिव्यञ्जकान्तः करणवृत्तिरिन्द्रियसन्निकर्षादिना जायते, इति वृत्तिविशिष्टं चैतन्यमादिमदित्युच्यते। ज्ञानावच्छेकत्वाच्च वृतौ ज्ञानत्वोपचारः।"**[54] अर्थात् साक्षात् ब्रह्मात्मभूत चैतन्य यद्यपि अनादि है, फिर भी उस नित्य चैतन्य को अभिव्यक्त करने वाली अन्त.करणवृत्ति, इन्द्रियसन्निकर्षादि निमित्त से उत्पन्न होती है। अन्तः करणवृत्ति में नित्य-चैतन्य का प्रतिविम्ब पडता है। इसी को वृत्तिविशिष्टचैतन्य (चिदाभाष) कहते है। अन्तःकरण की वृत्ति, इन्द्रिय-सन्निकर्षादि के कारण प्रतिक्षण उत्पन्न होती रहती है। अर्थात् वह स्वभावतः जन्य है। इस कारण इस जन्य वृत्ति से विशिष्ट (युक्त) चैतन्य को भी आदिमत् (उत्पन्न होने वाला) कह सकते हैं। इसलिए चक्षुरादि इन्द्रियों में उस जन्य चैतन्य के प्रति करणत्व प्रतीत होता है, जिससे उन्हें प्रमाण कहा जा सकता है।

वस्तुतः, वेदान्तपरिभाषाकार का तो यहाँ तक़ कहना है कि चक्षुरादि इन्द्रियों का अविशिष्ट (शुद्ध) चैतन्य के प्रति करण न बनना हमें इष्ट ही है, क्योंकि अविशिष्ट शुद्ध चैतन्य में स्वयं प्रकाशत्व होता है। इसलिए चैतन्यात्मा में प्रमाण व्यापार की अपेक्षा नहीं होती। अर्थात् स्वयंप्रकाश चैतन्यात्मा की सिद्धि में प्रमाण व्यापार की आवश्यकता नही पडती, परन्तु अप्रकाशित पदार्थ को प्रकाशित करने के लिये अन्तःकरण वृत्तिरूप प्रमाण की अपेक्षा रहती है।

प्रमादि को सामान्य से विशेष रूप देने वाले **प्रत्यक्षत्व के स्वरूप पर अद्वैत वेदान्त में दो दृष्टियों से विचार किया गया है**– ज्ञान (प्रमा) के विषय को ज्ञान के स्वरूप भेद का नियामक या ज्ञान में विशेषता लाने वाला मानते हुए तथा ज्ञान के उत्पादक करण को ही ज्ञान के स्वरूपभेद का नियामक या ज्ञान में विशेषता लाने वाला मानते हुए।

प्रश्न उठता है कि ये दो दृष्टियाँ क्यों बनीं? इसका रहस्य यही जान पडता है कि अद्वैत वेदान्त में प्रत्यक्ष पद चैतन्य अर्थ में रूढ़ है। यह भी अकारण नहीं है। न्याय दर्शन में चर्चित प्रत्यक्ष-लक्षण के निष्कृष्ट रूप "ज्ञानाकरणकं ज्ञानं प्रत्यक्षम्" (जिस ज्ञान के उत्पन्न होने में कोई दूसरा ज्ञान करण न बना हो) – में निहित धारणा (अन्य ज्ञान के अधीन न होना, स्वतन्त्र ज्ञान होना) की पराकाष्ठा स्वयंप्रकाशत्व की धारणा में होती है। अपनी उत्पत्ति तथा ज्ञाप्ति के लिये किसी अन्य प्रकाश की अपेक्षा न रखना[55] किसी का ज्ञेय या प्रकाश्य न होते हुए अपरोक्ष व्यवहार

के योग्य होना,[56] स्वय प्रकाशत्व है– ऐसा **चित्सुखाचार्य** ने **"तत्त्वप्रदीपिका"** मे तथा **मधुसूदन सरस्वती** ने **"अद्वैतसिद्ध"** में निरूपित किया है। **भामतीकार** के अनुसार स्वयं प्रकाशत्व ही चित्व है– **"स्वप्रकाशत्वं चित्त्वम्। अबाधितास्वयंप्रकाश.........।"** **श्रुति** में भी स्वयं प्रकाश चित्तत्व को पत्यक्ष पदार्थ कहा गया है– **"यत्साक्षाद्परोक्षाद् ब्रह्म।"**[57]

प्रत्येक ज्ञान, चाहे वह जन्य हो या नित्य, स्वयं प्रकाश होने के कारण प्रत्यक्ष है, क्योंकि किसी भी ज्ञान का दूसरे ज्ञान द्वारा गृहीत होकर ज्ञात होना (न्याय मत का अनुव्यवसाय रूप ज्ञान) अद्वैत वेदान्त में स्वीकृत नही है, क्योकि वह अनवस्था-प्रवण है। अतः "ज्ञान" होना (ज्ञानत्व या चित्त्वत्व) ही ज्ञान के "प्रतयक्ष" कहलाने का निमित्त है– **"ज्ञप्तिगत-प्रत्यक्षत्वस्य सामान्यलक्षण चित्त्वमेव।"**[58] यह ज्ञानत्व क्योंकि सभी ज्ञानों में है, अतः "ज्ञान" अपने या "ज्ञान" अंश मे (स्वाश में सभी ज्ञान प्रत्यक्ष हैं) मे अवश्य ही यहां वृत्तिज्ञान या जन्यज्ञान ही है। किन्तु ज्ञान के "जनक" तथा "विषय" अश क्योकि विविध हुआ करते हैं, अतः उन्ही को ज्ञान के "विशेष का नियामक माना जा सकता है। अर्थात् स्वतः प्रत्यक्षात्मक होते हुए जिस ज्ञान का विषय अथवा करण भी प्रत्यक्षात्मक हो, वही प्रत्यक्ष ज्ञान कहलाता है और यदि विषय परोक्ष अग्नि आदि हो या करण व्याप्तिज्ञान आदि हो तो ज्ञान (प्रमा) भी अनुमति आदि कहलाता है।

इन जनक (करण) तथा विषय में से किसमें ज्ञान को विशेषित करने का अधिक बल है– यह प्रचुर विवाद का विषय रहा है। इसी से पूर्वोक्त दो दृष्टियों से दो विचारधाराएँ बही। उनमें विषय को प्रधानता देती हुई **"विवरणप्रस्थान"** की धारा है और करण को प्रधानता देती हुई **"भामती प्रस्थान"** की।[59] **"विवरणप्रस्थान"** में जहाँ प्रत्यक्ष विषयकत्व को ज्ञान के प्रत्यक्षत्व का नियामक माना गया है, वहॉ **"भामतीप्रस्थान"** मे प्रत्यक्ष करणत्व को ज्ञान के प्रत्यक्षत्व का नियामक माना गया है। यहाँ **"वेदान्तपरिभाषा"** की दृष्टि से इन पर विचार किया जा रहा है।

विषयगत प्रत्यक्षत्व या **अपरोक्षता** का सीधा अर्थ है विषय में "अपरोक्ष" कहलाने का भाव होना। अपरोक्ष का अर्थ है– चैतन्य और विषय चैतन्य पर अध्यस्त अविद्या कार्य है, अतः जड है, तो "विषय के अपरोक्ष" होने का अर्थ हुआ "जड का चैतन्य होना" अर्थात चैतन्य से अभिन्न हो जाना। किन्तु आपाततः यह अयुक्त जान पडता है, क्योंकि जड व चैतन्य विरूद्ध स्वभाव वाले हैं। अतः उनमे अभेद कैसा? पारमार्थिक दृष्टि से न तो भेद की स्थिति है और न विषय की। व्यावहारिक दृष्टि में जड़ व चैतन्य का पार्थक्य अकाट्य है। अतः विषय की अपरोक्षता के सहज अर्थ को समझने के लिये 1. चैतन्य के किस रूप से, 2. कैसा अभेद विषय के अपरोक्ष कहलाने का निमित्त है– इसका स्पष्टीकरण अपेक्षित है।

धर्मराजाध्वरीन्द्र के अनुसार प्रमातृचैतन्य के साथ विषय की अभिन्नता ही विषय की अपरोक्षता की नियमिका है– **"विषयस्य प्रत्यक्षत्वं तु प्रमात्रभिन्नत्वम्।"**[60] **प्रकाशानन्द** ने भी **"वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावली"** में प्रायः इन्हीं शब्दों में कहा है कि प्रमाता से अभिन्न होना ही विषय का अपरोक्ष होना है। **पद्मपादाचार्य** के **"अन्तःस्थित अपरोक्षानुभव"** को यहाँ प्रमाता शब्द से

कहा गया है, जो अधिक स्पष्ट है।

विषय का प्रमाता से अभेद विषय का प्रत्यक्षत्व है, कहने पर दो प्रमुख आपत्तियाँ उठती है–1. जड विषय का (प्रमातृ) चैतन्य से अभेद संभव नहीं, तथा 2. मैं इस वस्तु को देख रहा हूँ– ऐसे प्रत्यक्षज्ञानात्मक अनुभव में प्रमातृचैतन्य के साथ वस्तु का भेद ही जाना जाता है।

इन दोनों आपत्तियों का समाधान करते हुए कहा गया है कि अभेद का अर्थ यहाँ ऐक्य नहीं है। प्रमाता की सत्ता से अतिरिक्त विषय की सत्ता न रहना ही दोनों का अभेद है– **"प्रमात्रभेदो नाम न तदैक्यम्, किन्तु प्रमातृसत्ताऽतिरिक्तसत्ताकत्त्वाभावः।"**[61] विषय स्थल पर जाकर उसको व्याप्त करने वाली वृत्ति द्वारा यह घटित होता है, क्योंकि वृत्तिरूप में अन्तःकरण के विषय स्थल पर आ जाने से, (वृत्ति द्वारा अनावृत्त विषय से सम्बद्ध होने से) प्रमातृचैतन्य स्वतः वहाँ आ जाता है, क्योंकि अन्तःकरण ही चैतन्य में प्रमातृत्व धर्म का समर्थक है। अतः तीनो उपाधियों (अन्तःकरण, वृत्ति तथा विषय, घटादि) के एकत्र स्थिति होने से दोनों से अवच्छिन्न चैतन्य भी अभिन्न हो जाते हैं। स्वरूपतः तो वे अभिन्न हैं, उपाधिकृत–भेद उक्त वृत्ति द्वारा (उपाधियों के एक देशस्थ होने से) दूर होने से वह अभेद व्यक्त हो उठता है। जीव (प्रमातृचैतन्य) जब उक्त रीति से विषयावच्छिन्न चैतन्य से अभिन्न होता है, तब विषय इस अधिष्ठान रूप जीव में भी अध्यस्त होता है और तभी वह विषय अपरोक्ष (स्वयं से अपृथक्) कहलाने योग्य होता है– **"अधिष्ठानसत्ताऽतिरिक्ताया आरोपितसत्ताया अनङ्गीकारात्।"**[62] लेकिन अद्वैत वेदान्त के अनुसार इस लक्षण को मान लेने से धर्मादिकों के प्रत्यक्ष होने का प्रसंग प्राप्त होगा। इस अतिव्याप्ति के वारण के लिए लक्षण में कहा गया है कि केवल प्रमात्रभेद ही विषय प्रत्यक्षत्व का प्रयोजक नही है, बल्कि योग्य विषय में स्थित प्रमात्रभेद है। यह विषय के अपने स्वभाव पर निर्भर है कि वह प्रत्यक्ष हो सकता है या नहीं। यह स्वभाव उसकी योग्यता है। सुखदुःख आदि का स्वाभाव है कि वे प्रत्यक्षयोग्य हैं। धर्मादि वैसे नहीं हैं। अतः विषय में योग्यता भी होना अपेक्षित है– **"योग्यत्वस्यापि विषय विशेषणत्वात्।"**[63]

लेकिन यहाँ एक दूसरी आपत्ति सामने आती है कि 'यह रूपवान् घड़ा है' ऐसे प्रत्यक्ष के समय घड़े का परिणाम भी प्रत्यक्ष होना चाहिए, क्योंकि वह भी रूप के समान प्रत्यक्षयोग्य है। इसका उत्तर है कि जिस विषय का आकार वृत्ति धारण करे, उसी विषय से अवच्छिन्न चैतन्य का प्रमाता में तदाकार वृत्ति से उपहित होना रूप विशेषण रहना अपेक्षित है– **"तत्तदाकार वृत्त्युपहितत्वस्यापि प्रमातृविशेषणत्वात्।"**[64]

इस पर आपत्ति उठ सकती है कि 'मैं घट को जानता हूँ' ऐसे स्थल पर घटाकारवृत्ति का भी प्रत्यक्ष होना देखा जाता है, किन्तु वृत्ति को विषय बनाकर उसका आकार धारण करने वाली वृत्ति तो अनवस्थाभय से मानी नहीं जाती। इसके उत्तर में कहा गया है कि वृत्ति अन्य वृत्ति का विषय होकर प्रत्यक्ष नही होती, किन्तु वह स्वयं को ही विषय करती है। अतः स्वविषयक वृत्ति से उपहित

प्रमातृचैतन्य की सत्ता से अभिन्न सत्ता वाला होना वृत्ति मे भी है।[65]

यहाँ आपत्ति उठ सकती है कि वृत्ति को स्वविषया माने, तो वह स्वयंप्रकाश ज्ञान से अभिन्न ही होगी, जबकि वृत्ति जड है, ज्ञानत्व उसमें उपचरित है, यह सिद्धान्त है। इसका उत्तर है कि स्वयंप्रकाशता का अर्थ तो किसी के द्वारा प्रकाशित न होना है, किसी का विषय न होना नहीं। स्वयं ब्रह्म मे भी चरमवृत्ति की विषयता स्वीकृत ही है और वृत्ति अपने से अवच्छिन्न चैतन्य (प्रकाश) द्वारा प्रकाश्य है।

वृत्ति की स्वविषयता स्वीकृत होने से ही केवल साक्षिवेद्य माने गये अन्तःकरण, उसके विविध धर्म (काम, संकल्प, राग, द्वेष इत्यादि) आदि (प्रतिभासिक रजत) के प्रत्यक्ष में भी उस-उस आकार वाली वृत्ति रहने से उक्त विषयगत प्रत्यक्षत्व-लक्षण की व्याप्ति नहीं होती। इसका केवल साक्षिवेद्यत्व से विरोध नही है, क्योंकि इन्द्रिय, लिगज्ञानादि प्रमाणव्यापारों के बिना ही साक्षि द्वारा प्रकाश्य होना ही केवल साक्षि वेद्यता से अभिप्रेत है।[66] इसीलिए **विवरणकार** ने अहमकारा वृत्ति मानी है और प्रातिभासिक विषयस्थल पर वैसे विषय के आकार वाली अविद्यावृत्ति मानी गयी है।

इस प्रकार विषय के प्रत्यक्षत्व का सब आपत्तियों से रहित, परिष्कृत लक्षण हुआ– **'अपने आकार वाली वृत्ति से उपहित प्रमातृचैतन्य की सत्ता से अतिरिक्त सत्तायुक्त न होते हुए योग्य तथा वर्तमान होना विषयगत प्रत्यक्षत्व है।'** अतिरिक्त सत्ता न होने का अभिप्राय व्यावहारिक व प्रातिभासिक सत्ताओं के निषेध में नही, प्रमातृचैतन्य में अध्यस्त होने मात्र में है। अतः इन कल्पित सत्ताभेदों को लेकर आपत्तियाँ नहीं उठाई जा सकती हैं।

धर्मराजाध्वरीन्द्र ने "वेदान्तपरिभाषा" में अत्यन्त मौलिक रूप में ज्ञानगत प्रत्यक्षत्व का निरूपण तथा उसके प्रयोजन का निर्धारण किया है। तदनुसार "ज्ञानगत प्रत्यक्षत्व" का शब्दार्थ है ज्ञान का प्रत्यक्षात्मक होना अर्थात् प्रत्यक्ष ज्ञान से अभिन्न होना। प्रत्यक्षज्ञान का अर्थ है प्रत्यक्षाभिन्न ज्ञान। पहला "ज्ञान" है वृत्ति से अवच्छिन्न चैतन्य और " प्रत्यक्ष ज्ञान है"–ब्रह्मचैतन्य जो समस्त जगध्यास का अधिष्ठान है। ऐसी स्थिति में कोई ज्ञान (जन्य ज्ञान) कब "प्रत्यक्ष ज्ञान है"–ब्रह्मचैतन्य जो समस्त जगध्यास का अधिष्ठान है। ऐसी स्थिति में काई ज्ञान (जन्य ज्ञान) कब "प्रत्यक्षज्ञान" या "प्रत्यक्ष प्रमा" कहलाता है, का अर्थ है– ज्ञान कब प्रत्यक्षात्मक होता हे? इसका अर्थ है– ज्ञान कब प्रत्यक्ष ज्ञानात्मक होता है? अर्थात वृत्यवच्छिन्न चैतन्य कब ब्रह्म चैतन्य होता है?

इसके उत्तर में वेदान्तपरिभाषाकार का कहना है कि प्रमाणचैतन्य का विषय चैतन्य से अभेद ही ज्ञानगत प्रत्यक्षत्व का प्रयोजक है।[67] प्रमाणचैतन्य है अन्तःकरण वृत्यवच्छिन्न चैतन्य और विषय चैतन्य है विषय का अधिष्ठानभूत ब्रह्मचैतन्य। प्रमाता परिच्छिन्न है, वृत्ति भी परिच्छिन्न है, अतः ब्रह्मचैतन्य के समस्तजगद्विषयक प्रत्यक्षज्ञान-स्वरूप होने पर भी परिच्छिन्न घट-पट आदि विषयों के अवच्छेद से ही वृत्यवच्छिन्न चैतन्यरूप ज्ञान ब्रह्मचैतन्यरूप प्रत्यक्ष ज्ञान से अभिन्न हो सकता है। अतएव पूर्वोक्त प्रश्न का निष्कृष्ट उत्तर है– **'ज्ञान तब प्रत्यक्षात्मक होता है, जब वृत्यवच्छिन्न चैतन्य विषयावच्छिन्न चैतन्यात्मक होता है, अर्थात् जब वृत्तिचैतन्य**

विषयावच्छिन्न चैतन्य से अभिन्न होता है।'

इस प्रकार स्पष्ट है कि वृत्यवच्छिन्न चैतन्य का विषयावच्छिन्न चैतन्य से अभेद ही ज्ञानगत प्रत्यक्षत्व का नियामक है। यह अभेद वहिर्गत वृत्ति द्वारा घटित होता है। इसी वृत्ति के स्वरूप को स्पष्ट करने वाला सभी आचार्यो द्वारा अपनाया गया उदाहरण दिया जाता है कि जैसे तालाब का जल किसी नाली द्वारा निकल कर खेत तक जाकर खेत का आकार धारण कर लेता है, वैसे ही अन्तःकरण इन्द्रिय द्वारा निकलकर विषय स्थल तक जाकर उसी के आकार में परिणत हो जाता है,[68] तब अन्तःकरणवृत्ति से अवच्छिन्न चैतन्य विषयावच्छिनन चैतन्य से अभिन्न हो जाता है, जैसे कि खेत में पहले से स्थित जल तथा नाली द्वारा लाया गया जल एकमेव हो जाते हैं, क्योंकि उनको आकार देने वाला खेत एक है। उपाधि या अवच्छेदकों के अंतर से पृथक्-पृथक कहे जाने वाले चैतन्य उपाधियो के एक देशस्थ हो जाने से अभिन्न हो जाते हैं।[69] तत्वतः अभिन्न तो वे सदा हैं, उक्त स्थिति में वे व्यावहारिक रूप से भी अभिन्न हो जाते हैं। जिस प्रमाकरण द्वारा ऐसी स्थिति बनती है, उसे ही प्रत्यक्ष-प्रमाण कहते हैं और वृत्तिविषय की ऐसी स्थिति से होने वाली ज्ञप्ति ही प्रत्यक्षप्रमा है। यह स्थिति तभी बनती है जब वृत्ति अन्तःकरण से बाहर निकलकर विषय स्थल तक जाकर उसे व्याप्त करती है। अनुमिति आदि प्रत्यक्षेतर प्रमाओं में करण व विषय से अवच्छिन्न चैतन्य अभिन्न नही होते, क्योंकि वृत्ति विषयस्थल तक नहीं जाती। अतः उपाधियों की एकदेशस्थता से प्रयुक्त उपाधियो (चैतन्यों) का अभेद नहीं होता है।

उक्त प्रकार से "यह घडा है" ऐसे ज्ञान के स्थल पर घटाकारवृत्ति के घटसंयुक्त होने से घटावच्छिन्न चैतन्य तथा वृत्यवच्छिन्न चैतन्य के अभिन्न होने से उक्त घटज्ञान में प्रत्यक्षत्व है। ऐसे ही सुखदु:खादि से अवच्छिन्न चैतन्यों के, नियतरूप से एकदेशस्थ उपाधिद्वय से अवच्छिन्न होने के कारण "मै सुखी हूँ" इत्यादि ज्ञानों में प्रत्यक्षत्व है–**'अयं घट इति घटप्रत्यक्षस्थले.. ....सुखीत्यादिज्ञानस्य प्रत्यक्षत्वम्।'**[70]

यहाँ भी विषयावच्छिन्न चैतन्य के विषय अंश को लेकर दो आपत्तियाँ उठती है– 1. "मैं सुखी था" ऐसी स्मृति भी सुख अंश में प्रत्यक्षज्ञान ही कहलायेगी, क्योंकि दोनों उपाधियाँ एकदेशस्थ भी हैं। 2. "तुम धार्मिक हो" ऐसे वाक्य से उत्पन्न स्वनिष्ठ धर्म का ज्ञान भी प्रत्यक्ष कहलायेगा, क्योंकि धर्म-अधर्म भी अन्तः करणनिष्ठ है, तो दोनों उपाधियों के एकदेशस्थ होने से उनसे अवच्छिन्न चैतन्य अभिन्न है।

इनके वारण के लिए विषय में "वर्तमान" तथा "योग्य" (इन्द्रिय या साक्षी द्वारा प्रत्यक्ष करा सकने योग्य) विशेषण दिये गये हैं। इसलिए अनुकूल इन्द्रिय या साक्षी द्वारा प्रत्यक्ष करा सकने योग्य तथा ज्ञान की उत्पत्ति के समय वर्तमान विषय से अवच्छिन्न चैतन्य से अभिन्न होना उस विषय के आकार में आकारित अन्तःकरणवृत्ति से अवच्छिन्न चैतन्य रूप ज्ञान का प्रत्यक्ष होता है।

अद्वैत वेदान्त मत में प्रत्यक्षप्रमा के करण को **प्रत्यक्ष–प्रमाण** और प्रत्यक्षप्रमा को चैतन्य

रूप माना गया है– **"प्रत्यक्षप्रमायाःकरणं प्रत्यक्ष प्रमाणम्। प्रत्यक्ष प्रमा चात्र चैतन्यमेव।"**[71] यहॉ आपातत एक शका उठती है कि चैतन्य तो नित्य है, वह ब्रह्मस्वरूप है, अतः उसका करण कोई कैसे होगा? किन्तु यह शंका इसलिए निराधार है, क्योंकि अद्वैत वेदान्त मत में प्रमा मात्र वृत्तिविशिष्ट चैतन्य है, केवल चैतन्य नहीं, अतः वृत्ति रूप उपाधि के उत्पत्तिनाश को लेते हुए प्रमा चैतन्य भी उत्पत्तिमान् हुआ करता है।[72] प्रमा सामान्य से व्यतिरिक्त प्रत्यक्ष प्रमा के जो ज्ञप्ति व विषय पक्षों की ओर से जो दो स्वरूप देखे गये, उनमें अन्तःकरणवृत्ति का उपयोग उनके असाधारण कारण या साधकतम् कारण रूप से है, अतः वही करण है। किन्तु यह स्थिति 'चैतन्य से तादात्म्य हुई वृत्ति या वृत्ति से अभिव्यक्त बोध' रूपा-प्रमा के प्रति वृत्ति का साधकतम् व अव्यवहित कारण होना) तो सभी प्रमाणों मे समान है, फिर प्रमा विशेष (प्रत्यक्ष प्रमा) के प्रति करण होने में वृत्ति में क्या "विशेष" अपेक्षित है जो उसे अन्य प्रमाणों से पृथक् प्रत्यक्ष प्रमाण बनाता है? क्या वृत्ति के उत्पादक कारणों का अन्तर ही इसमे निमित्त है? अर्थात् इन्द्रिय या इन्द्रिय-विषय संयोग ही नियतरूप से जिस वृत्ति के उत्पन्न होने में माध्यम या हेतु बना हो, वही वृत्ति प्रत्यक्ष प्रमाण है? प्रत्यक्ष शब्द की दृष्टि से तो यही उचित जान पड़ता है, किन्तु सम्पूर्ण प्रत्यक्ष में यह व्याप्त नहीं है, क्योंकि सुख-दु.ख आदि की ज्ञप्ति का कारण तथा अन्तिम ब्रह्म–विषयिणी वृत्ति या ब्रह्मसाक्षत्कार का कारण इन्द्रिय जन्य नहीं होता। अतः अपरोक्ष शब्द के अनुकूल, ज्ञाता व बोध के अभेद को अभिव्यक्त करने वाली अन्तःकरणवृत्ति को ही प्रत्यक्ष या अपरोक्ष–प्रमा का करण मानना चाहिए।

वृत्ति-कल्पना का प्रयोजन आवरणाभिभव मानने से पक्ष में विषय व प्रमाता के मध्य स्थित अभानापादक तथा असत्वापादक– दोनो आवरणो का अभिभव करने वाली अन्तःकरणवृत्ति ही प्रत्यक्ष प्रमाण है। वृत्ति का उपयोग चित्सम्बन्ध मानने के पक्ष का भी लक्ष्य यह आवरणाभिभव तथा उसके द्वारा अभेदाभिव्यक्ति ही है– तीनो ही दृष्टियों से, वाह्यविषयों की प्रत्यक्षप्रमा के प्रति करण इन्द्रिय प्रणाली सें बाहर निकलकर विषयस्थल पर हुई वृत्ति ही है। यह वृत्ति स्वयं ही प्रमा का करण नहीं है। अतः वृत्तिमात्र प्रमाण नहीं है, क्योंकि वृत्ति जड़ वस्तु का कार्य होने से जड है। वह अपने समान जातीय अज्ञान को स्वतः निवृत्त या अभिभूत करने में समर्थ नहीं है। प्रमावृत्तिविशिष्ट चैतन्य हैं, प्रमाण भी वृत्तिविशिष्ट चैतन्य ही है। वृत्ति का अर्थ है, अन्तःकरण का विषयज्ञानानुकूल परिणाम। उक्त परिणत अन्तःकरण के ही तीन अंशों से अवच्छिन्न होने के नाते चैतन्य के भी तीन रूप व्यवहार की सिद्धि के लिए मानने पड़ते हैं। ये तीन अंश हैं–

1. देह में स्थित अन्तःकरणभाग,
2. देह से निकलकर विषय तक गया हुआ अन्तःकरणभाग, तथा
3. विषय को व्याप्त किया हुआ अन्तःकरण भाग।

व्यापक रूप से ये तीनों ही वृत्ति-पदार्थ हैं, तब भी इनमें से द्वितीय को क्रिया या करण

रूप मानते हुए "वृत्ति" नाम दिया जाता है, प्रथम को कर्त्ता तथा तृतीय को कर्म। इन तीनों से अवच्छिन्न चैतन्य क्रमशः 1–प्रथमचैतन्य, 2–प्रमाण चैतन्य तथा 3–विषयचैतन्य कहलाता है।[73] अतः ज्ञाता व ज्ञेय के मध्यस्त दोनों आवरणों का भंग करके उन दोनों से अवच्छिन्न चैतन्यों के अभेद को अभिव्यक्त करने के द्वारा विषय को अपरोक्ष बनाने वाली वृत्ति प्रत्यक्ष प्रमाण है। दूसरे शब्दों में, प्रमाण चैतन्य के साथ विषय चैतन्य का अभेद ही प्रत्यक्ष है और ऐसा करने वाली वृत्ति प्रत्यक्ष प्रमाण है। अभानापादक आवरण का भंग करना तथा दोनों चैतन्यों के अभेद को अभिव्यक्त करना ही करण-वृत्ति का "विशेष" है जो उसे प्रत्यक्ष प्रमाण बनाता है। अन्य प्रमाओं के प्रति करण बनने वाली वृत्ति (अपने से अवच्छिन्न) चैतन्य की उपाधि बनकर केवल विषय के असत्वापादक आवरण (जो प्रमाता में स्थित माना गया है) का ही नाश करती है, विषय में प्रमाता के प्रति अपरोक्षता नहीं लाती, क्योंकि अपरोक्षता तो इन दोनों से अवच्छिन्न चैतन्यों में अभेद अभिव्यक्त होने पर विषय के प्रमातृचैतन्य में अध्यस्थ हो जाने से आती है, जिससे कि प्रमाता से अतिरिक्त विषय की सत्ता न रहना– अधिष्ठान से अतिरिक्त अध्यस्त की सत्ता न होने के नियम के अनुसार– घटित होता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सम्पूर्ण भारतीय दर्शन में प्रत्यक्ष को परिभाषित करके उसके लक्षण को निर्धारित करने का प्रयास किया गया है। किन्तु अद्वैत वेदान्त को छोडकर प्रत्यक्ष की पूर्ण एवं निर्दोष परिभाषा किसी भी दर्शन में नही प्राप्त होती है। अद्वैत वेदान्त को इस बात का श्रेय है कि उसने ज्ञान व विषय परिभाषित दोनों ही दृष्टियो से प्रत्यक्ष को परिभाषित करके प्रत्यक्ष प्रमाण के लक्षण एवं भेद का प्रतिपादन किया है। इसलिए उसकी प्रत्यक्ष की परिभाषा अधिक व्यापक एवं व्यवहार तथा सिद्धान्त दोनों ही दृष्टियों से अधिक उचित है। उसके अनुसार प्रत्यक्ष प्रमा का करण प्रत्यक्ष प्रमाण है और प्रत्यक्ष प्रमा प्रकाश या चैतन्यरूप है। सर्वप्रथम इसी प्रकाश या चैतन्य का साक्षत्कार होता है। तदनन्तर प्रकाश या चैतन्य के विशेषण के रूप में अन्य वस्तुओं का भान होता है। इस प्रकार नव्य न्याय की भाँति साक्षत्कारित्व को प्रत्यक्ष का लक्षण मानते हुए भी अद्वैत वेदान्त ने अपने को उसके दोषों से बचा लिया है। यही इसकी तार्किकता एवं महत्ता का सबसे बड़ा प्रमाण है।

प्रत्यक्ष की प्रक्रिया

किसी भी दार्शनिक सम्प्रदाय का विशेष रूप सामान्यतः उसके प्रत्यक्ष की प्रक्रिया से स्पष्ट हो जाता है। इससे विदित हो जाता है कि वह दर्शन वाह्यार्थवादी है, या विज्ञानवादी है। भारतीय दर्शन में प्रत्यक्ष की प्रक्रिया के सम्बन्ध में विविध मत पाये जाते हैं जिनका विवेचन अधोवत् है–

प्रत्यक्ष को ही एकमात्र प्रमाण मानने वाले **चार्वाक दर्शन** में प्रत्यक्ष की कोई निश्चित परिभाषा प्राप्त नहीं होती है, फिर भी यह माना जाता है कि चार्वाकों के अनुसार इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्य ज्ञान प्रत्यक्ष है। इससे स्पष्ट होता है कि चार्वाक प्रत्यक्ष की प्रक्रिया में दो तत्त्व

मानते हैं– 1 इन्द्रिय और 2 विषय। उनके अनुसर इन दोनो के सयोग से प्रत्यक्ष ज्ञान की प्राप्ति होती है।

जैन दर्शन में 'प्रत्यक्ष' उस ज्ञान को कहते है जिसकी अभिव्यक्ति में किसी भी साधन की आवश्यकता नहीं होती। यह प्रत्यक्ष दो प्रकार का होता है, एक ''पारमार्थिक' और दूसरा ''व्यावहारिक''। ''पारमार्थिक'' प्रत्यक्ष ज्ञान में इन्द्रियादि की सहायता के बिना ही आत्मा और ज्ञेय वस्तुओं का सम्बन्ध होता है। इस सम्बन्ध के पश्चात् ही वस्तुओं का प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त होता है। ''व्यावहारिक प्रत्यक्ष'' में इन्द्रिय या मन के द्वारा आत्मा और ज्ञेय वस्तुओं में सम्बन्ध स्थापित होता है और तदनन्तर विषय का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। जैनों के अनुसार प्रत्यक्ष ज्ञान की उत्पत्ति निम्नलिखित क्रम मे होती है।

सबसे पहले किसी भी प्रत्यक्ष में इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से अर्थ (विषय) का सम्वेदन या आलोचनमात्र होता है। इसे **"अवग्रह"** कहते है। इन्द्रियार्थसन्निकर्ष से उत्पन्न सम्वेदन या सामान्य प्रतीति के फलस्वरूप ज्ञाता के हृदय में दृश्य विषय के गुणों का ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा उत्पन्न होती है। इस अवस्था को **"ईहा"** कहा जाता है। ''ईहा'' के उपरान्त मनुष्य को दृश्य वस्तु के गुणों का निश्चयात्मक ज्ञान प्राप्त होता है। इसे **"आवाय"** कहा जाता है। तदनन्तर द्रष्टा के अन्तःकरण एवं स्मृति मे उस वस्तु का एक सस्कार बन जाता है। प्रत्यक्ष की इस अन्तिम अवस्था को **"धारणा"** कहा जाता है। इससे स्पष्ट होता है कि जैन दर्शन में प्रत्यक्ष की प्रक्रिया चार चरणों में सम्पन्न होती है।

बौद्ध मत के विभिन्न सम्प्रदायों में प्रत्यक्षात्मक विषय के ग्रहण की प्रक्रिया को भिन्न-भिन्न रूपों में निरूपित किया गया है, जिनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है–

बौद्ध दर्शन के **वैभाषिक सम्प्रदाय** में पदार्थ को क्षणभंगुर तथा ज्ञान को निराकार माना गया है–**"निराकार बुद्धि वैभाषिकमेत।"**[74] क्षणभंगुर पदार्थ में उपादान तथा सहकारी कारण की अपेक्षा से अन्य क्षण सन्तान उत्पन्न होते हैं–**"क्षणभङ्गिषु पदार्थेषु सहकार्यपादान कारणापेक्षा क्षणान्तर सन्तति।"**[75] अतः रूप का एक क्षण, चक्षुरेन्द्रिय का एक क्षण तथा शुद्ध चेतना का एक क्षण– इन तीनों का जब एक देशीय सन्निपात या समवधान होता है, तो रूप का निर्विकल्पक साक्षत् ज्ञान होता है। इस प्रकार वैभाषिक मत में क्षणिक ज्ञान के साथ क्षणिक अर्थ का समवधान होने पर ज्ञान के प्रकाश के साथ-साथ अर्थ का भी प्रकाशन होता है। यही संक्षेप में वैभाषिकों द्वारा निरूपित प्रत्यक्षात्मक विषय-ग्रहण की प्रक्रिया है।

सौत्रन्तिक मत से प्रत्यक्ष ज्ञान जिस अर्थ से उत्पन्न होता है, उसके सारूप्य को ग्रहण कर लेता है तथा वही अर्थ प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय कहलाता है, इन्द्रिय इत्यादि का विषय नहीं। इसका तात्पर्य यह है कि अर्थ के द्वारा ज्ञान में जो आकार अर्पित किया जाता है, उस आकार (सारूप्य) का ही ज्ञान (प्रत्यक्ष) द्वारा ग्रहण किया जाता है। अतः वस्तुतः प्रत्यक्षीकरण की प्रक्रिया के अन्तर्गत् ''अर्थसारूप्य'' का ग्रहण होता है, किन्तु औपचारिक रूप से इसे अर्थ ग्रहण कहा जाता

है। यही औपचारिक पक्ष ज्ञान का साकार पक्ष है, जो अर्थ के द्वारा ज्ञान में अर्पित अपने निर्विकल्पक आकार की अपेक्षा से वाह्य वस्तुओं के अनुमिति ज्ञान को सिद्ध करता है,[76] क्योकि प्रत्यक्ष आकार मात्र का होता है, लेकिन आकार के द्वारा आकार को उत्पन्न करने वाले हेतु=अर्थ=विज्ञान का विषयात्मक संघर्ष=स्वलक्षण का अनुमान किया जाता है। धर्मकीर्ति ने भी कहा है कि–**"तत्र बुद्धिर्यदाकारातस्यास्तद् ग्राह्यमुच्यते।"**[77] फलितार्थ (औपचारिक) रूप में ही यह कहा जाता है कि अर्थ का प्रत्यक्ष होता है।

विज्ञानवादियों के अनुसार वाह्य वस्तुओं की सत्ता विज्ञानवाह्य न होने के कारण स्वीकार्य नहीं है, क्योंकि विज्ञान ही एकमात्र तत्त्व है। ज्ञान स्वप्रकाश है। वह अपने प्रकाशन के साथ-साथ अर्थ का भी प्रकाशन करता है क्योंकि अर्थ ज्ञान से भिन्न नहीं है। इसलिए स्वसंवेदन के आधार पर ही अर्थ की प्रत्यक्षता स्वीकार्य है। विज्ञान ही अविद्या (अनादि वासना) के कारण ग्राह्य एवं ग्राहक के रूप में भासित होता है– **"विज्ञप्ति मात्रमेवैतद् सद् अर्थावभासनात्।"**[78] **मोक्षाकार गुप्त** ने **"तर्कभाषा"** में बताया है कि इस विषय में विज्ञानवादियों के दो मत हैं– प्रथम यह कि विज्ञान ही ग्राह्य-ग्राहक रूप हो जाता है, वह शरीरादि विषय रूप में प्रतीत होता है, उसका ही स्वसंवेदन होता है। द्वितीय यह कि विज्ञान स्फटिक मणि के समान है, उसमें ये आकर और उसका ग्राह्य-ग्राहक भावरूपेण विभक्तिकरण अवद्यावशात् भासित होते हैं।

स्वतंत्र विज्ञानवाद न तो यथार्थवादियों के समान वाह्य वस्तु सम्बन्धी दृष्टिकोण को स्वीकार करता है, न ही **असंग, वसुबन्धु** के विज्ञानवाद की तरह "विज्ञाप्ति-मात्रता" की स्थापना कर वाह्यवस्तु को स्वप्नवत् मिथ्या घोषित करता है, बल्कि दोंनों का समन्वय कर आनुभाविक ज्ञान मीमांसीय विज्ञानवादी दृष्टि से **"क्षणिक स्वलक्षण"** को वाह्यवस्तु रूपेण प्रतिपादित करता है। इसके अनुसार इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से प्रथम क्षण में "सर्वोपाधिविविक्तवस्तुमात्रम्" का निर्विकल्पक प्रत्यक्ष होता है। इसी निर्विकल्पक ग्राह्यता (जहाँ ग्राह्य-ग्राहक का भेद विग्रह नहीं होता है) को बुद्धि अपनी विकल्पात्मक क्रिया के द्वारा उसे नाम, जाति, गुण, द्रव्य आदि पंचविधकल्पनाओं से युक्त कर वाह्य वस्तुरूपेण उसे सविकल्पक प्रत्यक्ष रूप से प्रत्याक्षीकृत करती है। यहाँ वाह्य वस्तु का सविकल्पक प्रत्यक्ष शुद्ध प्रत्यक्ष नहीं बल्कि अनुमान-मिश्रित है जो सामान्य लक्षण को प्राप्त करता है। **निर्विकल्पक प्रत्यक्ष ही शुद्ध प्रत्यक्ष है जो "स्वलक्षण" को ग्रहीत करता है।**

प्रत्यक्ष के विषय ग्रहण की प्रक्रिया के सम्बन्ध में न्याय-वैशेषिक बिल्कुल वस्तुवादी **दृष्टिकोण रखते हैं। वे प्रत्यक्षात्मक विषय के ग्रहण हेतु षड्विधि सन्निकर्षों** की कल्पना कर **इन्द्रियों का वस्तु (पदार्थ) से सम्बन्ध मन का इन्द्रियों से सम्बन्ध और अन्ततः** आत्मा का मन से सम्बन्ध होने पर पर्याप्त प्रकाश आदि कुछ वाह्य **शर्तों** के मौजूद होने पर आत्मा में प्रत्यक्ष ज्ञान की उत्पत्ति को मानते हैं। उनके अनुसार इसी प्रकार आत्मा में प्रत्यक्ष ज्ञान की उत्पत्ति में त्रिविध सम्बन्ध की कल्पना पड़ती है। इन्द्रियाँ वाह्य पदार्थो का ज्ञान मन को देती है और मन उसे आत्मा

तक पहुँचाता है, तब प्रत्यक्षज्ञान पूर्ण होता है। आत्मा-मनः संयोग ज्ञान सामान्य के प्रति करण होता है। इस प्रकार मन और इन्द्रियाँ ही प्रत्यक्ष का मूलाधार है।

न्याय-वैशेषिको का विचार है कि जब आत्मा का मन से मन का इन्द्रिय से और इन्द्रिय का विषय (अर्थ) के साथ सम्पर्क होता है, तब आत्मा में समवाय सम्बन्ध से ज्ञान उत्पन्न होता है। इसी प्रत्यक्ष प्रमा के करण को प्रत्यक्ष प्रमाण कहते हैं। वह प्रत्यक्ष प्रमाण इन्द्रियाँ और मन ही हैं। कहीं-कही सन्निकर्ष और ज्ञान भी प्रत्यक्ष प्रमाण की कोटि में आते हैं।

सांख्य-योग दर्शन में प्रत्यक्ष की प्रक्रिया न्याय-वैशेषिक की प्रक्रिया से भिन्न है। यद्यपि न्याय-वैशेषिक के समान साख्य योग में भी प्रत्यक्ष की उपलब्धि में इन्द्रियों की उपयोगिता स्वीकार की गयी है, फिर भी इनके अनुसार किसी भी वस्तु का प्रत्यक्ष ज्ञान केवल इन्द्रिय विशेष से ही नहीं होता, वरन् उसमें बुद्धि, अहंकार, मन एवं इन्द्रिय इन चारों का युगपद् व्यापार होता है। साख्य-योग के अनुसार विषय का संयोग इन्द्रिय से न होकर बुद्धि से होता है। इन्द्रिय तो बुद्धि आदि के बाहर निकलने के लिए द्वारमात्र है। सांख्य-योग में बुद्धि अन्तः करण एवं मन ये तीन द्वार माने गये है तथा इन्द्रियों का द्वाररूप माना गया है।[79] अन्तः करण एवं मन के साथ बुद्धि इन द्वार-रूप इन्द्रियों से बाहर निकलकर शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध आदि के विषयों के सम्पर्क में आकर तदाकार हो जाती है। जिस प्रकार कूप से निकला हुआ जल नाली में बहता हुआ क्यारियों में पहुँचकर उन्हीं के आकार का हो जाता है, उसी प्रकार इन्द्रियों के द्वार से निकली हुई बुद्धिवृत्ति विषयों में आकर तदाकर हो जाती है। इस तदाकर बुद्धिवृत्ति अथवा चिन्तवृत्ति में पुरूष के प्रतिबिम्ब के फलस्वरूप रूप आदि विषयों का प्रत्यक्ष होता है। यहाँ पर सांख्य भिन्नता प्रदर्शित करते हुए योग दर्शन **पारस्परिक प्रतिबिम्बवाद** को मानता है।

पूर्व मीमांसा की प्रत्यक्ष ज्ञान की प्रक्रिया बहुत कुछ न्याय दर्शन के समान है। मीमांसकों के अनुसार किसी भी प्रत्यक्ष में विषय तथा तद्गुणों का इन्द्रिय से, इन्द्रिय का मन से तथा मन का आत्मा से, इन तीन प्रकर से सन्निकर्ष होता है, जिससे प्रत्यक्ष ज्ञान की उपलब्धि होती है। मीमांसा में भी मन की कल्पना न्याय दर्शनके समान एक प्रकार की इन्द्रिय के रूप में की गई है।

अद्वैत वेदान्त सम्प्रदाय यद्यपि वाह्यार्थ की सत्ता को परमार्थसत् नहीं मानता तथापि उसकी प्रत्यक्ष की प्रक्रिया में भी चित्तवृत्ति का घटाकर रूप में होना स्वीकार किया गया है। इसके अनुसार शरीर के भीतर रहने वाला अन्तः करण अविद्याविर्वत अदृष्ट से प्रेरित होकर चक्षु आदि इन्द्रियों के मार्ग से बाहर निकल कर घटादि विषयों से यथोचित रीति (जिस विषय से इन्द्रिय का जैसा सन्निकर्ष होता हो) से संसृष्ट होकर उन विषयों को व्याप्त करके उसी-उसी आकार में परिणत हो जाता है। जैसे भरे हुए तालाब का जल नाली में से बहता हुआ खेत में से जाकर उस खेत के आकार के अनुसार ही चौकोर या गोलाकार हो जाता है, वैसे ही अन्तःकरण भी विषय

के आकार का हो जाता है– **"यथातडागोदकं छिद्रान्निर्गत्य कुल्यात्मना केदाराप्रविश्य तद्वदेव चतुष्कोणाद्याकारं भवति। तथा तैजस मन्तःकरणमपि चक्षुरादिद्वारा निर्गत्य घटादिविषयदेशं गत्वादिविषयाकारेण परिणमते।"**[80]

प्रत्यक्ष प्रमा का करण

न्याय वैशेषिक दर्शन में प्रत्यक्ष ज्ञान के **तीन प्रकार के करण** माने गये हैं– 1. इन्द्रिय, 2. इन्द्रियार्थसन्निकर्ष और 3. ज्ञान अर्थात निर्विकल्पक ज्ञान। इन तीनों के आगे चौथे सविकल्पक ज्ञान और पॅाचवें हानोपादानोपेक्षाबुद्धि, इन दो फलों को और जोड लेने पर पॉच कड़ी की एक श्रृखंला बन जाती है और उससे त्रिविध करण का स्पष्टीकरण बहुत अच्छे ढंग से हो जाता है। इन पाँचों में 1. करण, 2. अवान्तर व्यापार और 3. फल, इन तीन का समावेश होता है। इन पाँचों की श्रृखला में से यदि प्रथम को करण माना जाय तो दूसरे को आवान्तर व्यापार और तीसरे को फल मानना चाहिए। इसी प्रकार यदि दूसरे को करण माना जाय तो तीसरे को अवान्तरण व्यापार और चौथे को फल मानना चाहिए। इसी प्रकार यदि तीसरे को करण मानेंगे तो चौथे को अवान्तर व्यापार और पाँचवे को उसका फल मानना होगा।

मीमांसकों में प्रत्यक्ष ज्ञान के करण को लेकर मतभेद है। **भाट्ट मीमांसक** प्रत्यक्ष ज्ञान के तीन करण मानते हैं– 1. इन्द्रिय, 2. निर्विकल्पक ज्ञान और 3. सविकल्पक ज्ञान। इन्द्रिय को प्रत्यक्ष ज्ञान का करण मानने पर 'निर्विकल्पक ज्ञान' फल होता है और आवान्तर व्यापार 'ज्ञातता' होती है। 'निर्विकल्पक ज्ञान को करण मानने पर 'सविकल्पक ज्ञान' उसका फल होता है तथा सविकल्पक ज्ञान को करण मानने पर 'हानोपादानोपेक्षाबुद्धि' फल होती है और 'ज्ञातता' आवान्तर व्यापार होती है।

प्राभाकर मीमांसकों के अनुसार भी प्रत्यक्ष ज्ञान के तीन करण हैं– 1. इन्द्रिय, 2. आत्म-मनः सन्निकर्ष एवं, 3. प्रकाशरूप ज्ञान। इनके अनुसार इन्द्रिय को प्रत्यक्ष प्रमा का करण मानने पर निर्विकल्पक ज्ञान उसका फल है तथा 'सन्निकर्ष' अवान्तर व्यापार। आत्म मनः सन्निकर्ष को प्रत्यक्ष ज्ञान का करण मानने पर 'सविकल्पक ज्ञान' उसका फल होता है तथा 'निर्विकल्पक ज्ञान' उसका अवान्तर व्यापार। यदि प्रकाशरूप संवित् अर्थात् निर्विकल्पक ज्ञान को करण माना जाता है तो 'हानोपादानोपेक्षाबुद्धि' उसका फल होता है तथा 'सविकल्प ज्ञान' अवान्तर व्यापार।

इस प्रकार स्पष्ट होता है कि नैयायिक एवं मीमांसक दोनों इन्द्रिय को प्रत्यक्ष ज्ञान का करण मानते है। किन्तु दोनों में अंतर भी है। भाट्ट मीमांसकों ने नैयायिकों की तरह अवान्तर व्यापार को प्रत्यक्ष ज्ञान का करण नहीं माना है जबकि नैयायिक अवान्तर व्यापार को प्रत्यक्ष ज्ञान का करण मानते हैं। इस सन्दर्भ में नैयायिकों और प्राभाकर मीमांसकों के विचार मिलते हैं। प्राभाकर भी नैयायिकों की तरह सन्निकर्ष को प्रत्यक्षज्ञान का करण मानते हैं। भाट्ट मीमांसक सविकल्पक ज्ञान को प्रत्यक्ष प्रमा का करण मानते हैं, जबकि नैयायिक इसे करण नहीं मानते हैं। इस विषय में भाट्टों एवं प्रभाकरों में समानता व असमानता दोनों हो सकती है। यदि प्राभाकर

सम्मत प्रकाशरूप सवित् को निर्विकल्पक ज्ञान के रूप में मानते है, तो भाट्ट मीमांसकों से उनका मतभेद है और यदि इसे सविकल्पक ज्ञान के रूप में माना जाता है, तो प्राभाकर के विचार भाट्टो के समान हो जाते है। नैयायिक एव मीमासक दोनो प्रत्यक्ष की क्रिया मे अवान्तर व्यापार की भूमिका मानते हैं, क्योकि इसके बिना प्रत्यक्ष हो ही नहीं सकता।

प्रत्यक्ष ज्ञान के घटक

न्याय वैशेषिक दर्शन मे प्रत्यक्ष का इन्द्रियार्थ-सन्निकर्षजन्यत्वरूप जो लक्षण किया गया है, उसमें तीन बातो का उल्लेख मिलता है। 1. इन्द्रिय, 2 सन्निकर्षऔर 3. पदार्थ (विषय)। **मीमांसकों** ने प्रत्यक्ष ज्ञान के घटको का पृथक् निरूपण नही किया है। उनके मत में जैमिनि के सूत्र "सत्सम्प्रयोगे पुरूषस्येन्द्रियाणा बुद्धिजन्यतत्प्रत्यक्षम्" के सम्यक् विशलेषण से प्रत्यक्षप्रमा के लिए आवश्यक घटको का **शब्दत. कथन सिद्ध होता है** – 1. विद्यमान विषय, **2.** इन्द्रियाँ, जिसके साथ विषय सन्निकर्ष अपेक्षित है तथा 3. पुरूष जिसको ज्ञान हो सके। **कुमारिल भट्ट** ने उक्त सूत्र मे इन तीन आवशयक तत्वो (प्रमेय, प्रमाण एव प्रमाता) के समावेश न होने से इनका पृथक् विवेचन करना उचित नही समझा, किन्तु नैयायिको ने इनका पृथक्-पृथक् विवेचन किया है। सर्वप्रथम **इन्द्रिय** का विवेचन अपेक्षित है, जो इस प्रकार है –

न्याय-वैशेषिक मत मे इन्द्रियो को वाह्य एवं आभ्यान्तर जगत् के विषयों का ज्ञान प्राप्त करने का साधन माना जाता है। आत्मा इन्द्रियों के माध्यम से ही वाह्य तथा आन्तर जगत् से सम्बन्ध स्थापित करता है और उनका ज्ञान प्राप्त करता है। इन्द्रियॉ वह साधन है जिनसे स्वय ज्ञाता के अस्तित्व का भी बोध होता है। **वात्स्यायन** ने इन्द्रिय को उपलब्धि का साधन कहा है।[81] इन्द्रियाँ दो प्रकार की हैं– **वाह्य तथा आभ्यन्तर।** वाह्य ज्ञानेन्द्रियॉ पाँच प्रकार की हैं– घ्राण, रसना, चक्षु, श्रोत, और त्वक्। आन्तरिक इन्द्रिय केवल मन है। यद्यपि वाह्येन्द्रियों में कर्मेन्द्रियॉ भी आती है, किन्तु ज्ञान व्यापार में उनका कोई उपयोग नही है। इसलिए यहॉ वाह्येन्द्रिय से ज्ञानेन्द्रिय अर्थ ही अभिप्रेत है। न्याय-वैशेषिक दर्शन के अनुसार वाह्यज्ञानेन्द्रियों की उत्पत्ति पंचमहाभूतो से होती है। ये भौतिक, सूक्ष्म एवं अतीन्द्रिय है। ज्ञानेन्द्रियो के अस्तित्व एव इनके भौतिकत्व का ज्ञान अनुमान प्रमाण से होता है। नैयायिक अनेक युक्तियों के द्वारा ज्ञानेन्द्रियों के अस्तित्व को सिद्ध करते है।

न्याय वैशेषिक के अनुसार अन्तरिन्द्रिय मन के द्वारा सुख-दुःख आदि का ज्ञान होता है। मन न केवल अन्य ज्ञानेन्द्रियो का सहायक है, बल्कि स्वय भी कुछ विषयो का साक्षात् ज्ञान आत्मा को कराता है। मन नित्य, अणु (अव्यापक) और निरवयव है। यदि यह व्यापक या विभु होता, तो उसका सभी इन्द्रियो के साथ युगपद् सम्बन्ध होने से एक समय में अनेक ज्ञानों की उत्पत्ति हो जाती, परन्तु ऐसा नहीं होता– **"युगपत् ज्ञानानुपत्तिर्मनसोलिंगम्।"**[82] इससे सिद्ध है कि मन

अणु है, अत एक समय एक ही इन्द्रिय के साथ उसका सम्बन्ध होने से एक समय एक ही ज्ञान प्राप्त हो सकता है, अनेक नही। इससे यह भी सिद्ध होता है कि प्रत्येक जीवात्मा का अपना अलग मन होता है। ज्ञान चाहे वाह्य विषयो का हो या आन्तर, उसके लिए मन अनिवार्य करण है। इसी मन की सहायता से आत्मा का इन्द्रियों और शरीर के साथ तथा उनके द्वारा वाह्य जगत् के साथ सम्बन्ध होता है।

नैयायिको मे इन्द्रियो की **प्राप्यकारिता** को लेकर कुछ मतभेद है। प्राचीन नैयायिको के अनुसार इन्द्रियो मे प्राप्यकारित्व है। प्राप्यकारी का अर्थ है– जाकर काम करने वाली। यदि प्राप्यकारिता का यह अर्थ लिया जाय तो केवल चक्षुरिन्द्रिय मे ही प्राप्यकारिता माननी होगी, अन्य इन्द्रियों मे नही। किन्तु **जयन्त भट्ट** के अनुसार प्राप्यकारिता का अर्थ है विषय को पाकर काम करना। इस निर्वचन को आधार माना जाय तो सभी इन्द्रियों में प्राप्यकारिता मानी जा सकती है। इससे स्पष्ट होता है कि इन्द्रियों में **प्राचीन नैयायिकों** के अनुसार प्राप्यकारिता है, यद्यपि प्राप्यकारिता के अर्थ के सम्बन्ध मे उनमें कुछ मतभेद भी है। **नव्य नैयायिक** चूँकि प्रत्यक्ष के लिए इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष को आवश्यक नहीं मानते, इसलिए वे प्राप्यकारिता को भी नहीं स्वीकार करते है। न्याय–वैशेषिक सभी छ· इन्द्रियों को भौतिक और अतीन्द्रिय मानते है।

मीमांसको का इन्द्रिय सम्बन्धी विचार प्राचीन नैयायिकों के समान ही है। निम्नलिखित बातो मे दोनों मे भिन्नता है। मीमांसक भी पंचमहाभूतों से इन्द्रियों की उत्पत्ति मानते है, परन्तु नैयायिकों की भॉति उन्होनें श्रोतेन्द्रिय को आकाश स्वरूप न स्वीकार करके दिग्भागीय माना है– **"श्रोत तु दिङ्भागम्।"**[83] **पार्थसारथि मिश्र** ने श्रोतेन्द्रिय को श्रुति प्रमाण के आधार पर दिङ्भागीय स्वीकार किया है। **भाट्ट मीमांसक** केवल श्रोत को दैशिक मानते हैं, जिसके द्वारा इन्द्रियाँ विषयों को ग्रहण करती हैं तथा इस शक्ति का ज्ञान विषयो के ग्रहण से होता है।

इसी तरह से भाट्ट मीमांसक घ्राण, त्वंक् एवं जिह्वा इन्द्रियों को प्राप्यकारी मानते हैं। परन्तु श्रोत एवं चक्षु इन्द्रियों की प्राप्यकारिता के विषय में उन्हे सन्देह है। उनके मतानुसार त्वाक्, रासन तथा घ्राणज प्रत्यक्ष में इन्द्रिय तथा अर्थ का सन्निकर्ष वास्तविक रूप से स्पष्ट है। प्रभाकर मतानुयायी **शालिकनाथ मिश्र** ने समवायि, असमवायि एवं निमित्त कारणों में से इन्द्रिय सम्बन्ध को असमवायि कारण माना है।

इन्द्रियों के बारे में **सांख्य–योग** का मत न्याय–वैशेषिक और मीमांसा से एकदम भिन्न है। उपरोक्त दर्शनों सें भिन्न सांख्य–योग दर्शन में मन और पंच ज्ञानेन्द्रियो की उत्पत्ति अहंकार से मानी गयी है। न्याय-वैशेषिक से भिन्न सांख्य–योग मत में मन यद्यपि सूक्ष्म इन्द्रिय है, लेकिन वह अणु नहीं है, सावयव है और इसीलिए एक ही साथ भिन्न भिन्न इन्द्रियों के साथ संयुक्त हो सकता है। मन अंत करण का एक रूप है। सांख्य-योगानुसार मन नित्य पदार्थ नहीं है। वह प्रकृति का एक कार्यद्रव्य है, अतः उसकी काल विशेष में उत्पत्ति भी होती है और नाश भी।

बौद्ध दर्शन मे इन्द्रियो की सख्या पॉच मानी गयी है– नेत्र, श्रोत, घ्राण, रसना, तथा त्वचा। इन्द्रियो से बौद्धो का अभिप्राय वस्तुत इन्द्रियो के अधिष्ठानो से है, अत इन्द्रियॉ बौद्धो के अनुसार गोलक है तथा विभिन्न प्रकार के परमाणुओं से निर्मित होने के कारण भौतिक है। बौद्ध मन को इन्द्रिय नहीं मानते हैं। उनके अनुसार मन चेतना का आश्रय है। बौद्ध दार्शनिक इन्द्रियो की प्राप्यकारता के सिद्धान्त को स्वीकार नहीं करते है। **जैन** भी मन को इन्द्रिय नही मानते, यद्यपि वे मन को आत्मा के संवेदन का एक साधन मानते है। जैन दार्शनिक चक्षुरिन्द्रिय को प्राप्यकारी नही मानते। शेष चार इन्द्रियों में प्राप्यकारित्व को वे स्वीकार करते हैं। **अद्वैत वेदान्ती** भी केवल पॉच इन्द्रियो को मानते हैं। वे मन को इन्द्रिय नहीं मानते, यद्यपि वे सुखादिकों का आतंर-प्रत्यक्ष मानते है। न्याय-वैशेषिको की भाँति अद्वैत वेदान्ती भी इन्द्रियों को भौतिक मानते हैं। सांख्य और अद्वैत वेदान्ती नैयायिकों एव मीमासकों की भॉति इन्द्रियों की प्राप्यकारिता को स्वीकार करते हैं।

अधिकाश भारतीय दार्शनिक प्रत्यक्ष के लिए विषय के साथ इन्द्रिय सम्बन्ध को आवश्यक मानते है, जिसे **"सन्निकर्ष"** कहा जाता है। वाह्य प्रत्यक्ष में वाह्येन्द्रियो का विषयो के साथ सन्निकर्ष तथा आन्तर प्रत्यक्ष मे अन्तरिन्द्रिय के साथ आत्मा तथा आत्म-गुणों का सन्निकर्ष आवश्यक माना गया है। द्रव्य का प्रत्यक्ष द्रव्येन्द्रिय सन्निकर्ष से तथा गुण, कर्मादि का प्रत्यक्ष अपने आश्रयीभूत द्रव्य के साथ इन्द्रिय सन्निकर्ष से होता है। **सन्निकर्ष को लेकर मुख्य विवाद नैयायिकों एवं मीमांसकों में है।**

न्याय दर्शन में सन्निकर्ष के मुख्यतः दो भेद माने गये है– **1. लौकिक और 2. आलौकिक।** लौकिक सन्निकर्ष में इन्द्रिय और विषय का सम्बन्ध सामान्य (साधारण) रूप से होता है और अलौकिक सन्निकर्ष में इन्द्रियों से विषय का सम्बन्ध असाधारण रूप से होता है। **लौकिक सन्निकर्ष के छः भेद** इस प्रकार हैं:– 1. संयोग, 2. संयुक्त समवाय 3 सयुक्त समवेतसमवाय, 4. समवाय, 5 समवेत समवाय, 6. विशेष्य-विशेषणभाव।

दो भिन्न द्रव्यों के बीच यतुसिद्ध (वियोज्य) सम्बन्ध को **'संयोग सन्निकर्ष'** कहते है। आँख और घडे तथा आत्मा और मन के बीच संयोग सन्निकर्ष है।

"द्रव्यरूपप्रत्यक्षजनने संयुक्त समवायः" अर्थात जब किसी वस्तु के साथ उसमे रंग, रूप का इन्द्रिय से सम्बन्ध होता है, तो उसे **'संयुक्त समवाय सन्निकर्ष'** कहते हैं। जैसे, चक्षुरिन्द्रिय के साथ घट एवं उसके रूप, रंग का सम्बन्ध। चक्षु से संयुक्त घट में रूप का समवाय होने से चक्षुरिन्द्रिय और घट रूप विषय का 'संयुक्त समवाय' सन्निकर्ष होता है। इसी प्रकार मन से आत्मा में रहने वाले सुखादि गुणो के ग्रहण होने पर यह सन्निकर्ष ही होता है।

"रूपत्व सामान्य प्रत्यक्षेसंयुक्तसमवेत समवायः" अर्थात किसी इन्द्रिय के साथ किसी द्रव्य की सामान्य जाति का समवेत प्रत्यक्ष होने से **'संयुक्त समवेतसमवाय सन्निकर्ष'** होता है।

जैसे, चक्षुरिन्द्रिय से घटरूप मे समवेत रूपत्वादि सामान्य अर्थ का स[illegible]
समवेतसमवाय' है।

"श्रोतेण शब्दसाक्षात्कारे समवायः" अर्थात कान से शब्द के प्रत्यक्ष में **'समवाय सन्निकर्ष'** है। तर्कशास्त्र में कान को आकाश मानते हैं। शब्द आकाश का गुण है। आकाश द्रव्य है और शब्द उसका विशेष गुण। दोनो में गुण-गुणी का भाव है। गुण-गुणी में समवाय सम्बन्ध से रहता है। अतः दोनों मे समवाय सन्निकर्ष है।

"शब्दत्व साक्षात्कारे समवेतसमवाय सन्निकर्षः" अर्थात कान द्वारा शब्दत्व (शब्द जाति) के प्रत्यक्ष में **"समवेत समवाय सन्निकर्ष"** है।

यदि इन्द्रिय का विषय उस इन्द्रिय से सम्बद्ध विषय का विशेषण हो, तो इस प्रकार के इन्द्रिय-विषय सम्बन्ध को **"विशेष्य-विशेषण भाव सन्निकर्ष"** कहते हैं। यह सन्निकर्ष अभाव के प्रत्यक्ष में चरितार्थ होता है– **"अभाव प्रत्यक्षे विशेषणविशेष्य भावः सन्निकर्षः।"** यह सन्निकर्ष वस्तुतः तभी कार्य समर्थ होता है, जब उपर्युक्त पाँच सन्निकर्ष में से कोई एक उसके साथ कार्यरत हो।

उपर्युक्त सन्निकर्ष प्राचीन न्याय द्वारा स्वीकृत प्रत्यक्ष की परिभाषा "इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञान.............. प्रत्यक्षम्" के आधार हैं। लेकिन **नव्य नैयायिकों** ने प्रत्यक्ष के इस लक्षण को ही दोषपूर्ण बताकर उसके कारण–सामग्री के रूप में उपर्युक्त छः सन्निकर्ष को भी दोषपूर्ण बताया। उन्होंने साक्षात्कारी (बिना किसी माध्यम के उत्पन्न होने वाला ज्ञान) ज्ञान को प्रत्यक्ष कहा तथा उसकी कारण-सामग्री के रूप में तीन नये सन्निकर्षो की कल्पना की जिसे **"अलौकिक सन्निकर्ष"** कहा जाता है। ये है – 1. समान्य लक्षणा, प्रत्ययासत्ति, 2. ज्ञान लक्षणा प्रत्यासत्ति और 3. योगज।

प्रत्यक्षज्ञान की प्रक्रिया में कुछ ऐसी कठिनाइयाँ है जिनका समाधान लौकिक प्रत्यक्ष की कारण–सामग्री से सभव नहीं है। उदाहरणार्थ, धूमरूपे हेतु से वह्नि का अनुमान लोकसिद्ध बात है। किन्तु समस्या यह है कि वह अनुमान तभी हो सकता है, जबकि धूम और वह्नि का सभी देश और काल में साहचर्य निश्चय हो। यह लौकिक प्रत्यक्ष के द्वारा संभव नही है। इसके लिए **नव्य न्याय** ने कल्पना की कि जब धूम और वह्नि का प्रत्यक्ष होता है, उस समय धूमत्व नामक सामन्य धर्म से सकल धूम का तथा वह्नित्व से सकल वह्नि का ज्ञान कर सभी धूम और वह्नि के बीच साहचर्य सम्बन्ध का निश्चय किया जाता है। इसी कल्पना के आधार पर सामान्यलक्षणाप्रत्यासत्ति की उत्पत्ति हुई। नव्य नैयायिकों के अनुसार एक वस्तु को देखने से उसकी सजातीय वस्तुओं का जो ज्ञान होता है उसके आधार को **"सामान्यलक्षणाप्रत्यासत्ति"** कहते हैं– **"समानां भावः सामान्यं, तल्लक्षणां यस्य स सामान्यलक्षणः।"** उल्लेख्य है कि नैयायिक सामान्य को भी एक स्वतंत्र पदार्थ मानते हैं। प्राचीन नैयायिकों के अनुसार सामन्य या जाति का ज्ञान संयुक्त समवायसन्निकर्ष से होता है, किन्तु नव्य नैयायिक सामान्य के ज्ञान के लिए इन्द्रिय सन्निकर्ष को पर्याप्त नहीं मानते। इसके लिए वे सामान्य लक्षण नामक अलौकिक सन्निकर्ष की कल्पना करते हैं।

नव्य नैयायिकों के अनुसार **"ज्ञानलक्षणाप्रत्यासत्ति"** से एक विषय के प्रत्यक्ष के साथ उससे सम्बन्धित गुणों का भी हमे इन्द्रिय सन्निकर्ष के बिना भी ज्ञान प्राप्त होता है। जैसे "बर्फ शीतल है" या "चन्दन सुगन्धित है" इत्यादि स्थलों में बर्फ एवं चन्दन के एक टुकडे के चाक्षुष ज्ञान के साथ उनकी शीतलता एवं सौरभ का भी ज्ञान होता है, क्योंकि यद्यपि शीतलता एवं सौरभ का चक्षु से साक्षात् सम्बन्ध नहीं है, फिर भी शीतलता व सौरभ का पूर्व ज्ञान आत्मा में है और उसी आत्मस्थ ज्ञान के द्वारा चक्षु और सौरभ का भी सम्बन्ध हो जाता है।

सामान्यलक्षण और ज्ञानलक्षण सन्निकर्ष में मुख्य अंतर यह है कि सामान्य लक्षणाप्रत्यासत्ति अपने आश्रय के प्रत्यक्ष में कारण होता है, जबकि ज्ञानलक्षणाप्रत्यासत्ति जिसका ज्ञान होता है, उसी ज्ञान के प्रति कारण होता है। ज्ञानलक्षणप्रत्यासत्ति के द्वारा ही नैयायिक भ्रम की व्याख्या करते है।

योगजसन्निकर्ष के द्वारा योगाभ्यास से अलौकिक शक्ति प्राप्त योगियों को अपनी यौगिक सामर्थ्य की सहायता से इन्द्रियार्थसन्निकर्ष के बिना भी भूत तथा भविष्य, गूढ़ तथा सूक्ष्म, निकटस्थ तथा दूरस्थ सभी प्रकार की वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त होता है।

पूर्व मीमांसा दार्शनिकों ने न्यायाभिमत लौकिक एवं अलौकिक दोनों प्रकार के सन्निकर्षों का खण्डन किया है। किन्तु सन्निकर्ष को लेकर मीमांसा दर्शन के दोनों सम्प्रदायों में मतभेद है जिसका विवेचन अधोवत् है –

भाट्ट सम्प्रदाय में इन्द्रिय तथा अर्थ के सम्यक् व्यापार के लिए संयोग तथा संयुक्त तादात्म्य नाम दो सन्निकर्षों को स्वीकार किया गया है।[84] नेत्रादि से संयुक्त पृथिव्यादि में तादात्म्येन अवस्थित जाति, गुण, कर्मादि का ग्रहण होने पर **"संयुक्त तादात्म्य सन्निकर्ष"** होता है। संयुक्त तादात्म्य सम्बन्ध से रूपादि का ग्रहण हो जाने पर समवायादि सम्बन्धान्तर की कल्पना व्यर्थ है। गुण कर्मादिगतसत्ता रूपत्वादि धर्मों के ग्रहण-स्थल पर सत्तादि का द्रव्य के साथ परम्परया तादात्म्य संभव होने से संयुक्त तादात्म्य, तादात्म्य सन्निकर्ष माना जाता है। जिस प्रकार रूपात्वादि के ग्रहणार्थ नैयायिक संयुक्त समवेतसमवायसन्निकर्ष मानते हैं, वैसे ही "संयुक्ततादात्म्यतादात्म्य" नामक सन्निकर्ष मानने में कोई आपत्ति नहीं है। जाति, गुण तथा कर्म का स्वाश्रय के साथ तादात्म्य सम्बन्ध ही होता है। अतः इन्द्रियों का स्वविषय के साथ दो या तीन सन्निकर्ष होते हैं। नैयायिक सम्मत छः सन्निकर्षों में से संयोग, संयुक्तसमवाय, संयुक्तसमवेतसमवाय सम्बन्धों का भाट्टाभिमत संयोग, संयुक्ततादात्म्य, संयुक्ततादात्म्यतादात्म्य सम्बन्धों से कोई भेद नहीं है, केवल संज्ञाएँ ही भिन्न हैं। भाट्ट शब्द को गुण के स्थान पर द्रव्य मानते हैं, अतः शब्द के साथ समवाय सन्निकर्ष संभव नहीं है। समवाय के न रहने पर समवेतसमवाय सन्निकर्ष स्वयमेव निराकृत हो जाता है। अभाव का इन्द्रियों से प्रत्यक्ष नहीं माना जा सकता है और समवाय के आकाशपुष्प के समान होने पर विशेष्य-विशेषणभाव सन्निकर्ष मानने का भी कोई औचित्य नहीं है। इसके अतिरिक्त, नेत्रसंयुक्त भूतलादि के साथ अभाव तथा समवाय का विशेषणविशेष्यभाव सन्निकर्ष संभव नहीं है, क्योंकि

"दण्डी पुरूष" इत्यादि स्थलो पर संयोगादि सम्बन्धान्तरपूर्वक ही विशेषण-विशेष्यभाव देखा जाता है, किन्तु अभाव तथा समवाय के साथ सम्बन्धान्तर नही माना जा सकता है।[85]

भाट्टों ने नैयायिको के लौकिक सन्निकर्ष की भॉति ही उनके अलौकिक सन्निकर्ष का भी खण्डन अधोवत् रूप मे किया है –

भाट्ट मीमांसक व्याप्ति-ज्ञान के लिये सामान्य लक्षणाप्रत्यासत्ति को आवश्यक नहीं मानते है। अत उन्होने **सामान्यलक्षणा प्रत्यासत्ति** का खण्डन किया है।

भाट्ट मीमासको ने नैयायिकाभिमत **ज्ञानलक्षणा प्रत्यासत्ति** पर आधारित प्रत्यक्ष को अस्वीकार किया है। नेत्रन्द्रियो द्वारा रूप के अतिरिक्त, सुगन्ध का ज्ञान कदापि नही हो सकता। दूरस्थ चन्दन वृक्ष के दूर स्थिति होने के कारण उसके द्वारा सुगन्ध का ज्ञान नेत्रेन्द्रिय से उस व्यक्ति को कदापि नहीं हो सकता, जिसने सुगन्ध का पूर्वानुभव नही किया है। नेत्रेन्द्रिय द्वारा तो चन्दन वृक्ष के रूप, आकार आदि का ही ज्ञान होता है। गन्ध का ज्ञान तो केवल घ्राणेन्द्रिय ही कर सकती है, परन्तु चन्दन वृक्ष के दूर स्थित होने के कारण उसके द्वारा सुगन्ध प्रत्यक्ष नहीं हो पाता। चन्दन वृक्ष तथा उसके सुगन्ध के सम्बन्ध का ज्ञान रखने वाले व्यक्ति को सुगन्ध का ज्ञान परोक्षतः होता है। इसी प्रकार दूरस्थ अग्नि के उष्णत्व का ज्ञान भी परोक्ष है, प्रत्यक्ष नही।[86]

कुमारिल द्वारा योगज प्रत्यक्ष का खण्डन इस बात की पुष्टि करता है कि भाट्टमीमांसा मे **योगज सन्निकर्ष** को अस्वीकार किया गया है। भावनाप्रमर्ष से अतीत, अनागत, सूक्ष्म, व्यवहित विषयों का प्रत्यक्षात्मक ज्ञान योगियो को होता है।[87] योगियों को अवर्तमान विषयों का होने वाला ज्ञान प्रत्यक्षात्मक नहीं है, क्योकि प्रत्यक्षात्मक ज्ञान को सत्सम्प्रयोगज तथा विद्यमानोपलम्भनरूप होना आवश्यक है,[88] ठीक उसी प्रकार जैसे अभिलषित वस्तु की बारम्बार स्मृति होने पर भी अतीत विषयक होने के कारण योगियों के मत से भी प्रत्यक्षरूप नही होती।[89] जिस प्रकार "प्रातिभज्ञान" को जनसाधारण या अन्य कोई प्रमाण नहीं मानते, उसी प्रकार योगिज्ञान की प्रसिद्धि लोक में प्रत्यक्ष या अन्य किसी प्रमाण के रूप में नहीं है। अत योगि-ज्ञान न तो प्रत्यक्ष है न अन्य कोई प्रमाण। योगि-ज्ञान और प्रातिभज्ञान इन दोनों में से किसी के भी सत्सम्प्रयोगज न होने के कारण दोनों में प्रत्यक्षता नहीं है। वार्तिककार को योगज प्रत्यक्ष ही अभीष्ट नहीं है, तो उसके लिये आवश्यक योगज सन्निकर्ष की क्या आवश्यकता?

प्राभाकर मीमांसकों ने भी भाट्टों की तरह अलौकिक सन्निकर्ष को नहीं माना है और न्याय मत का खण्डन किया है। भाट्टों की तरह ही प्राभाकर भी यह मानते हैं कि चूँकि प्रत्यक्ष से केवल विद्यमान विषयों का ही ग्रहण होता है, अविद्यमान विषयों का नही, इसलिए अविद्यमान विषयों के ग्रहणार्थ अलौकिक सन्निकर्ष को मानने की आवश्यकता नहीं है। लेकिन सन्निकर्ष के विषय में भाट्ट एवं प्राभाकर मीमासकों में मतैक्य नहीं है। **भाट्टों के विरूद्ध प्राभाकर तार्किकों के समान समवाय सम्बन्ध को प्रत्यक्ष विज्ञान का हेतु मानते हैं।** प्रभाकर तीन प्रकार के सन्निकर्ष मानते हैं– 1. संयोग, 2. संयुक्त समवाय, 3. समवाय। इन तीनों सन्निकर्षों को न्याय भी मानता है, किन्तु न्याय में सयुक्त समवेत समवाय, समवेत समवाय, विशेषण विशेष्यभाव– ये

तीन अधिक सन्निकर्ष माने जाते है। प्राभाकर न्याय सम्मत इन तीनो सन्निकर्षो को इसलिए स्वीकार नही करते कि उनके मत मे "रूपत्व" आदि पदार्थ नही माना जाता, अत सयुक्तसमवेतसमवाय सन्निकर्ष हेय हो जाता है। शब्दत्व की भी मान्यता उक्त दर्शन मे नही है। अत. समवेतसमवायसन्निकर्ष भी त्याज्य है। प्राभाकर मतावलम्बी अभाव का अस्तित्व स्वीकार नही करते है तथा समवाय को प्रत्यक्ष नही मानते है, अत उन्होनें विशेषण-विशेष्यभाव सन्निकर्ष को नही माना है।

सम्पूर्ण भारतीय दर्शन मे प्रत्यक्ष को प्रमाण मानने वाले दर्शनो मे जिस प्रकार प्रत्यक्ष के लक्षण करण एवं घटक आदि के बारे में मतभेद है, उसी प्रकार **प्रत्यक्ष के विषय** के बारे में भी उनमे मतभेद दिखाई देता है। **चार्वाको** के अनुसार सम्पूर्ण दृश्य जगत् जिसका संयोग इन्द्रियों से होता है, प्रत्यक्ष का विषय है। **जैन दार्शनिकों** के अनुसार प्रत्यक्ष के द्वारा जीव आवरण का नाश होता है। **बौद्धों** के अनुसार प्रत्यक्ष का विषय स्वलक्षण है। **न्याय वैशेषिकों** के अनुसार "द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव सात ऐसे पदार्थ है जो प्रत्यक्ष ज्ञान के विषय बनते है। सामान्य गुणो का प्रत्यक्ष वाह्यइन्द्रियो से तथा विशेष गुणों का प्रत्यक्ष अतरिन्द्रिय अर्थात् मन से होता है। अपने लिए आत्मा का ज्ञान भी मानस प्रत्यक्ष से होता है। पृथ्वी, जलादि भूत द्रव्यों का प्रत्यक्ष चक्षु आदि वही इन्द्रियों से होता है, जबकि आकाश, काल, दिक् एव मन आदि द्रव्यों का ज्ञान अनुमान से होता है। **भाट्ट मीमांसकों** और **अद्वैत वेदान्तियों** के अनुसार अभाव का ज्ञान प्रत्यक्ष से न होकर अनुपलब्धि प्रमाण से होता है। **मीमांसकों** ने सत् अर्थात विद्यमान या वर्तमानकालिक पदार्थो को ही प्रत्यक्ष का विषय माना है, अविद्यमान पदार्थ को नही। इस प्रकार जहॉ नैयायिक भूत, वर्तमान एवं भविष्यत् वस्तुओ को प्रत्यक्ष का विषय मानते हैं, वहॉ मीमांसक केवल वर्तमान कालिक वस्तुओं को ही प्रत्यक्ष का विषय मानते हैं, क्योंकि प्रत्यक्ष को धर्म के ज्ञापन में अप्रमाणिक सिद्ध करना चाहते हैं। **भाट्ट मीमांसक** द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य आदि पदार्थो को प्रत्यक्ष का विषय मानते हैं। प्राभाकर द्रव्य, गुण, सामान्य, शक्ति, सादृश्य आदि प्रत्यक्षों को प्रत्यक्ष का विषय मानते है, परन्तु वे जाति, कर्म और समवाय का प्रत्यक्ष नही मानते। भाट्टों ने शब्द को गुण न मानकर द्रव्य माना है और उसका प्रत्यक्ष वे संयोग सन्निकर्ष से करते हैं। प्राभाकर मीमांसक नैयायिकों की भॉति शब्द को गुण मानते हैं, जिसका प्रत्यक्ष व संयोग सन्निकर्ष से करते है। अद्वैत वेदान्त के अनुसार ब्रह्म (चैतन्य) ही प्रत्यक्ष का एक मात्र विषय है, क्योकि ब्रह्म के अतिरिक्त किसी अन्य तत्त्व की तात्त्विक सत्ता ही नहीं है– "ब्रह्मभिन्न सर्व मिथ्या, ब्रह्मभिन्नत्वाद् .... ।"

प्रत्यक्ष के भेद

चार्वाक दर्शन में प्रत्यक्ष के भेदों का कोई उल्लेख प्राप्त नहीं होता है। प्रत्यक्ष के बारे में इस दर्शन में केवल इतना ही कहा गया है कि इन्द्रिय प्रत्यक्ष ही एक मात्र प्रामाणिक ज्ञान प्राप्ति का साधन है। अतः अन्य प्रमाणों की कोई आवश्यकता नहीं है।

जैन दर्शन मे प्रत्यक्ष के दो भेद माने गये है– पारमार्थिक और व्यावहारिक'। पारमार्थिक प्रत्यक्ष उस ज्ञान को कहते हैं जो व्यवधान उत्पन्न करने वाले कर्मो का नाश होने पर बिना किसी ज्ञान अथवा साधन की अपेक्षा के स्वतः ही अपना तथा अपने विषय का प्रकाश करता है। इसके विपरीत व्यावहारिक प्रत्यक्ष मे ज्ञान की अभिव्यक्ति इन्द्रियों पर आश्रित होती है। यह व्यावहारिक प्रत्यक्ष भी जैनो के अनुसार दो प्रकार का होता है– एक तो वह जिसमें वहिरिन्द्रिय की अपेक्षा होती है तथा दूसरा वह जिसमें वहिरिन्द्रिय की अपेक्षा न होकर केवल मन द्वारा ही ज्ञान की अभिव्यक्ति होती है। जैन दर्शन में प्रत्यक्ष की जो परिभाषा दी गई है, उसके अनुसार यद्यपि व्यावहारिक प्रत्यक्ष की गणना प्रत्यक्ष के अर्न्तगत नहीं की जानी चाहिए तथापि नवीन जैनाचार्यो ने लौकिक-प्रत्यक्ष में इन्द्रियो की उपयोगिता का महत्व समझ कर उसे भी एक प्रकार का प्रत्यक्ष मानना स्वीकार किया है।[90] प्राचीन सिद्धान्त में यद्यपि 'मति-ज्ञान' और 'श्रुत-ज्ञान' की गणना परोक्ष ज्ञान के अर्न्तगत की गई है, तथापि जैन दर्शन के नवीन आचार्यो ने व्यवहारिक दृष्टि से इनको भी प्रत्यक्ष के अर्न्तगत मानना उपयुक्त समझा है। उनके अनुसार इन्द्रिय और मन के द्वारा भी जिस ज्ञान की अभिव्यक्ति होती है, उसे भी प्रत्यक्ष की कोटि मे माना जा सकता है।

प्रत्यक्ष के भेद के बारे मे बौद्धों व जैनों में पर्याप्त मतभेद दृष्टिगोचर होता है। जहाँ बौद्ध दर्शन में केवल निर्विकल्पक की ही सत्ता मान्य है, वहाँ जैन दर्शन में केवल सविकल्पक प्रत्यक्ष को ही स्वीकार किया गया है। आचार्य हेमचन्द्र ने निर्विकल्पक को 'अनध्यवसाय' रूप कहकर प्रत्यक्ष की कोटि में नहीं माना है। **बौद्धाचार्य धर्मकीर्ति** का प्रबल खण्डन करने वाले **जैनाचार्य अकलंक** ने केवल सविकल्पक ज्ञान को ही प्रामाणिक माना है। उनके अनुसार इन्द्रिय का जब विषय के साथ सम्पर्क होता है, तो संस्कारों का उद्बोधन होता है, तदनन्तर पूर्वानुभूत सदृश पदार्थों की स्मृति होती है। जो कि सविकल्पक ज्ञान की उत्पत्ति करती है। सविकल्पक ज्ञान में संस्कारो का उद्बोधन होता है, जबकि 'निर्विकल्पक' में संस्कारों का उदय ही नहीं होता। इसलिए सविकल्पक ज्ञान ही प्रामाणिक ज्ञान है।

बौद्ध दर्शन के विकसित रूप **दिङ्नाग सम्प्रदाय** में प्रत्यक्ष के **चार भेदों** का निरूपण किया गया है। **वाचस्पति मिश्र** ने **"न्यायकणिका"** में इन भेदों का उल्लेख किया है। ये है– **1. इन्द्रिय प्रत्यक्ष, 2. मानस प्रत्यक्ष, 3. भावनामय या योगज प्रत्यक्ष, 4. स्वसंवेदन प्रत्यक्ष।**

केवल इन्द्रियों द्वारा जन्य ज्ञान **इन्द्रिय प्रत्यक्ष है– "इन्द्रियस्य ज्ञानमिन्दिज्ञानम्। इन्द्रियाश्रितं यत्तम् प्रत्यक्षम्।"**[91] कहने का आशय यह है कि ज्ञान ही रूप के ज्ञान में समर्थ है, न कि नेत्र। यह ज्ञान व्यवहित वस्तु को नहीं देखता, प्रत्युत साक्षात् ज्ञानकारक वस्तु से उत्पन्न हुआ है। यह अनुभव से ज्ञात भी है। **'प्रमाणवार्तिक'** में इसका वर्णन करते हुए कहा गया है कि **'चारों ओर से ध्यान हटाकर कल्पना से मुक्त, निश्चल (स्तिमित) चित्त से रूपादि का ग्रहण इन्द्रिय प्रत्यक्ष ज्ञान है।**[92] इन्द्रिय प्रत्यक्ष हो जाने के बाद प्रज्ञा की क्रिया प्रारम्भ होती

है। सारे इन्द्रिय प्रत्यक्ष मात्र विशेष (व्यक्ति अर्थात् स्वलक्षण) के होते है, जहाँ ग्राह्य-ग्राहक, वाच्य वाचकभाव और अभिलाप्यता का सर्वथा अभाव पाया जाता है। जब बुद्धि क्रियाशील होती है, स्मृति धर्म जागृत होता है और कल्पना चित्रो का निर्माण होता है, तब तक इन्द्रिय अपने विषय से विरत हो चुकी रहती है। इन्द्रिय प्रत्यक्ष ज्ञान के चार कारणों में आलम्बन प्रत्यय तक ही सीमित होता है। चक्षु इत्यादि पॉचों इन्द्रियों के रूपादि पॉच विषय नियत हैं। इन्हीं के नाम पर विज्ञान का भी व्यपदेश मे किया जाता है। जैसे, रूप-विज्ञान इत्यादि। इन इन्द्रियो के अपने पृथक-पृथक विषय है। चक्षु रूप को ही देखती है, यह शब्द को नहीं सुनती। इसी प्रकार श्रोत का विषय शब्द है, रूप नहीं।

बौद्ध दर्शन का **वैभाषिक सम्प्रदाय** यह मानता है कि इन्द्रिय प्रत्यक्ष मे नेत्र ही द्रष्टा है। अर्थात् नेत्र से ही प्रत्यक्ष होता है। आगे चलकर **धर्मकीर्ति** ने "नेत्र ही द्रष्टा है", वैभाषिक के इस मत का निराकरण करके यह व्याख्यायित किया कि ज्ञान ही रूप के ज्ञान में समर्थ है, न कि नेत्र, क्योंकि ज्ञान का ही रूप के ज्ञान में सामर्थ्य है, नेत्र का का नही। अत. ज्ञान ही प्रमाण है, नेत्र नहीं और वह ज्ञान व्यवहित वस्तु को नहीं देखता, क्योकि योग्य देश में स्थित वस्तु से वह ज्ञान उत्पन्न हुआ करता है, व्यवहित वस्तु से नहीं। यह अनुभव से भी ज्ञात होता है। इस कथन से इन्द्रिय को प्रमाण मानने वाले मीमांसक ("यद्वेन्द्रियं प्रमाणं स्यात् तस्य नार्थेन संगति")[93] आदि के मत का भी निराकरण हो जाता है। **बौद्ध न्याय** के सिद्धान्तानुसार ज्ञान ही प्रमाण है, इन्द्रियादि नहीं– **"धीप्रमाणता प्रवृत्तेस्वतत् प्रधानत्वाद्धेयोपादेयवस्तुनि"।**[94] संक्षेप में, यही इन्द्रिय प्रत्यक्ष है। इन्द्रिय प्रत्यक्ष पाँच प्रकार का होता है। इन्द्रिय ही इन ज्ञानो के असाधरण कारण या निमित्त हैं, इस कारण इन्द्रिय प्रत्यक्ष के रूप मे माने जाते हैं। इसकी विशेषता यह है कि प्रत्यक्ष अपने अनुरूप विकल्प उत्पन्न करके सम्यक् व्यवहार का संसाधन बनता है, इस कारण से यह प्रमाण है।[95]

दिङ्नाग ने **"प्रमाणसमुच्चय" में मानस प्रत्यक्ष** की व्याख्या करते हुए कहा है कि **"पदार्थ के प्रति रागादि का जो कल्पनारहित ज्ञान होता है, वही मानस प्रत्यक्ष है।"** लेकिन **धर्मकीर्ति** के अनुसार यदि इसी को मानस प्रत्यक्ष माना जाय, तो यह पहले से ज्ञात अर्थ का प्रकाशक होने के कारण प्रमाण नहीं होगा। इस प्रकार गुरूमत में दोष दिखाकर **धर्मकीर्ति मानस प्रत्यक्ष** की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि किसी इन्द्रिय से उत्पन्न विज्ञानरूपी समनन्तर प्रत्यय के साथ मिलकर उस इन्द्रिय जन्य निर्विकल्पक ज्ञान के विषयक्षण से उत्पन्न होने वाले द्वितीय रूपक्षण (जो इन्द्रियजन्य ज्ञान के समकालीन होता है) के द्वारा इन्द्रिय-व्यापार विश्रान्त हो जाने पर, अपने उत्पादक क्षण (द्वितीय अर्थक्षण) के विषय में जो विशद ज्ञान होता है, वह मानस प्रत्यक्ष कहलाता है– **"एवं स्वाविषयान्तरविषयसहकारिणेन्द्रियज्ञानेन समनन्तर प्रत्ययेन जनितं तन्मनोविज्ञानम्।"**[96]

यहॉ यह उल्लेखनीय है कि बौद्ध चक्षु आदि के समान मन नाम की कोई इन्द्रिय नही मानते हैं, किन्तु वे यह मानते है कि विज्ञानों का प्रवाह मात्र ही मन है। उनके अनुसार पूर्व विज्ञान ही अग्रिम विज्ञान का कारण होता है। (किसी विज्ञान की सन्तति में) वह पूर्व विज्ञान ही समनन्तर प्रत्यय कहलाता है, क्योकि वह विज्ञानरूप में (अग्रिम ज्ञान के) समान होता है (सम) और दोनों के बीच में कोई व्यवधान नही होता, अत· वह अनन्तर (अन्तर रहित) होता है (सम+अनन्तर = समनन्तर)।

मानस प्रत्यक्ष इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष नही है, क्योंकि यह इन्द्रिय व्यापार के समाप्त हो जाने पर होता है। इसका विषय मानस (आन्तर) भी नहीं है, क्योंकि यह इन्द्रियजन्य ज्ञान का विषय होने वाले प्रथम क्षण से उत्पन्न द्वितीय क्षण के विषय से हुआ करता है। यह ज्ञान अप्रत्यक्ष भी नहीं है, क्योंकि इसका स्फुट आभास होता है। बौद्ध ग्रन्थो विशेषकर धर्मकीर्ति के **"न्यायविन्दु"** एव मोक्षाकर गुप्त की **"तर्कभाषा"** में इसका विशद विवेचन प्राप्त होता है।

संक्षेप में भाव यह है कि प्रथम क्षण में इन्द्रिय के द्वारा नीलक्षण का प्रत्यक्ष होता है और इन्द्रिय व्यापार समाप्त हो जाता है। इस नीलक्षण से इन्द्रिय ज्ञान के समान काल में द्वितीय नीलक्षण की उत्पत्ति होती है, तब द्वितीय नीलक्षणविषयक जो मानसिक ज्ञान होता है, वह मानस प्रत्यक्ष कहलाता है। इस मानस प्रत्यक्ष में इन्द्रिय विज्ञान उपादान है, जिसे बौद्ध दर्शन में समनन्तर प्रत्यय कहा जाता है। इसका विषय वाह्य नील आदि का द्वितीय क्षण है। अतः जिसे चक्षुर्विज्ञान नहीं होता, उसे चाक्षुष ज्ञान के अनन्तर होने वाला मानस प्रत्यक्ष भी नहीं होता।

इस प्रकार एक ही वस्तु के दो अव्यवहित क्षणों में प्रथम क्षण से इन्द्रिय द्वारा जो ज्ञान उत्पन्न होता है, वह इन्द्रिय प्रत्यक्ष कहलाता है और द्वितीय क्षण से मन द्वारा जो अनुभव होता है, वह मानस प्रत्यक्ष है। **श्चेरवात्स्की** के अनुसार मानस प्रत्यक्ष निर्विकल्पक और सविकल्पक प्रत्यक्ष के बीच की स्थिति है– **"This mental sensation is an intermediate step between pure sensesation and work of the understainding"**[97]

बौद्धेत्तर भारतीय दार्शनिकों ने मानस प्रत्यक्ष के सिद्धान्त की कटु आलोचना की है। वे इस बात पर सहमत हैं कि मानस प्रत्यक्ष नाम की कोई वस्तु नहीं है। **वाचस्पति मिश्र** का कथन है कि हम अपने दैनिक अनुभव मे देखते हैं कि किसी भी वस्तु का संज्ञान पर्याप्त समय तक चलता रहता है। यह एक और अविभाज्य इकाई है, जिसका विभाजन पूर्वापर क्षणों में कतई संभव नहीं है। प्रत्यभिज्ञा द्वारा भी इसी तथ्य की पुष्टि होती है। जैसे, हम किसी मित्र को वर्षो बाद मिलने पर भी पहचान लेते हैं। इससे यह बात निर्मूल सिद्ध होती है कि किसी वस्तु के संज्ञान में शुद्ध संवेदन व मानस संवेदन पूर्वापर रूप में आते है। **मण्डन मिश्र** का भी कथन है कि पूर्वापर क्षणों पर आधारित संज्ञान सिद्धान्त कदापि स्वीकार नही किया जा सकता। अनुभव इस बात का प्रमाण है कि कोई भी संज्ञान एक व अविभाज्य समग्र रूप में ही संज्ञाता के समक्ष **प्रस्तुत होता है, न कि भागते हुए क्षणों की श्रृंखला के रूप में। कुछ इसी प्रकार से डॉ० सत्कारी**

मुखर्जी भी सहमत है। इनका कथन है कि "**बौद्ध नैयायिकों ने मानस प्रत्यक्ष की पुष्टि बौद्ध आगम की रक्षा के लिए की है। तार्किक या ज्ञानमीमांसीय दृष्टिकोण से इसकी कोई उपयोगिता नहीं है और इसके न मानने से बौद्ध न्याय को किसी प्रकार की क्षति भी नहीं होगी।**"

चार्वाको तथा मीमासको के अतिरिक्त प्रायः भारतीय दर्शन के सभी सम्प्रदायो ने योग के क्रियात्मक पक्ष को अपनाया है। बौद्ध दर्शन इसका अपवाद नही है। बौद्धो का भी मत है कि योग पद्धति का अनुसरण करके होने वाला प्रत्यक्ष ज्ञान **योगज प्रत्यक्ष** कहलाता है। योगज प्रत्यक्ष को **भावनामय प्रत्यक्ष** भी कहा जाता है। "**न्यायविन्दुटीका**"[98] मे इसका विशद विवेचन किया गया है। भावनामय प्रत्यक्ष का तात्पर्य यह है कि प्रमाणों से जाने गये अर्थ को भूत या सद्भूत अर्थ कहते है। बौद्ध दर्शन में प्रसिद्ध चार आर्य सत्यो एवं नैरात्म्य आदि के उपदेश द्वारा ज्ञान प्राप्त करके योगी अपने मन मे बार-बार उसका मनन करता है। यही भूतार्थ भावना कहलाती है। जब इस भावना द्वारा अनुभूत अर्थ मे स्फुटाभता आना आरम्भ हो जाता है, तो भावना प्रकर्ष कहलाता है। स्फुटता की पूर्णता प्राप्त होने की अवस्था से पूर्वास्था 'भावनाप्रकर्षपर्यन्त" कही जाती है। इस अवस्था में भाव्यमान वस्तु ऐसी प्रतीत होने लगती है जैसे अभ्रक या कॉंच से व्यवहित वस्तु भासित होती है। इस अवस्था के पश्चात् योगी को भाव्यमान वस्तु हस्तामलकवत् स्फुट रूप में भाषित होती है। यही भावनामय प्रत्यक्ष है। यह निर्विकल्पक होता है। **श्चेरवात्स्की** के अनुसार "**योगी का प्रत्यक्ष नितान्त मानसिक ज्ञान है, इसमें इन्द्रियों का योग नहीं होता। इसको प्रत्यक्ष की कोटि में लाने वाला मुख्य कारक इसकी स्फुटाभता है।**"

धर्मकीर्ति व **धर्मोत्तर** के अनुसार योगज प्रत्यक्ष में प्रत्यक्ष की सभी तीन विशेषताएँ पायी जाती हैं – **अविसंवादकत्व, कल्पनापोढत्व एवं अभ्रान्तत्व।** चूँकि योगज प्रत्यक्ष एक प्रकार का प्रत्यक्ष होता है, इस कारण प्रमाण होने के लिए उसका अविसंवादी होना आवश्यक है। अविसंवादी तो चूँकि प्रत्यक्ष और अनुमान दोनों होते है, अतएव योगज प्रत्यक्ष के लिए कल्पनापोढत्व तथा अभ्रान्तत्व का गुण होना अत्यन्तावश्यक है।

बौद्ध दर्शन में **स्वसंवेदन** को प्रत्यक्ष का एक प्रमुख प्रकार माना गया है और कहा गया है कि विज्ञान तथा सुख आदि का अनुभव स्वसंवेदन के अन्तर्गत आता है। **वाचस्पति मिश्र** ने "**न्यायकणिका**" में "प्रमाणवार्तिक" की कारिका उद्धृत करते हुए सुखादि के स्वसवेदन का निरूपण किया है–

'अशक्यसमयो ह्यात्मा सुखादीनामनन्यभाक्।
तेषामतः स्वसंवित्तिर्नाभिजल्पानुषङ्गिणी।।'[99]

स्वसंवेदन के लिए "**न्यायविन्दु**" में कहा गया है कि सभी चित्त एवं चैत्त पदार्थो का आत्मसंवेदन ही स्वसंवेदन है– "**सर्वचित्तचैत्तानामात्मसंवेदनम्।**"[100]

यहॉं पर चित्त से तात्पर्य वस्तुओ के विज्ञान से है तथा चैत्त का तात्पर्य विज्ञान की विशेषावस्था को ग्रहण करने वाले सुखादि से है। किसी भी वस्तु के स्वसवेदन के ग्रहण का अर्थ यह है कि हम किसी भी वस्तु के विज्ञान को देख रहे है तथा यह भी जान रहे हैं कि उस विज्ञान से अलग उसे कोई देख रहा है। अर्थात् यह एक शुद्ध चेतना है जो वस्तु से ही उत्पन्न होकर पुन: उसी पर प्रक्षिप्त भी हो रही है। दूसरे शब्दों में, हम स्वसंवेदन को **'वस्तुओं की चेतना'** की चेतना समझ सकते हैं। मानस प्रत्यक्ष में तो चित्त की अवस्थाओं का ग्रहण होता है, जबकि स्वसवेदन मे अवस्थाओं का नही वरन् स्पष्ट विज्ञानों का ग्रहण किया जाता है।

दिङ्नाग सम्प्रदाय की यह आधारभूत मान्यता है कि समस्त ज्ञान स्वज्ञान है। किसी भी वाह्य वस्तु का एक विज्ञान तो होता ही है, साथ ही साथ इस विज्ञान का भी एक विज्ञान होता है। प्रत्येक भाव तथा हर एक संकल्प एक ओर तो वस्तु से सम्बन्धित होते हैं, वहीं दूसरी ओर ये स्वज्ञान भी होते है। इस प्रकार हम अपनी ज्ञातता के ज्ञान से भी युक्त होते हैं। ज्ञान स्वयं प्रकाश होता है। जिस प्रकार दीपक अन्य वस्तुओं को प्रकाशित करता है और साथ ही साथ स्वयं को भी आलोकित करता है जिसके लिए यह किसी पर भी आधारित नहीं होता, ठीक उसी प्रकार ज्ञान भी स्वयं प्रकाश होता है, क्योंकि यह ज्ञात होने के लिए किसी अन्य चेतना के प्रकाश पर आश्रित नही होता। **अद्वैत वेदान्ती सुरेश्वराचार्य** ने भी ज्ञान की स्वप्रकाशता को सिद्ध करने का प्रयास किया है:-

"स्वमतिमनैवचन्नस्यात् ग्राहकादिततोन्यतः ।
न स्यात् अतिशयाभावात् नैव स्यात् अविशेषतः ।।"

बौद्धों के लिए न तो प्रत्यक्ष के विषय तथा उस विषय की चेतना में भेद है और न ही चेतना एक आत्मा तथा एक आन्तरिक इन्द्रिय में विभक्त है। आन्तरिक इन्द्रिय या छठवीं इन्द्रिय की सत्ता को **सौत्रान्तिक-योगाचार सम्प्रदाय** में अस्वीकार करते हुए इस बात को भी अस्वीकार किया गया है कि आन्तरिक इन्द्रिय स्वयं ही शुद्ध चेतना होती है। ये मानते हैं कि यदि हमे इस बात का ज्ञान न हो कि हमें एक नील पट का प्रत्यक्ष हो रहा है तो हमें उसका प्रत्यक्ष कभी होगा ही नहीं- **"अप्रत्यक्षोपलम्भस्य नार्थ दृष्टिः प्रसिध्यति।" दिङ्नाग** इसकी व्याख्या करते हुए कहते है कि **"चक्षु इन्द्रिय से गृहीत रूप का ज्ञान, मन से गृहीत रूप-विज्ञान का ज्ञान होने के बाद उसके प्रति अपने अंदर जो राग द्वेष आदि का अनुभव होता है, वही कल्पनारहित ज्ञान स्वसंवेदन प्रत्यक्ष है।"**

धर्मकीर्ति इसी को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि रागादि का जो हम अनुभव करते हैं, वह किसी दूसरे इन्द्रिय से सम्बन्ध नहीं रखता है। अतः उसके स्वरूप में वाच्य-वाचक का सांकेतिक प्रयोग नहीं हो सकता है, इसलिए उसका जो अपने अन्दर संवेदन होता है, वह वाच्य-वाचक संसर्गयोग्य नहीं है। समस्त सरल चेतनाएँ तथा साथ ही साथ समस्त मानवीय व्यापार स्वयं चेतन होते हैं- **"सर्वचित्तचैत्तानामात्मसंवेदनम्"।**[101] अर्थात् समस्त सरल चेतनाएँ इन्द्रिय गोचर क्षेत्र

मे उपस्थित किसी अनिश्चित वस्तु के विज्ञान की तथ्य मात्र तथा समस्त विकल्प जटिल चित्त सम्प्रयुक्त संस्कार, आकार, विचार और साथ ही साथ समस्त भाव और संकल्प–संक्षेप में, समस्त मानसिक प्रतीत होने वाले मानसिक व्यापार स्वयं अपने मे स्वचेतन होते हैं। इस तरह **अज्ञात अर्थ का प्रकाशक, कल्पनारहित तथा अविसंवादी होने से स्वसंवेदन प्रत्यक्ष मानस प्रत्यक्ष से भिन्न है, जिसके अन्तर्गत हम रागद्वेष सुख–दुःख आदि का अनुभव करते हैं।** इन्द्रिय प्रत्यक्ष के अन्तर्गत हम किसी इन्द्रिय के एक विषय का (रूप, रस, गन्ध आदि) ज्ञान प्राप्त करते है, मानस प्रत्यक्ष मे आगे बढ़कर इन्द्रिय प्रत्यक्ष क्षण का अनुभव करते है और इस प्रकार अब भी उसका सम्बन्ध विषय से बना रहता है। किन्तु स्वसंवेदन प्रत्यक्ष मे हम इन्द्रिय के ज्ञान से आगे विल्कुल भिन्न राग द्वेष सुख–दुःख का प्रत्यक्ष करते हैं।

न्याय–वैशेषिक एवं **मीमांसकों** की स्वसंवेदन की व्याख्या बौद्धों से भिन्न तो है ही, साथ ही इनमें पारस्परिक मतभेद भी परिलक्षित होता है और यह मतभेद इन दोनों यथार्थवादी सम्प्रदायों में आत्मचेतना की धारणा में भिन्नता के कारण है। **मीमांसकों के लिए आत्मचेतना एक अनुमान है, जबकि नैयायिकों के लिए यह एक पृथक प्रत्यक्ष है।** दृष्टि द्वारा एक घट का प्रत्यक्ष होने पर, मीमांसको के अनुसार घट में एक नवीन गुण ज्ञातता का गुण उत्पन्न हो जाता है। घट के इस गुण की उपस्थिति ही हमें स्वचेतना में एक विज्ञान की उपस्थिति का अनुमान कराती है। **प्राभाकर, बौद्धों** के साथ सहमत हैं कि आत्मा स्वयं प्रकाश है। न्याय वैशेषिक में आत्मा इन्द्रियों के अतिरिक्त किसी अन्य प्रकार से ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकती, यह नियम वाह्य तथा आन्तरिक दोनों ही विषयो पर लागू होता है। किन्तु **दिङ्नाग** अन्तःकरण या अन्तरिक इन्द्रिय की सत्ता को अस्वीकृत करते हुए इसे अपने मानस प्रत्यक्ष द्वारा स्थानान्तरित कर देते है। प्रत्येक विज्ञान विषयी और विषय में, एक ज्ञाता अंश में और एक ज्ञेय अंश में विभक्त होता है। किन्तु ज्ञाता अश पुनः एक अन्य विषयी और एक अन्य विषय में विभक्त नहीं होता। चेतना दो ऐसे भागों में विभक्त नहीं होती जिनमें से एक दूसरे का निरीक्षक हो। वाह्य प्रत्यक्ष के समान ही स्वसंवेदना की व्याख्या करना एक त्रुटि है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि प्रत्यक्ष के भेद के बारे में बौद्ध मत जैनादि दर्शनों की धारणा से भिन्न है। जैन, माध्व, बल्लभ मतानुयायी वेदान्ती तथा वैयाकरण दार्शनिक केवल सविकल्पक प्रत्यक्ष को ही वास्तविक मानते हैं, जबकि बौद्ध आचार्य केवल निर्विकल्पक को ही वास्तविक प्रत्यक्ष मानते हैं। उनके अनुसार निर्विकल्पक में स्वलक्षण (शुद्ध वस्तुमात्र) का ग्रहण होता है, जो शुद्ध संवेदन मात्र है। अतः निर्विकल्पक ही यथार्थ प्रत्यक्ष है। सविकल्पक विशेषण-विशेष्य और सम्बन्ध तथा शब्द आदि मिथ्या (असत्) विकल्पों का मिश्रण है, अतः उसे यथार्थ प्रत्यक्ष नहीं कहा जा सकता है। **आचार्य धर्मकीर्ति** के अनुसार प्रत्यक्ष प्रत्येक क्षण का नया होता है। यह शुद्ध संवेदन मात्र है, जो निर्विकल्पक ही है। सविकल्पक प्रत्यक्ष

निर्विकल्पक के बाद की प्रक्रिया है जिसमे गुण, जाति, नामादि सभी मानसिक कल्पनाओ का समावेश होता है। इस कारण उसका प्रत्यक्षण प्रक्रिया में समावेश नही किया जा सकता।

न्याय दर्शन मे प्रत्यक्ष के मुख्यत दो भेद माने गये है – 1 लौकिक प्रत्यक्ष और 2 अलौकिक प्रत्यक्ष।

जब इन्द्रिय का वस्तु के साथ साधारण ढग से सयोग होता है तो उससे **लौकिक प्रत्यक्ष** होता है। लौकिक प्रत्यक्ष साधारण प्रत्यक्ष है। इत्याकारक प्रत्यक्ष में वस्तु के उसी गुण का ज्ञान होता है, जो इन्द्रिय विशेष से मिल सकता है। लौकिक प्रत्यक्ष के दो भेद है– **क.** वाह्य लौकिक प्रत्यक्ष और **ख.** आन्तरिक या मानस प्रत्यक्ष।

वहिरिन्द्रियो द्वारा प्राप्त ज्ञान ही **वाह्य लौकिक प्रत्यक्ष** है। ज्ञान की वहिरिन्द्रियॉ पॉच हैं– 1. चक्षु, 2. घ्राण, 3. जिह्वा, 4. श्रोत और 5. त्वचा। इन विशेष इन्द्रियों से होने वाला विशिष्ट प्रत्यक्ष ज्ञान भी पॉच प्रकार का होता है– 1. चाक्षुष प्रत्यक्ष 2. घ्राणज प्रत्यक्ष, 3. रासन प्रत्यक्ष, 4. श्रावण प्रत्यक्ष और 5. त्वचा प्रत्यक्ष।

आन्तरिन्द्रिय या मन के साथ जब आन्तरिक अवस्थाओं का साधारण ढंग से संयोग होता है, तो उसे **आन्तरिक या मानस लौकिक प्रत्यक्ष** कहते है। मन के द्वारा हमें आत्मा और उसके सुख–दु ख, बुद्धि, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, एवं अधर्म आदि विशेष गुणों का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है।

एक अन्य दृष्टिकोण से लौकिक प्रत्यक्ष के तीन अन्य भेद माने गये है– क. निर्विकल्पक, ख. सविकल्पक और ग. प्रत्यभिज्ञा।

"निष्प्रकारकं ज्ञानं निर्विकल्पम्" अर्थात जो ज्ञन प्रकारता से शून्य हो, वह **निर्विकल्पक प्रत्यक्ष** है। इसमें वस्तु के स्वरूपमात्र का प्रत्यक्ष होता है और उसके नाम जाति आदि की प्रतीति नहीं होती। यहाँ वस्तु का पूर्ण ज्ञान न होकर सामान्य ज्ञानमात्र ही होता है। इसे व्याकृत ज्ञान भी कहा जाता है। इस ज्ञान में 'उस वस्तु का होना' मात्र ही ज्ञात होता है, न कि उसका गुण, धर्म आदि। इस प्रकार निर्विकल्पक प्रत्यक्ष गुण, धर्म से रहित वस्तु की स्थिति मात्र का आभास कराने वाला ज्ञान है। गुण, धर्म से रहित होने के कारण इस ज्ञान के विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता है। निर्विकल्पक ज्ञान का उदाहरण विशेष रूप से बालक तथा गूँगे आदि पुरूषों के ज्ञान को बताया गया है।

उल्लेखनीय है कि बौद्ध दर्शन तथा अद्वैत वेदान्त दर्शन केवल निर्विकल्पक को ही वास्तविक प्रत्यक्ष मानते हैं और उनके अनुसार निर्विकल्पक ही मुख्यतः प्रमाण है। न्याय और वैशेषिक दर्शन में निर्विकल्पक तथा सविकल्पक दोनों को प्रमाण माना गया है, परन्तु उनमें भी प्राचीन और नव्य भेद से निर्विकल्पक के प्रामाण्याप्रामाण्य के विषय में कुछ मतभेद है। प्राचीन परम्परा के अनुसार निर्विकल्पक को प्रमारूप माना जाता है, जैसा कि **"न्यायसूत्र"** (इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानव्यपदेश्यव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम्) और **"न्यायकन्दली"** में स्पष्ट किया गया है। परन्तु

नव्य न्याय मे आकर निर्विकल्पक ज्ञान के प्रमात्व के विषय में दो प्रकार के मत हो गये है। **"न्यायसिद्धान्त मुक्तावली"** में भ्रम भिन्न ज्ञान को प्रमा कहा गया है– **"भ्रमभिन्नं ज्ञानमत्रोच्यते प्रमा"**। इससे निर्विकल्पक ज्ञान भी भ्रमभिन्न होने के कारण प्रमा की श्रेणी में आ जाता है। अर्थात् **विश्वनाथ** को निर्विकल्पक ज्ञान का प्रमात्व अभीष्ट है।

परन्तु **नव्य न्याय** के सस्थापक **गंगेशोपाध्याय** के अनुसार निर्विकल्पक ज्ञान को न तो प्रमा कहा जा सकता है और न अप्रमा, क्योंकि उनके यहॉ प्रमात्व और अप्रमात्व दोनों विशिष्ट–वैशिष्ट्यावगाही ज्ञान हैं और निर्विकल्पक ज्ञान प्रकारतादिशून्य है। इसलिये वह प्रमा और अप्रमा दोनो से विलक्षण है।

न्याय दर्शन में **सविकल्पक प्रत्यक्ष** का लक्षण निरूपित करते हुए कहा गया है कि **"नामजात्यादियोजना सहितं सविकल्पकम्।"** अर्थात् जिसमें वस्तु के स्वरूप की प्रतीति के साथ उसके नाम, जाति आदि का भी ज्ञान होता है, उसको **सविकल्पक प्रत्यक्ष** कहते हैं अथवा **"सप्रकारंकं ज्ञानं सविकल्पकम्"** अर्थात् जो ज्ञन सप्रकारक, विशेष्य–विशेषण तथा सम्बन्ध ज्ञान के सहित हो, उसे सविकल्पक प्रत्यक्ष कहते हैं। सविकल्पक प्रत्यक्ष में विषय के प्रकार एवं धर्मादि का ज्ञान होता है। अर्थात निर्विकल्पक प्रत्यक्ष का ही विकसित रूप सविकल्पक प्रत्यक्ष है। इस प्रकार के प्रत्यक्ष में वस्तु का आभास ही नहीं बल्कि उसका पूर्ण अर्थ ज्ञात हो जाता है। उदाहरणार्थ, हम कोई आवाज सुने और यह भी समझें कि यह मेरे तोते की आवाज है, तो यह सविकल्पक प्रत्यक्ष होगा।

बौद्ध केवल निर्विकल्पक को ही प्रत्यक्ष ज्ञान मानते है। इस सन्दर्भ मे बौद्ध दर्शन में तीन मान्यताएँ है – 1 बसुबन्धु की, 2. दिङ्नाग की और 3. धर्मकीर्ति की। **बसुबन्धु "अर्थजन्यनिर्विकल्पक ज्ञान"** को प्रत्यक्ष मानते है। **दिङ्नाग ने** "कल्पनापोढ नामजात्यादि से असयुक्त ज्ञान" को प्रत्यक्ष कहा है, जबकि **धर्मकीर्ति** ने निर्विकल्पक तथा अभ्रान्त ज्ञान को प्रत्यक्ष कहा है– "कल्पनापोढमऽभ्रान्तं प्रत्यक्षम्।"[102]

बौद्ध दार्शनिक सविकल्पक ज्ञान को प्रत्यक्ष नहीं मानते हैं। सविकल्पक ज्ञान को प्रत्यक्ष न मानने के पीछे वे यह कारण बताते हैं कि हम लोग जाति को नहीं मानते हैं। निर्विकल्पक ज्ञान "स्वलक्षण" विषयक अर्थात् वस्तुमात्र विषयक होने से वस्तुमात्र से जन्य है, अतः अर्थज है। इसलिए अर्थज होने से उसको प्रमाण माना जा सकता है, परन्तु सविकल्पक ज्ञान तो नामजात्यादि योजना सहित होता है, उसमें जाति का भान होता है। इसलिए "जाति" को भी उसका कारण मानना होगा। परन्तु बौद्धमत में जाति कोई भावभूत पदार्थ नहीं है। इसलिए उससे उत्पन्न होने वाला सविकल्पक ज्ञान "अर्थज" नहीं है और अर्थज न होने से उसे प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं कहा जा सकता है।[103]

यहाँ **नैयायिक** यह प्रश्न उठाते हैं कि जब बौद्ध "जाति " या "सामान्य" को नही मानते हैं, तब "जाति" का काम कैसे निकालते हैं?

इस प्रश्न के उत्तर मे **बौद्ध दार्शनिकों** का कहना है कि हम लोग **"अपोह"** की कल्पना करते है। अपोह शब्द का अर्थ अतद्व्यावृत्ति अर्थात तदभिन्न भिन्नत्व है। तत् शब्द से घट आदि का ग्रहण करना चाहिए। अतद् माने अघट अर्थात घट भिन्न सम्पूर्ण जगत, उससे भिन्न फिर घट ही होगा। इसलिए प्रत्येक घट, अतद्व्यावृत्त या तद्भिन्न से भिन्न है, इसी कारण घट कहलाता है। इस प्रकार प्रत्येक घट मे "अतद्व्यावृत्ति" या "तदभिन्नभिन्नत्व" (जिसे अपोह भी कहते हैं) होने के कारण ही एकाकारणता की प्रतीति होती है। अतएव सामान्य (जाति) का कार्य अपोह से निकल आता है। इसलिए जाति को एक अलग पदार्थ मानने की आवश्यकता नही है।

परन्तु **नैयायिक** उपर्युक्त मत का खण्डन करते है। वे कहते है कि बौद्ध घटादि में अनुगत प्रतीति का हेतु जो "अपोह" बताते है, वह ठीक नहीं है, क्योंकि यह बडा वक्रमार्ग है। साधारणतः दशघट व्यक्तियो को देखने पर देखने वाले के मन में उनकी समानता की ही प्रतीत होती है, अतद्व्यावृत्ति या अघट भिन्नत्व की प्रतीति नही होती। दूसरी बात यह है कि 'सर्व' आदि कुछ ऐसे शब्द भी है जिनका अर्थ अपोह द्वारा व्यक्त नहीं हो सकता। अतएव इस एकाकार प्रतीति का कारणभावभूत सामान्य को मानना चाहिए, अपोह को नहीं **मीमांसकों** ने भी नैयायिकों के इस मत का समर्थन किया है। इस प्रकार नैयायिक यह सिद्ध करते हैं कि निर्विकल्पक ज्ञानोपरान्त सविकल्पक ज्ञान होता है, जिसमें पदार्थ की जाति आदि का ज्ञान होता है।

न्याय दर्शन मे **प्रत्यभिज्ञा** को भी प्रत्यक्ष का एक प्रमुख प्रकार माना गया है। प्रत्याभिज्ञा प्रत्यक्ष में स्मृति एवं इन्द्रिय दोनों के सहयोग से ज्ञान मिलता है। प्रत्यभिज्ञा का लक्षण है– **"तत्तेदन्तावगाहिनी प्रतीतिः प्रत्यभिज्ञा।"** अर्थात् "तत्ता" और "इदन्ता" दोनों का अवगाहन कराने वाली प्रतीति "प्रत्यभिज्ञा" है। तत्ता का अर्थ 'तद्देश' और 'तत्काल सम्बन्ध' का अर्थ 'एतद्देश' और 'एतत्काल सम्बन्ध' है। इस प्रकार जिसमें पूर्वदेश, पूर्वकाल और वर्तमान देश, वर्तमान काल दोनों की प्रतीति हो, उस प्रतीति को प्रत्यभिज्ञा कहते हैं। दूसरे शब्दों में, पूर्वानुभूति के आधार पर किसी व्यक्ति या वसतु को पहचान लेना ही प्रत्यभिज्ञा है। जैसे **"सोऽयं देवदत्तः"** यह प्रत्यभिज्ञा का उदाहरण है। यहाँ "सः" पद देवदत्त की पूर्वदृष्ट देश कालादि विशिष्ट अवस्था को और "अय" पद देवदत्त की वर्तमान देशकालादि विशिष्ट अवस्था को प्रकाशित करता है। इसमें पूर्वकाल, पूर्व देश का द्योतक "सः" अंश स्मरणात्मक है और उसकी उपपत्ति पूर्वदर्शनजन्य संस्कार के उद्बोधन से होती है। इसके विपरीत "अयं" पद से बोधित एतद्देश, एतत्कालरूप प्रत्यक्षात्मक है और उसकी उत्पत्ति इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से होती है। इस प्रकार प्रत्याभिज्ञा की उत्पत्ति में संस्कार और इन्द्रिय सन्निकर्ष दोनों ही कारण हैं। इस प्रकार प्रत्यभिज्ञा स्मृति और अनुभव का उभयात्मक ज्ञान है।

न्याय दर्शन मे लौकिक प्रत्यक्ष के साथ ही **आलौकिक प्रत्यक्ष** की भी कल्पना की गयी है। अलौकिक प्रत्यक्ष में इन्द्रियों के बिना ही साक्षात् ज्ञान होता है। जब किसी इन्द्रिय का सम्पर्क किसी वस्तु के साथ असाधारण ढंग से होता है, तो उससे प्राप्त ज्ञान अलौकिक प्रत्यक्ष होता है।

उदाहरणार्थ, बिना स्पर्श किये ऑख से देखकर ही वर्फ का ठण्डापन तथा घास की कोमलता का ज्ञान हो जाता है। इस प्रकार के ज्ञान को अलौकिक प्रत्यक्ष कहते हैं। अलौकिक प्रत्यक्ष के तीन प्रकार माने गये है– क– सामान्य लक्षणाजन्य प्रत्यक्ष, ख– ज्ञान लक्षणाजन्य प्रत्यक्ष और, ग– योगज प्रत्यक्ष।

सामान्य धर्म के द्वारा जो प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, वह **सामान्य लक्षणाजन्य प्रत्यक्ष** कहलाता है। जब हम एक वस्तु का ज्ञान प्राप्त कर लेते है, तो उसमे रहने वाले सामान्य धर्म के द्वारा उस प्रकार (सजातीय) की समस्त वस्तुओं का **'संयुक्त-समवायसम्बन्ध'** से सामान्य ज्ञान हो जाता है। जैसे, महानस में धूम और वह्नि को देखकर 'संयुक्त-समवाय-सम्बन्ध' द्वारा वहाँ पर धूमत्व सामान्य से समस्त धूमो का और वह्नित्व सामान्य से समस्त वह्नियों का प्रत्यक्ष हो जाता है, तभी धूम सामान्य और वह्नित्व का प्रत्यक्ष हो जाता है, तभी धूम सामान्य और वह्नि सामान्य की व्याप्ति का ग्रहण होता है। **रघुनाथ शिरोमणि** आदि नैयायिक सामान्य लक्षणाजन्य प्रत्यक्ष को नही मानते है। किन्तु जो लोग सामान्य लक्षणा प्रत्यासत्ति (सन्निकर्ष) मानते हैं, उनके अनुसार सामान्य लक्षणा प्रत्यासत्ति मानने पर सामान्य लक्षण जन्य प्रत्यक्ष को मानना आवश्यक है।

दूसरा अलौकिक प्रत्यक्ष ज्ञान **लक्षणाजन्य प्रत्यक्ष** है। इसमें किसी एक इन्द्रिय को किसी दूसरी इन्द्रिय के विषय का ज्ञान अतीत के स्मरण के आधार पर होता है। जैसे, **'सुरभिचन्दनखण्डम्'।** यहॉ चन्दन में व्याप्त सुगन्ध का ज्ञान घ्राणेन्द्रिय द्वारा होना चाहिए, परन्तु नेत्र से देखकर हम कह उठते हैं कि चन्दन सुगन्धित है। यहॉ नेत्रेन्द्रिय घ्राणेन्द्रिय का कार्य करती है। पूर्वानुभूति के आधार पर ही हमें इस प्रकार का ज्ञान प्राप्त होता है। अतीत ज्ञान पर आधारित होने के कारण इसे ज्ञानलक्षणा कहते हैं। साधारणतः एक इन्द्रिय दूसरी इन्द्रिय के विषय का अनुभव नहीं करती, जबकि इसमें ऐसा ही होता है। इस कारण इसे अलौकिक कहते हैं।

सामान्य लक्षणाजन्य प्रत्यक्ष और ज्ञानलक्षणाजन्य प्रत्यक्ष में प्रमुख अंतर यह है कि सामान्य लक्षणाजन्य प्रत्यक्ष में धूमत्व और वह्नित्व रूप सामांन्य के आश्रयभूत जो धूम और बह्नि है, उनके साथ इन्द्रिय का सामान्य द्वारा अलौकिक सन्निकर्ष होता है और सामान्य के द्वारा ही व्यवहित, विप्रकृष्ट, अतीत और अनागत धूम और वह्निरूप आश्रय के साथ भी सन्निकर्ष होता है, जबकि ज्ञानलक्षणाजन्य प्रत्यक्ष में आश्रय के साथ नही अपितु जिसका ज्ञान होता है, उसी के साथ सन्निकर्ष होता है। 'सुरभिचन्दनखण्डम्' इस प्रतीति में चक्षुरिन्द्रिय का चन्दन-खण्ड के साथ नही, अपितु साक्षात् सौरभ के साथ "ज्ञानलक्षणाप्रत्यासत्ति" से सन्निकर्ष होता है। उक्तं च–

"आसत्तिराश्रयाणान्तु सामान्यज्ञानमिष्यते।
विषयीयस्य तस्यैव व्यापारो ज्ञानलक्षणाः"[104]

साधारण या असाधारण प्रत्यक्ष के बिना सिद्धि के प्रभाव से योगियों को प्रत्यक्षरूप में जो ज्ञान होता है, उसे **योगज प्रत्यक्ष** कहते हैं। योगाभ्यास द्वारा अलौकिक शक्ति प्राप्त कर लेने वाले ही यह अनुभव कर सकते हैं। इस शक्ति से उन्हें भूत, भविष्य, सूक्ष्म, गूढ़ निकटस्थ, दूरस्थ

एव बाधित वस्तुओ का सभी प्रकार का ज्ञान हो जाता है। इनके सम्मुख समय या दूरी का कोई व्यवधान नही रहता है। "युक्त" और "युञ्जान" के भेद से योगी दो प्रकार के होते है। "युक्त योगी" को सर्वदा ज्ञान रहता है और "युज्जान" योगी को चिन्ता करने से अर्थ का ज्ञान होता है—**"युक्तस्य सर्वदाभानं चिन्ता सहकृतो परः।"**[105]

वैशेषिक दर्शन मे न्याय दर्शन के समान प्रत्यक्ष के निर्विकल्पक एवं सविकल्पक नामक दो भेद माने गये है तथा इनकी व्याख्या भी न्याय के समान ही की गयी है। न्याय की तरह वैशेषिक भी मानते हैं कि प्रत्यक्ष के निर्विकल्पक एवं सविकल्पक, ये दोनों ही भेद प्रामाणिक है।

सांख्य–योग दर्शन मे प्रत्यक्ष के भेद के बारे में बौद्ध अवधारण का खण्डन किया गया है। बौद्धो के विरूद्व साख्याचार्य **अनिरूद्ध** का कहना है कि प्रत्यक्ष में पदार्थ का सीधा व तात्कालिक ग्रहण होता है। यह ग्रहण या तो निर्विकल्पक हो सकता है या सविकल्पक। निर्विकल्पक में पदार्थ के नाम, जाति आदि का ग्रहण नही होता और सविकल्पक ज्ञान मे अतीत स्मृति द्वारा पदार्थ के नाम, गुण आदि का स्मरण होने पर पदार्थ का निर्णय होता है।[106]

वाचस्पति मिश्र का मत है कि निर्विकल्पक प्रत्यक्ष में विशेष्य–विशेषण आदि अन्य प्रकारो के सम्बन्ध से रहित शुद्व वस्तु का ज्ञान होता है और सविकल्पक में पदार्थ के सामान्य व विशिष्ट गुणो के साथ पदार्थ का निर्णयात्मक ज्ञान होता है। निर्विकल्पक प्रत्यक्ष बाह्य इन्द्रियों का कार्य है, जबकि सविकल्पक प्रत्यक्ष मनस् का कार्य है, क्योंकि मनस् का कार्य ही संकल्पविकल्पात्मक है।[107] **विज्ञान भिक्षु** का मत वाचस्पति मिश्र से भिन्न है। इनके अनुसार यद्यपि निर्विकल्पक एवं सविकल्पक दोनों प्रामाणिक है, पर सविकल्पक भी निर्विकल्पक की तरह इन्द्रियजन्य है, मनोजन्य नही। स्वमत की पुष्टि मे उन्होंने कहा कि **"योगभाष्य"** में भी **व्यासदेव** ने सविकल्पक ज्ञान की इन्द्रियजन्यता स्थापित की है।

नैयायिको की ही भॉति **मीमांसकों** ने भी प्रत्यक्ष के दो भेद माने हैं–1 निर्विकल्पक, और, 2. सविकल्पक। मीमांसा दर्शन के दोनों सम्प्रदायों में इनकी व्याख्या की गई है।

कुमारिल भट्ट ने **निर्विकल्पक प्रत्यक्ष** को शुद्ध वस्तुविषयक बताया है। शुद्व वस्तु से उत्पन्न प्राथमिक आलोचनात्मक ज्ञान को निर्विकल्पक कहते हैं, जो बालक अथवा मूक व्यक्ति के ज्ञान के सदृश्य होता है।[108] इस ज्ञान में उस समय "सामान्य" तथा "विशेष" इन दोनों में से कोई भी निर्विकल्पक ज्ञान में भासित नहीं होता है, प्रत्युत इन दोनों के आधारभूत व्यक्ति का ही ज्ञान होता है। दूसरे शब्दों में, निर्विकल्पक प्रत्यक्ष में सभी तत्वों का ज्ञान अभेदात्मक रूप से होता है। इस प्रकार भाट्ट मीमांसकों के अनुसार प्रथम इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष के अनन्तर ही सामान्य, विशेष के विभाग से रहित सम्मुग्धवस्तुमात्रगोचर ज्ञान ही निर्विकल्पक प्रत्यक्ष है।

भाट्ट मीमांसक नैयायिकों की ही भाँति **सविकल्पक प्रत्यक्ष** को प्रत्यक्ष का दूसरा भेद मानते हैं। सविकल्पक प्रत्यक्ष मे वस्तु या प्राणी के नाम, जाति, गुण आदि का ज्ञान रहता है। कुमारिल के अनुसार सविकल्पक प्रत्यक्ष में वस्तु के ज्ञान के साथ ही असमान पदार्थों से उसके

भेद का ग्रहण भी हो जाता है। सविकल्पक प्रत्यक्ष को लेकर बौद्धो व भाट्ट मीमांसको में मतभेद है।

बौद्ध मत मे निर्विकल्पक ही प्रत्यक्ष है, सविकल्पक नहीं। बौद्ध जात्यादि सम्बन्ध से रहित तथा भ्रम से भिन्न ज्ञान को प्रत्यक्ष मानते हुए निर्विकल्पक को प्रत्यक्ष मानते हैं, क्योंकि सविकल्पक में जात्यादि का सम्बन्ध रहता है जो कि उन्हें मान्य नहीं है।

कुमारिल ने उपर्युक्त बौद्ध मत का खण्डन किया है। उनके अनुसार "निर्विकल्पक ही प्रत्यक्ष होता है", यह नियम नहीं है। सविकल्पक भी इन्द्रिय व्यापार के रहते हुए ही उत्पन्न होता है, अतः यह भी प्रत्यक्ष होगा। इन्द्रियार्थ सन्निकर्षज होने के कारण सविकल्पक की प्रत्यक्षता सिद्ध है।[109]

प्राभाकर मीमांसक नैयायिकों एवं भाट्ट मीमांसकों की तरह प्रत्यक्ष के दो भेद मानते हैं—1. निर्विकल्पक, और 2. सविकल्पक।

प्रभाकर के अनुसार **निर्विकल्पक प्रत्यक्ष** में सामान्य व विशेष से युक्त शुद्ध, वस्तु के स्वरूप मात्र का ग्रहण होता है। निर्विकल्पक प्रत्यक्ष अन्य पदार्थों की स्मृत से रहित होता है। यह प्रत्यक्ष की आरम्भिक चेतनात्मक स्थिति है। निर्विकल्पक प्रत्यक्ष वर्गगत लक्षणों तथा विशिष्ट लक्षणों, दोनो का बोध कराता है।

प्रभाकर के मत पर यह आक्षेप किया जाता है कि निर्विकल्पक में सामान्य व विशेष गुणों का ग्रहण होता है, पर उनके परस्पर भेद का ग्रहण नही होता, ऐसा क्यों? इस आक्षेप के समाधान मे प्रभाकर कहते हैं कि यह आवश्यक नही है कि दो पदार्थों के ज्ञान में उनके परस्पर भेद का भी ग्रहण हो।

प्रभाकर का मत है कि **सविकल्पक प्रत्यक्ष** का रूप मिश्रित है। उसके अन्दर स्मृति का अंश अन्तर्निहित है, किन्तु स्मृति का अंश उस पदार्थ से सम्बन्ध नहीं रखता जिसका प्रत्यक्ष हुआ है, बल्कि उन अन्य पदार्थों से रखता जिनके साथ इसकी समता है। भाट्टों की तरह प्राभाकरों का भी सविकल्पक प्रत्यक्ष के बारे में बौद्धों से मतभेद है। बौद्ध सविकल्पक ज्ञान की प्रत्यक्षता का निराकरण करते है, क्योंकि उनके अनुसार सविकल्पक ज्ञान, जाति, गुण, क्रिया, द्रव्य तथा नाम– इन पॉच कल्पनाओं से युक्त माना जाता है– **"पंचेताः कल्पनाभवन्ति जातिकल्पना, गुणकल्पना, क्रियाकल्पना, नामकल्पना, द्रव्यकल्पना चेति।"**

प्राभाकर मीमांसको ने बौद्धों के उपर्युक्त मत का खण्डन किया है। **शालिकनाथ मिश्र** के अनुसार बौद्धों द्वारा सविकल्पक ज्ञान को प्रत्यक्ष न मानना नितान्त अनुपपन्न एवं अग्राहय है।[110] बौद्ध सविकल्पक को जो कल्पनाओं से युक्त मानते हैं, वह भी ठीक नहीं है, क्योंकि ये कल्पनायें नहीं अपितु जात्यादि का वस्तुतः सद्भाव होता है। जाति तथा गुण से विशिष्ट पदार्थ का भी प्रत्यक्ष होता है। जाति एवं गुण द्रव्य से भिन्न नहीं, ऐसा मानना सर्वथा अनुचित है, क्योंकि **अन्वय-व्यतिरेक** के आधार पर जाति तथा गुण की द्रव्य से पृथक सत्ता सिद्ध होती है। कर्म का

प्रत्यक्ष प्रभाकर नही मानते। अत इस पक्ष में कोई मतवैभिन्य नही है।[111] पूर्वनिर्दिष्ट "द्रव्यकल्पना" पद के द्वारा अवयवी की सत्ता को ग्रहण किया जाता है। अवयवों से भिन्न अवयवी की सत्ता सर्वसम्मत है। अतः घट., पट., दण्डी एव विषाणी इत्यादि रूपों में द्रव्य तथा अवयवी का जो ज्ञान होता है, वह इन्द्रिय व्यापार से सम्बन्धित होने के कारण प्रत्यक्षता से वंचित नहीं किया जा सकता।[112] नाम कल्पना का सम्बन्ध जिस वस्तु के साथ होता है, उसका भी प्रत्यक्ष सर्वसम्मत है। सज्ञा के सम्बन्ध से उसकी प्रत्यक्षता समाप्त नही होती। दूसरी बात यह भी है कि जाति तथा गुण पदार्थ वस्तुतत्व के निरूपक माने जाते है। उनके बिना किसी वस्तु का प्रत्यक्ष नही हो सकता। अत सविकल्पक ज्ञान का "कल्पनापोढ" पद के द्वारा निरास संभव नहीं है। "अभ्रान्त" पद भी निरर्थक हैं, क्योंकि भ्रमात्मक ज्ञान होता ही नही है।[113]

प्राभाकर मीमासक बौद्धो के योगज ज्ञान को प्रामाणिक नही मानते। वे बौद्धों के इस मत की आलोचना करते हैं कि योगियो का ज्ञान प्रत्यक्ष है। बौद्धों का कहना है कि योगियो को अपनी प्रतिभा के द्वारा जो ज्ञान उत्पन्न होता है, वह प्रत्यक्ष है। प्राभाकर इसका खण्डन करते हुए कहते हैं कि यह कथन प्रायः सभी दर्शनों के विरूद्ध है, क्योकि इन्द्रियादि के द्वारा जो प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, वह किसी की प्रतिभा अथवा निरन्तर चिंतन से नहीं हो सकता, क्योंकि प्रत्यक्ष एक प्रमाण है और योगियो का चिन्तनजन्य ज्ञान प्रमाणाभास अथवा स्मरणमात्र है। 'काकतालीन्याय' से किसी एक प्रातिभ ज्ञान का सवाद सुलभ हो जाने पर भी तथाविध संवाद अन्यत्र सुलभ न होने के कारण प्रातिभज्ञानो को नियमत प्रमाण नही माना जा सकता है।

इस प्रकार निष्कर्ष के रूप मे यह कहा जा सकता है कि कुमारिल व प्रभाकर ने प्रत्यक्ष के दोनों प्रकारों (निर्विकल्पक एव सविकल्पक) को प्रामाणिक माना है। दोनो इन्द्रिय-विषय के सन्निकर्ष से उत्पन्न होते हैं, अतः दोनों यथार्थ हैं।

अद्वैत वेदान्ती धर्मराजाध्वरीन्द्र ने प्रत्यक्ष के विषयत्व पक्ष को लेकर प्रत्यक्ष के दो भेद किये हैं– **निर्विकल्पक एवं सविकल्पक प्रत्यक्ष।** विकल्प का अर्थ है, विविध कल्प, अनेक प्रकार। प्रकार विशेषण या अनुवृत्ति है तथा उससे पृथक् वस्तु विशेष्य है। इन दोनों का अवगाहन कराने वाला ज्ञान सविकल्पक होता है और जो वैसा नहीं है अर्थात विविध कल्प से रहित है, वह निर्विकल्पक है।[114] 'गो' इस आकार का गोत्वविशिष्ट गो का ज्ञान केवल गोत्व का गो में ग्रहण रूप हो तो निर्विकल्पक होता है और अनुवृत्तिविशिष्ट गोत्व प्रकार का अवगाहक हो तो 'गो' ऐसा ज्ञान सविकल्पक होता है। जहाँ ग्राहक इन्द्रिय संस्कारोद्‌बोध से सहकृत नहीं होता, वह निर्विकल्पक ज्ञान होता है तथा संस्कारोद्‌बोध से सहकृत इन्द्रिय से उत्पन्न होने वाला ज्ञान सविकल्पक होता है। **विकल्प** का अर्थ संसर्ग या वैशिष्ट्य भी होता है। जिस ज्ञान का विषय वैशिष्ट्य होता है, वह सविकल्पक ज्ञान है। जैसे "मैं घट को जानता हूँ" इस आकार के ज्ञान का विषय है– घट रूप विशेषण से विशिष्ट घटज्ञान। विशेषण-विशेष्य सम्बन्ध ही वैशिष्ट्य या संसर्ग है। उक्त ज्ञान में वही विषय है। संसर्ग या वैशिष्ट्य का अवगाहक (ज्ञापक) होना ही ज्ञान का विकल्प से युक्त

होना है। ससर्ग को विषय न करना अर्थात् ससर्ग या विशेषण विशेष्य सम्बन्ध का ज्ञापक न होना ज्ञान का निर्विकल्पक होना है। ऐसे निर्विकल्पक ज्ञान का उदाहरण है **"सोऽयं देवदत्तः"** (लौकिक) और **"तत्त्वमसि"** (वैदिक) इत्यादि वाक्य से उत्पन्न ज्ञान– **"सविकल्पकं वैशिष्ट्यावगाहि ज्ञानं। यथा घटमहं जानामीत्यादि ज्ञानम्। निर्विकल्पकं तु संसर्गानवगाहि ज्ञानम्। यथा– सोऽयं देवदत्तः तत्त्वमसीत्यादि–वाक्यजन्यं ज्ञानम्।"**[115]

अद्वैत वेदान्त के अनुसार **"सोऽयं देवदत्तः"** वाक्य मे "सः" का अर्थ है तत्काल विशिष्ट स्थान विशिष्ट देवदत्त एव **"अयं"** का अर्थ है वर्तमान काल विशिष्ट एवं वर्तमान देश विशिष्ट देवदत्त। यदि इस प्रक्रिया के अनुसार "सोऽय देवदत्तः"– इस स्थल पर अतीत काल एवं अतीत देश विशिष्ट देवदत्त वर्तमान काल विशिष्ट एवं वर्तमान देश विशिष्ट देवदत्त से अभिन्न है, यदि ऐसा बोध होता है, तो इस ज्ञान को भी सविकल्पक माना जा सकता था, किन्तु यहाँ पर बिना विशेषण सम्बन्ध के ज्ञान होता है, केवल देवदत्त मात्र की प्रतीति होती है और इस प्रतीति में **भागत्याग लक्षणा** भी सहायता कर देती है। अतः ऐसे स्थल पर शुद्ध देवदत्त मात्र की प्रतीति होती है, किसी विशेषण विशिष्ट देवदत्त की प्रतीति नही होती है। अतः यह ज्ञान निर्विकल्पक प्रत्यक्ष है।

इसी प्रकार **"तत्त्वमसि"** इस वैदिक उदाहरण मे भी केवल चैतन्य मात्र का बोध होता है।"तत्" शब्द का मुख्यार्थ है– परोक्षत्व, सर्वज्ञत्व आदि उपाधियो से विशिष्ट चैतन्य अथवा ब्रह्म और "त्वम्" शब्द का मुख्य अर्थ है– अल्पज्ञत्व, अपरोक्षत्व आदि उपाधियों से विशिष्ट चैतन्य अथवा जीव। ये दोनों विरूद्ध धर्मक होने के कारण एक नहीं हो सकते। इसलिए यहॉ पर भी भागत्यागादि लक्षणा से विशेषण अंश– परोक्षत्व और अल्पज्ञत्व आदि को छोडकर केवल चैतन्य मात्र का बोध होता है। इसलिए यह ज्ञान भी निर्विकल्पक ही है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर निष्कर्षत यह कहा जा सकता है कि अद्वैत वेदान्त मे **निर्विकल्पक प्रत्यक्ष को संसर्गावगाहि ज्ञान तथा सविकल्पक प्रत्यक्ष को वैशिष्ट्यावगाहि ज्ञान कहा गया है।**

अद्वैत वेदान्त का यह निर्विकल्पक प्रत्यक्ष न्याय व बौद्ध दर्शन के निर्विकल्पक प्रत्यक्ष से भिन्न है। न्याय दर्शन का निर्विकल्पक प्रत्यक्ष, प्रत्यक्ष ज्ञान का अंश माना जा सकता है। उसमें "इमे घट घटत्वे" यह बोध होता है। सविकल्पक प्रत्यक्ष में इसकी पूर्णता होती है। उस समय घट एवं घटत्व का एक साथ ज्ञान होता है। इस प्रकार जहॉ न्याय और वैशेषिक दर्शन मे निर्विकल्पक तथा सविकल्पक दोनों को ही प्रमाण माना गया है, वहॉ बौद्धो की भाँति अद्वैत वेदान्त दर्शन केवल निर्विकल्पक को ही प्रत्यक्ष मानता है। इन दोनों के अनुसार निर्विकल्पक ही मुख्यतः प्रमाण है। लेकिन **बौद्धों** व **वेदान्तियों में प्रमुख अंतर यह है कि अद्वैत वेदान्त** के मतानुसार निर्विकल्पक प्रत्यक्ष **निर्विशेष सन्मात्र** अर्थात **"शुद्ध"** सत् का ग्रहण कराता है, जबकि

हैं। इनके अनुसार साक्षी पद का अर्थ साक्षिजन्य है। किन्तु **अर्थदीपिकाकार** का कथन है कि चैतन्य में जन्य विशेषण लगाना संगत नहीं है, क्योंकि चैतन्य अजन्य होता है और जन्य वस्तु अनित्य होती है। चैतन्य नित्य है, अतः जन्य नहीं हो सकता। इसलिए जीवसाक्षि, ईश्वरसाक्षि– यही कहना संगत होगा।

इस सम्बन्ध में **धर्मराजाध्वरीन्द्र** का कहना है कि चैतन्य रूप ज्ञान स्वरूपतः अजन्य है, किन्तु वृत्तिरूपज्ञान या वृत्तिविशिष्टज्ञान उत्पन्न होता है। अतः निरूपाधिक चैतन्य के उत्पन्न न होने पर भी अद्वैत वेदान्त में वृत्ति से विशिष्ट चैतन्य उत्पन्न होता है, यह माना जाता है। इसलिए **शिखामणिकार** का जीवसाक्षिजन्य एवं ईश्वर साक्षिजन्य भेद करना असंगत नहीं है। वहॉ पर "जन्य" पद जोडना आवश्यक है।

अद्वैत वेदान्त में जीव और जीवसाक्षी तथा ईश्वर एवं ईश्वरसाक्षी में भेद प्रदर्शित करने के लिए दो वस्तुएँ मानी गयी है– एक **विशेषण** एवं दूसरी **उपाधि।** विशेषण वह है जो वस्तु के साथ रहता है और अन्य वस्तुओं से उसका भेद प्रदर्शित करता है। जैसे–"रूप विशिष्ट घट अनित्य है,"– इस वाक्य में रूप घट के साथ रहेगा और उस घट को अन्य घट आदि द्रव्यों से व्यावृत्त (अलग) करता रहेगा। उपाधि की यह विशेषता होती है कि वह वस्तु के साथ नहीं रहती, किन्तु वस्तु को अन्य वस्तुओं से अलग कर देती है। जैसे– कर्णशष्कुलि से अवच्छिन्न (युक्त) आकाश श्रोत है। आकाश निरवयव है और कर्ण (कान) सावयव। इन दोनों का सम्बन्ध नहीं हो सकता, फिर भी कर्ण उपाधि आकाश को महाकाश से व्यावृत्त करती है। इसलिए कर्णशष्कुलि उपाधि है और रूप विशेषण है। इसी प्रकार जीव एवं जीवसाक्षी तथा ईश्वर एवं ईश्वरसाक्षी को भी समझा जा सकता है। इन दोनों में परस्पर भेद करने के लिए अन्तःकरण को कारण माना जाता है। **जब अन्तःकरण विशेषण से विशिष्ट चैतन्य होता है, तब उसे जीव कहते है, और अन्तःकरण उपाधि से युक्त चैतन्य को जीवसाक्षी कहते हैं।** प्रत्येक जीवात्मा का साक्षी भिन्न है, क्योंकि उसे एक मानने पर, मैत्र को ज्ञात हुए विषय का अनुसन्धान (स्मरण) चैत्रादि अन्य व्यक्तियों को भी होने लगेगा– **"अयं च जीवसाक्षी प्रत्यात्मं नाना। एकत्वे मैत्रावगते चैत्रस्याप्यनुसन्धान प्रसंगः।"**[118]

जीव एवं जीवसाक्षी के समान ही **ईश्वर** एवं **ईश्वरसाक्षी** में भी **भेद** है। माया से विशिष्ट चैतन्य ईश्वर है एवं मायोपहित चैतन्य ईश्वरसाक्षी है– **"ईश्वरसाक्षि तु मायोपहितं चैतन्यम्।"**[119] जीवसाक्षी का भेदक अन्तःकरण उपाधि एवं ईश्वरसाक्षी का भेदक माया उपाधि है। यह माया से उपहित चैतन्य एक ही है– **"तच्चैकम्"**[120] अनेक नहीं, क्योंकि माया उपाधि भी एक ही है। जीवसाक्षी की अन्तःकरण उपाधियाँ पृथक्-पृथक् एवं अनेक हैं, अतः जीवसाक्षी भी अनेक है। माया अनादि है, इसलिए ईश्वरसाक्षी भी अनादि होगा। अन्तःकरण की वृत्ति भी सादि है, किन्तु यह उपाधिरूप से ही सादि है, वस्तुतः नही। अतः ईश्वरसाक्षी की भाँति जीव साक्षी भी अनादि है। इस प्रकार अन्तःकरण की उपाधि से युक्त चैतन्य से जन्य ज्ञान जीवसाक्षी प्रत्यक्ष तथा माया की

उपाधि से विशिष्ट चैतन्य से उत्पन्न ज्ञान ईश्वरसाक्षी प्रत्यक्ष है। चेतन रूप होने से प्रत्यक्ष ज्ञान के ये दोनों प्रकार भी मूलतः एक ही है।

प्रत्यक्ष के अद्वैत वेदांत में दो अन्य भेद भी माने गये है – 1. **इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष** और 2. **इन्द्रियाजन्य प्रत्यक्ष।** अद्वैत वेदान्त में मन के इन्द्रियत्व का तथा कर्मेन्द्रियों में ज्ञान जनकत्व का निराकरण करके केवल घ्राण, रासन, चक्षु, श्रोत एवं त्वक् इन पाँच इन्द्रियों को ही माना गया हैं। इन पाँच इन्द्रियो से उत्पन्न हुआ प्रत्यक्ष ज्ञान इन्द्रियजन्य है तथा पंचज्ञानेन्द्रियों से उत्पन्न न हुआ प्रत्यक्ष ज्ञान इन्द्रियाजन्य प्रत्यक्ष है। अद्वैत वेदान्त में सुखादि प्रत्यक्ष को इन्द्रियाजन्य प्रत्यक्ष माना गया है, क्योकिं इस सम्प्रदाय में मन के इन्द्रियत्व का निराकरण किया गया है–**"तत्रेन्द्रियाजन्यं सुखादि-प्रत्यक्षम्, मनस् इन्द्रियत्व-निराकरणात्।"**[121]

बौद्ध दार्शनिकों का कहना है कि इन्द्रियाँ गोलक हैं। वे विषयों को प्राप्त हुए बिना ही विषयज्ञान कराती है। किन्तु इस मत का निराकरण करते हुए **धर्मराजाध्वरीन्द्र** कहते हैं कि सम्पूर्ण ज्ञानेन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों से सयुक्त होकर ही स्व-स्व विषय का ज्ञान उत्पन्न करती है–**"सर्वाणि चेन्द्रियाणि स्व-स्व विषयसंयुक्तान्येव प्रत्यक्षज्ञानं जनयन्ति।"**[122] परन्तु इनमें से घ्राण, रासन, और त्वक्– ये तीन इन्द्रियाँ नासिकाग्र, जिह्वाग्र और समस्त शरीरादि अपने-अपने स्थान में स्थित रहती हुई ही गन्ध, रस और स्पर्श विषयों का क्रमशः प्रत्यक्ष (अनुभव) उत्पन्न करती हैं, परन्तु चक्षु और श्रोत दो इन्द्रियाँ अपने गोलकादि स्थान से बाहर निकल कर विषय-प्रदेश में पहुँचती हैं और क्रमशः रूप और शब्द को ग्रहण करती हैं। चक्षु के समान परिच्छिन्न होने वे श्रोत का भी भेरी, मृदंगादि स्थानों में गमन संभव है। इसी कारण 'भेरी' शब्द को मैंने सुना; 'मृदंगध्वनि को मैने सुना' अनुभव होता है। **नैयायिक 'बीचीतरंगन्याय'** से कर्णशष्कुली के प्रदेश में अनन्त शब्दों की उत्पत्ति मानते है। परन्तु इस प्रकार मानने में **गौरव** है तथा 'मैंने भेरी का शब्द सुना' इस प्रत्यक्ष ज्ञान में भ्रम की कल्पना कराना भी **दूसरा गौरव** है। इस प्रकार न्यायमत दोषपूर्ण सिद्ध होता है।

इस अध्याय में अब तक के सम्पूर्ण विवेचन को **समालोनात्मक ढंग से निष्कर्ष के रूप में** प्रस्तुत करते हुए कहा जा सकता है कि **केशव मिश्र** जैसे कुछ आचार्यो को छोडकर अधिकांश विद्वानों ने **प्रत्यक्ष** को **प्रमा** और **प्रमाण** दोनों का बोधक माना है। गौतम, वैशेषिक एवं भाट्ट मीमांसकों सहित अनेक दार्शनिकों ने इन्द्रियार्थ सन्निकर्षोत्पन्न ज्ञान को प्रत्यक्ष माना है, जबकि नव्य नैयायिक, प्रभाकर मीमांसक, कुछ अद्वैत वेदान्ती तथा बौद्ध दार्शनिक साक्षात्प्रतीति को ही प्रत्यक्ष मानते है। इससे सिद्ध होता है कि विभिन्न भारतीय दर्शनों में प्रत्यक्ष का भिन्न-भिन्न लक्षण निर्धारित किया गया है।

चार्वाक दार्शनिकों ने प्रत्यक्ष का काई निश्चित लक्षण निर्धारित नहीं किया है, फिर भी कहा जा सकता है कि चार्वाकों के अनुसार इन्द्रिय और विषय के सन्निकर्ष से उत्पन्न ज्ञान प्रत्यक्ष है। अन्य दर्शनों से भिन्न **जैन दर्शन** में आत्म-सापेक्ष ज्ञान को प्रत्यक्ष कहा गया है। इसके अनुसार

जिस ज्ञान को आत्मा स्वय जानता है और जिसके लिए आत्मा को इन्द्रिय या मनरूपी माध्यम की आवश्यकता नहीं होता, वह प्रत्यक्ष है। इस प्रकार जैन दर्शन मे विशदता या स्पष्टता को प्रत्यक्ष का लक्षण माना गया है तथा प्रत्यक्ष को विशद ज्ञान के अर्थ में, आत्मा के अर्थ में तथा परापेक्षारहित अर्थ मे परिभाषित किया गया है। लेकिन नव्य जैनाचार्यो ने प्रत्यक्ष में इन्द्रियों की भूमिका को स्वीकार किया है। 'व्यवहारिक प्रत्यक्ष' की अवधारणा इसका प्रमाण है।

बौद्ध दार्शनिकों के अनुसार **"प्रत्यक्षं कल्पनापोढम् अभ्रान्तम्"** अर्थात कल्पना से अपोढ अर्थात् नाम जाति आदि की योजना से रहित भ्रम भिन्न ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते है। बौद्धों के अनुसार नामजात्यादि की योजना से रहित वस्तु का ज्ञान सविकल्पक प्रत्यक्ष की परिधि मे आ जाता है। इसलिए इसे प्रामाणिक नहीं माना जा सकता। केवल निर्विकल्पक प्रत्यक्ष ही प्रमाणिक है, सविकल्पक नहीं। विभिन्न बौद्ध आचार्यो ने प्रत्यक्ष को भिन्न-भिन्न रूप में परिभाषित किया है।

बसुबन्धु के अनुसार **"तथोऽर्थाद् विज्ञानं प्रत्यक्षं"** अर्थात जिस अर्थ का जो ज्ञान होता है, यदि उससे ही वह होता है, अन्य अर्थ से नहीं, तो वह प्रत्यक्ष है। किन्तु प्रत्यक्ष का यह लक्षण दोषपूर्ण है। **वाचस्पति मिश्र** का कहना है कि **"ग्राह्य अर्थ और ग्राहक ज्ञान एक साथ नहीं रहते है।"** **दिङ्नाग** और **श्चेरवात्स्की** ने बसुबन्ध के लक्षण को विज्ञानवाद की दृष्टि से असंगत माना है। इसलिए प्रत्यक्ष का यह लक्षण अमान्य है। **दिङ्नाग** के अनुसार प्रत्यक्ष वह धारणा है जो कल्पना, नाम, जाति आदि से असंयुक्त हो— **"प्रत्यक्षं कल्पनापोढमनामजात्याद्यसंयुतम्।"** दिङ्नाग के अनुसार प्रत्यक्ष स्वसंवेद्य है। अर्थात् इसका स्वतः ही अनुभव किया जाता है, इसलिए यह कल्पनारहित (निर्विकल्पक) है। प्रत्यक्ष के इस लक्षण से प्रत्यक्ष का सविकल्पक प्रत्यक्ष, जिसमें नामजात्यादि की योजना सम्मिलित होती है और अनुमानादि से व्यावृत्ति हो जाती है। लेकिन दिङनाग कृत प्रत्यक्ष का यह लक्षण भी पूर्णतः निर्दोष नहीं है। **उद्योतकर** ने इस लक्षण की भ्रान्ति में **अतिव्याप्ति** प्रदर्शित की। आगे चलकर **धर्मकीर्ति** ने दिङ्नाग के लक्षण में **अभ्रान्त** पद का अधिक निवेश करके उसका परिव्यागकर दिया। उनके अनुसार **"प्रत्यक्षं कल्पनापोढमऽभ्रान्तम्"** अर्थात कल्पनारहित (निर्विकल्पक) तथा निर्भ्रान्त (सभी संशयों से रहित) ज्ञान प्रत्यक्ष है। यहाँ निर्विकल्पक से धर्मकीर्ति का आशय साक्षात् ज्ञान से है। जो वस्तु जैसी है, यदि उसी रूप में हमे ज्ञात हो सके, तो ऐसे प्राप्त हुए ज्ञान को साक्षात्कारात्मक ज्ञान कहा जायेगा।

धर्मकीर्ति के अनुसार **"कल्पनापोढ"** शब्द के ग्रहण से सविकल्पक प्रत्यक्ष और अनुमान से तथा **"अभ्रान्त"** पद से भ्रम-विभ्रम आदि ज्ञान से प्रत्यक्ष की व्यावृत्ति हो जाती है। **"अभ्रान्त"** पद का ग्रहण न करने पर चलते हुए द्विचन्द्रादि का दर्शन भी प्रत्यक्ष की परिधि में आ जायेगा, क्योंकि वह कल्पनारहित ज्ञान है। इसलिए धर्मकीर्ति के अनुसार लक्षण में "अभ्रान्त" शब्द का निवेश किया गया है। **धर्मोत्तर** भी धर्मकीर्ति के इस मत का समर्थन करते हैं। वस्तुतः **दिङ्नाग** ने प्रत्यक्ष के लक्षण में "अभ्रान्त" पद का ग्रहण इसलिए नहीं किया, क्योंकि वे प्रत्यक्ष की विज्ञानवादी

व्याख्या करना चाहते थे। उनके मतानुसार भ्रम और विभ्रम प्रत्यक्ष के विकल्पात्मक बौद्धिक क्षेत्र मे स्पष्ट होते है और विकल्पात्मक परिधि मे प्रत्यक्ष सविकल्पक होने से शुद्ध नहीं रह जाता। इसलिए प्रत्यक्ष के लक्षण में कल्पनापोढता (जिसे स्वसंवेद्यता से विज्ञानरूप सिद्ध किया गया है।) के अतिरिक्त अभ्रान्त पद का निवेश अनावश्यक एवं असंगत है। दिङ्नाग के विरूद्ध धर्मकीर्ति प्रत्यक्ष की परिभाषा मे "कल्पनापोढम्" पद साथ ही "अभ्रान्त" शब्द का समावेश इसलिए आवश्यक मानते हैं, क्योकि वे सत्य को सभी प्रकार की भ्रान्तियों से मुक्त रखना चाहते हैं। **किन्तु ऐसा करके धर्मकीर्ति यद्यपि नैयायिकों के प्रकृत वस्तुवाद का विरोध कर देते हैं, किन्तु इससे न तो शुद्ध वस्तुवाद का विरोध हो पाता है और न यह परिभाषा आत्मविरोध के दोष से ही मुक्त हो पाती है।**

वस्तुत प्रत्यक्ष लक्षण के बारे में बौद्धों का यह सामान्य मत कि कल्पना से अपोढ अर्थात् नाम, जाति आदि की योजना से रहित, भ्रम भिन्न ज्ञान प्रत्यक्ष है, दोषपूर्ण है। **मीमांसकों** का यह कहना सत्य है कि इन्द्रिय ज्ञान के द्वारा जाति आदि की योजना सहित पदार्थ का जो सविकल्पक प्रत्यक्ष होता है, उसका निराकरण नही किया जा सकता, क्योकि यह अनुभवसिद्ध है कि जाति, गुण आदि की प्रतीति द्रव्य से पृथक नही हो सकती है। उनकी प्रतीति सदैव द्रव्य के साथ ही होती है। इसी तरह नामादि की योजना को भी असंगत मानना ठीक नहीं है, क्योंकि "अयं देवदत्तः" यह ज्ञान प्रत्यक्षात्मक होता है। इसकी प्रतीति होती है। इन्द्रियों से होनें वाले ज्ञान में नाम योजना आवश्यक है। इसलिए 'नाम योजना के द्वारा उत्पन्न ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं है'— इस मत को उचित नहीं मना जा सकता है।

न्याय दर्शन मे इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष से जन्य ज्ञान को प्रत्यक्ष माना गया है। **गौतम** के अनुसार इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न **'अव्यपदेश्य'** (अशाब्दज), **'अव्यभिचारी'** (संशय विपर्ययादि से रहित) जो **'व्यवसायात्मक'** (निश्चित) ज्ञान होता है, वह प्रत्यक्ष है। स्पष्टतः यहॉ गौतम ने प्रत्यक्ष को यथार्थ अनुभव (प्रमा) रूप माना है। उन्होंने प्रत्यक्ष प्रमा और उसके करण का स्पष्ट और अलग-अलग प्रतिपादन नहीं किया है। परन्तु परवर्ती नैयायिको ने प्रत्यक्ष की परिभाषा मे प्रत्यक्ष प्रमा और उसके करण का स्पष्ट उल्लेख किया है। उनके अनुसार इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष से जन्य यथार्थ ज्ञान को प्रत्यक्ष प्रमा तथा उसके करण को प्रत्यक्ष प्रमाण कहते है।

प्राचीन न्याय द्वारा प्रतिपदित प्रत्यक्ष लक्षण की उपर्युक्त परिभाषा को सामान्यतः स्वीकार कर लिया गया है, किन्तु नव्य न्याय के प्रवर्तक **गंगेश उपाध्याय, अद्वैत वेदान्ती** तथा **कुछ अन्य दार्शनिकों** ने प्रत्यक्ष के उपर्युक्त लक्षण को दोषपूर्ण माना है। **गंगेश** के अनुसार गौतम के प्रत्यक्ष-लक्षण मे मुख्यतः तीन दोष देखे जा सकते है। **1. अतिव्याप्ति, 2. अव्याप्ति और 3. अन्योन्याश्रय दोष।**

उपर्युक्त दोषों के निवारणार्थ **गंगेश** ने कहा कि प्रत्यक्ष का सामान्य लक्षण इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष नहीं, बल्कि साक्षात्प्रतीति है— **प्रत्यक्षस्य साक्षात्कारित्वं लक्षणं।"** इस साक्षात्कारित्व

की उत्पत्ति इन्द्रिय, अर्थ, मन और आत्मा आदि के सन्निकर्ष से होती है। **प्रत्यक्ष की यह परिभाषा प्राचीन न्याय की तुलना में अधिक सन्तोषजनक है,** क्योकि उसके माध्यम से लौकिक एव अलौकिक, मानवीय तथा ईश्वरीय – सभी प्रकार के प्रत्यक्षों की व्याख्या हो जाती है। प्रत्यक्ष का अन्य ज्ञानो से भेद प्रदर्शित करने के लिए गगेश ने 'साक्षात्कारित्व' के अतिरिक्त प्रत्यक्ष की एक दूसरी परिभाषा निश्चित की है। इसके अनुसार प्रत्यक्ष वह ज्ञान है जिसका कारण कोई अन्य ज्ञान नही है– **"ज्ञानाकारणकं ज्ञानं प्रत्यक्षम्।" विश्वनाथ** ने भी इस मत का समर्थन किया है।

परन्तु नव्य न्याय द्वारा निर्धारित प्रत्यक्ष का यह लक्षण भी निर्दोष नही है, क्योंकि सविकल्पक प्रत्यक्ष (ज्ञान) में यह लक्षण **अव्याप्त** है। अतः **"ज्ञानाकारणंक ज्ञानं प्रत्यक्षम्"**– प्रत्यक्ष की यह परिभाषा भी दोषपूर्ण है। दूसरी बात यह है कि ज्ञानाकरणक ज्ञानत्वरूप प्रत्यक्ष का लक्षण केवल तभी माना जा सकता है जब मन को अंतरिन्द्रिय के रूप में स्वीकार कर लिया जाय अर्थात् यह मान लिया जाय कि प्रत्यक्ष में हमें किसी ऐसे विषय की साक्षात्प्रतीति होती है जिसमें मन का संयोग रहता है। किन्तु जो दार्शनिक मन को अंतरिन्द्रिय नहीं मानते, जैसे कुछ अद्वैत वेदान्ती उनके लिए प्रत्यक्ष की यह परिभाषा सन्तोषजनक नहीं रह पाती। वे तो ऐसी साक्षात्प्रतीति को प्रत्यक्ष मानेगे जिसमें मन का संयोग नहीं रहता। **अतः साक्षात्कारी ज्ञान के रूप में प्रत्यक्ष का जो लक्षण नव्य न्याय द्वारा निर्धारित किया गया है, वह भी निर्दोष नहीं है।** निष्कर्ष यह है कि सम्पूर्ण न्याय दर्शन द्वारा निर्धारित प्रत्यक्ष का लक्षण दोषपूर्ण फलतः अमान्य है। **वैशेषिक दर्शन** द्वारा निर्धारित प्रत्यक्ष का लक्षण बहुत कुछ प्राचीन न्याय के समान है। अतः उसके लक्षण में प्राचीन न्याय की परिभाषा के सारे दोष आ जाते हैं।

सांख्य दर्शन के प्रख्यात ग्रन्थ **"सांख्य कारिका"** में प्रत्यक्ष का लक्षण बताते हुए कहा गया है कि **"प्रतिविषयाध्वसायोदृष्टं"** अर्थात् श्रोतादि इन्द्रियों के द्वारा बुद्धि के शब्दादि विषयों से सन्निकर्ष होने पर जिस बुद्धि व्यापार अथवा ज्ञान की उपलब्धि होती है, वह 'प्रत्यक्ष' है। **योग दर्शन** मे प्रत्यक्ष प्रमाण के विषय में सांख्य से अलग कुछ नहीं कहा गया है। इस सम्बन्ध में उसे सांख्य पूरक कहा जा सकता है। किन्तु प्रत्यक्ष के बारे में सांख्य-योग मत भी मान्य नहीं है, क्योंकि वे भी न्याय-वैशेषिक के समान प्रत्यक्ष की उपलब्धि मे इन्द्रियों को आवश्यक और अनिवार्य मानते हैं।

न्याय के समान **पूर्वमीमांस दर्शन** में भी इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष के द्वारा प्रत्यक्ष की उत्पत्ति होना माना गया है। **कुमारिल भट्ट** के अनुसार **"ज्ञानेन्द्रियों का अपने सत् (वास्तविक रूप में विद्यमान) विषयों के साथ सम्यक् सम्बन्ध होने से जो ज्ञान उत्पन्न होता है, वह प्रत्यक्ष है।"** इनके अनुसार **"जैमिनिसूत्र"** में **"सत्"** शब्द के प्रयोग से धर्म के ज्ञान में प्रत्यक्ष की अप्रामाणिकता सिद्ध होती है तथा योगज प्रत्यक्ष का खण्डन भी हो जाता है। कुमारिल का यह भी कहना है कि लक्षण में "सत्सम्प्रयोगे" शब्द के प्रयोग से प्रत्यक्ष ज्ञान में संशय

व भ्रमादि का भी निराकरण हो जाता है। **प्राभाकर मीमांसकों** का प्रत्यक्ष लक्षण गगेश उपाध्याय से पर्याप्त साम्य रखता है। प्राभाकर के अनुसार **"साक्षात् प्रतीतिः प्रत्यक्षम्"** अर्थात् प्रत्यक्ष एक प्रकार की साक्षात् प्रतीति है, जो इन्दियार्थसन्निकर्ष जन्य है।

यद्यपि न्याय और मीमासा दर्शनों मे **सन्निकर्ष** के भेदों को लेकर पर्याप्त मतभेद है, फिर भी इनकी प्रत्यक्ष विवेचना बहुत कुछ सामान्य है। न्याय के समान मीमांसकों का भी मत है कि किसी भी प्रत्यक्ष मे विषय तथा तद्गुणो का इन्द्रिय से, इन्द्रिय का मन से तथा मन का आत्मा से इन तीन प्रकार का सन्निकर्ष होता है जिससे ज्ञान की उपलब्धि होती है। चूँकि मीमांसको का प्रत्यक्ष विवेचन बहुत कुछ नैयायिको के समान है, इसलिए नैयायिको के प्रत्यक्ष लक्षण के सारे दोष मीमांसको के प्रत्यक्ष लक्षण मे आ जाते है। इसलिए इनका मत भी अमान्य हो जाता है।

अद्वैत वेदान्त में अन्य सभी दर्शनों द्वारा प्रतिपादित प्रत्यक्ष की परिभाषाओं के लक्षणो के प्रति सामूहिक अरूचि प्रदर्शित करते हुए कहा गया है कि प्रत्यक्ष लक्षण की पूर्ण परिभाषा किसी भी पूर्ववर्ती दार्शनिक मत से नही बनती। वस्तुतः प्रत्यक्ष के लक्षण को निर्धारित करते समय इस बात का ध्यान रखा जाना चहिए कि वास्तव में प्रत्यक्ष किसका होता है? अद्वैत वेदान्त के अनुसार एक मात्र पारमार्थिक तत्त्व प्रकाश या चैतन्य का ही सर्वप्रथम साक्षात्कार होता है। तदुपरान्त उसके विशेषण के रूप में अन्य वस्तुओ का भान होता है। अद्वैत वेदान्तानुसार प्रकाश या चैतन्य की प्रतीति साक्षात् रूप से होती है, इसलिए प्रत्यक्ष को नव्य न्याय की भाँति साक्षात्कारी ज्ञान माना गया है– **"साक्षात् प्रतीतिः प्रत्यक्षम्।"** लेकिन जहॉ **नव्य न्याय** में यह माना जाता है कि यह साक्षात्कारित्व इन्द्रिय, अर्थ व मनसादि के सन्निकर्ष से उत्पन्न होता है, वहाँ **अद्वैत वेदान्त** मे मन के इन्द्रियत्व का निषेध करके इस मत का प्रतिपादन किया गया है कि प्रत्यक्ष के लिए इन्द्रियों का होना आवश्यक नही है।

अद्वैत वेदान्त के समान **बौद्ध दर्शन** में भी मन के इन्द्रियत्व का निषेध करके **प्रत्यक्ष को साक्षात् अनुभूतिरूप** माना गया है, परन्तु दोनों दर्शनों की साक्षात् अनुभूति के स्वरूप में भेद है। **बौद्ध दर्शन में साक्षात् अनुभूति ऐन्द्रिक भी है, परन्तु अद्वैत वेदान्त में साक्षात् अनुभूति का स्वरूप पराबौद्धिक है।**

अद्वैत वेदान्त में प्रत्यक्ष को चैतन्य रूप माना गया है और प्रत्यक्ष प्रमा अर्थात् चैतन्य के आधार पर दो प्रकार का प्रत्यक्ष माना गया है– **विषयगत प्रत्यक्ष** तथा **ज्ञानगत प्रत्यक्ष**। चैतन्य के तीन रूप माने गये है– **प्रमाण-चैतन्य, प्रमातृ-चैतन्य और विषय-चैतन्य।** जब प्रमाण चैतन्य का विषय चैतन्य से सारूप्य होता है, तो उसे ज्ञानगत प्रत्यक्ष कहते हैं और जब प्रमातृ चैतन्य का विषय चैतन्य से अभेद होता है, तो उसे विषयगत प्रत्यक्ष कहते हैं।

अद्वैत वेदान्त में प्रत्यक्ष प्रमा और प्रत्यक्ष प्रमाण का स्पष्ट व अलग-अलग विवेचन किया गया है और प्रत्यक्ष प्रमाण माना गया है तथा अन्त.करण वृत्ति को प्रत्यक्ष प्रमा के करण को प्रत्यक्ष प्रमा का करण (असाधारण या साधकतम् कारण) माना गया हैं। अद्वैत मत में ज्ञाता व ज्ञेय के

मध्यस्त दोनो आवरणो को भग करके उन दोनो से अवच्छिन्न चैतन्यो के अभेद को अभिव्यक्त करने के द्वारा विषय को अपरोक्ष बनाने वाली वृत्ति को प्रत्यक्ष प्रमाण माना गया है। दूसरे शब्दों मे, **प्रमाण चैतन्य के साथ विषय चैतन्य का अभेद ही प्रत्यक्ष है ओर ऐसा करने वाली वृत्ति प्रत्यक्ष प्रमाण है।** प्रत्यक्ष प्रमा और प्रमाण के बारे में अद्वैत वेदान्त का यह मत अधिक तर्कसंगत है। इसलिए इसे सिद्धान्त के रूप में स्वीकार किया जा सकता है।

जहाँ तक **प्रत्यक्ष ज्ञान की प्रक्रिया** का प्रश्न है, इस विषय में **चार्वाक दर्शन** में सिवाय इसके कि इन्द्रिय और विषय के संयोग से प्रत्यक्ष ज्ञान की प्राप्ति होती है, कोई विशेष विवेचन उपलब्ध नही है। **जैन दर्शन** की मान्यता है कि **"पारमार्थिक प्रत्यक्ष"** ज्ञान में इन्द्रियादि की सहायता के बिना जब आत्मा और ज्ञेय वस्तुओं का सम्बन्ध स्थापित होता है, तब वस्तुओ का प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त होता है। **"व्यावहारिक प्रत्यक्ष"** में जब इन्द्रिय या मन के द्वारा आत्मा और ज्ञेय वस्तुओं में सम्बन्ध स्थापित होता है, तब विषय का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। जैनों के अनुसार प्रत्यक्ष ज्ञान की उत्पत्ति **"अवग्रह", "ईहा", "आवाय", और "धारणा"** के क्रम में होती है। **बौद्धों** के अनुसार प्रत्यक्ष ज्ञान जिस अर्थ से उत्पन्न होता है, उसके साथ सारूप्य ग्रहण कर लेता है, तथा वही अर्थ प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय कहा जाता है। तात्पर्य यह है कि अर्थ के द्वारा ज्ञान में जो आकार अर्पित किया जाता है, उस आकार का ही ज्ञान प्रत्यक्ष द्वारा ग्रहण किया जाता है। इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से प्रथम क्षण में सर्वोपाधिविविक्त वस्तुमात्र का निर्विकल्पक प्रत्यक्ष होता है। इसी निर्विकल्पक ग्राह्यता को बुद्धि अपनी विकल्पात्मक प्रक्रिया के द्वारा नाम, जाति, गुण, द्रव्य आदि पंचविध कल्पनाओ से युक्त कर वाह्यवस्तु रूप से सविकल्पक प्रत्यक्ष करती है। यहाँ वाह्यवस्तु का प्रत्यक्ष सविकल्पक प्रत्यक्ष शुद्ध प्रत्यक्ष नहीं, बल्कि अनुमान मिश्रित है जो सामान्य लक्षण को प्राप्त करता है। निर्विकल्पक प्रत्यक्ष ही शुद्ध प्रत्यक्ष है जो स्वलक्षण को ग्रहण करता है। प्रत्यक्ष के विषय ग्रहण की प्रक्रिया के बारे में **न्याय-वैशेषिक** बिल्कुल वस्तुवादी दृष्टिकोण अपनाते है। वे प्रत्यक्षात्मक विषय ग्रहण हेतु षड्विध सन्निकर्षों की कल्पना कर इन्द्रियों का विषय से, इन्द्रियों का मन से सम्बन्ध, मन का आत्मा से सम्बन्ध की पृष्ठिभूमि में समवाय सम्बन्ध से आत्मा में प्रत्यक्ष को उत्पन्न होना मानते हैं। उक्त सम्बन्ध में **सांख्य-योग दर्शन** का मत है कि बुद्धि तत्व इन्द्रिय प्रणालिका के द्वारा विषयाकार में परिणत होकर विषय का ग्रहण करती है। **पूर्वमीमांसा** की प्रत्यक्ष ज्ञान की प्रक्रिया बहुत कुछ न्याय दर्शन के समान है। मीमांसकों के अनुसार किसी भी विषय तथा तद्‌गुणों का इन्द्रिय से, इन्द्रिय का मन से तथा मन का आत्मा से इन तीन प्रकार से सन्निकर्ष होता है जिससे प्रत्यक्ष ज्ञान की उपलब्धि होती है। **दोनों में प्रमुख अंतर यह है कि जहाँ न्याय-वैशेषिक दर्शन में छः प्रकार के सन्निकर्ष को माना गया है, वहाँ मीमांसा में केवल तीन प्रकार के सन्निकर्षों को ही मान्यता प्रदान की गयी है। अद्वैत वेदान्त सम्प्रदाय** यद्यपि वाह्यार्थ की सत्ता को परमार्थ सत् नहीं मानता, तथापि उसकी प्रत्यक्ष की प्रक्रिया में भी चित्तवृत्ति का घटाकर रूप में होना स्वीकार किया गया है। इसके

अनुसार शरीर के भीतर रहने वाला अन्तकरण अवविद्याविवर्त अदृष्ट से प्रेरित होकर चक्षु आदि इन्द्रियो के मार्ग से बाहर निकल कर घटादि विषयो से यथोचित रीति (जिस विषय से इन्द्रिय का जैसा सन्निकर्ष होता हो) से ससृष्ट होकर उन विषयो को व्याप्त करके उसी उसी आकार मे परिणत हो जाता है। **प्रथम दृष्ट्या वेदान्त का यह मत सांख्य-योग मत के काफी करीब दिखाई देता है, लेकिन दोनों में मुख्य अंतर यह है कि पारस्परिक प्रतिबिम्बवाद जैसी कोई भी अवधारणा अद्वैत वेदान्त में मान्य नहीं है। दूसरी बात यह है कि सांख्यों का यह मत अद्वैत वेदान्त में अस्वीकृत कर दिया गया है कि बुद्धि विषय का जो आकार धारण करती है, वह नित्य है, क्योंकि अद्वैत वेदान्त के अनुसार चैतन्य या प्रकाश के अतिरिक्त कोई नित्य सत्ता है ही नहीं।** इस प्रकार कहा जा सकता है कि प्रत्यक्ष के विषय के ग्रहण की प्रक्रिया के सम्बन्ध में अद्वैत वेदान्त का मत अधिक तर्कसंगत है।

जहाँ तक **प्रत्यक्ष–प्रमा** के **करण** की बात है, **न्याय–वैशेषिक** दर्शन में इन्द्रिय, इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष और ज्ञान (निर्विकल्पक ज्ञान) इन तीनों को प्रत्यक्ष का करण माना गया है। **मीमांसा दर्शन** मे **भाट्ट मीमांसकों** ने प्रत्यक्ष ज्ञान के तीन करण माने हैं– इन्द्रिय, निर्विकल्पक ज्ञान और सविकल्पक ज्ञान। **प्राभाकर मीमांसकों ने** प्रत्यक्ष ज्ञान के तीन भिन्न करण माने है– इन्द्रिय, आत्म–मन. सन्निकर्ष एव प्रकाशरूप ज्ञान। अधिकांश दार्शनिकों ने इन्द्रियों के कारणत्व का प्रतिपादन किया है। ब्रह्म साक्षात्कार में प्रमाणों को परमार्थतः अक्षम मानने वाले **अद्वैत वेदान्तियों** ने भी इन्द्रिय सन्निकर्षादि को करण माना है। इनके अनुसार साक्षात् ब्रह्मात्मभूत चैतन्य यद्यपि अनादि (नित्य) है, तथापि अन्त.करण–वृत्ति उस नित्य चैतन्य को अभिव्यक्त करती है। अन्तःकरण–वृत्ति में नित्य चैतन्य का प्रतिबिम्ब पडता है। इसी को **"चिदाभास"** कहते हैं। अन्तः करण की वृत्ति इन्द्रिय सन्निकर्षादि के कारण प्रतिक्षण उत्पन्न होती रहती है। अर्थात् वह स्वभावत· जन्य है। इस कारण इस जन्य वृत्ति से विशिष्ट (युक्त) चैतन्य को भी वृत्ति के साथ ही आदिमत् (उत्पन्न होने वाला) माना जा सकता है। इसलिए चक्षुरादि इन्द्रियों में उस जन्य चैतन्य के प्रति करणत्व प्रतीत होता है। अद्वैत वेदान्तियो का कहना है कि चक्षुरादि इन्द्रियों का अविशिष्ट (शुद्ध) के प्रति करण न बनाना हमे इष्ट ही है, क्योंकि अवशिष्ट शुद्ध चैतन्य में स्वयं प्रकाशत्व होता है। इस कारण चैतन्यात्मा में प्रमाण व्यापार की अपेक्षा नहीं होती। अर्थात स्वयं प्रकाश चैतन्यात्मा की सिद्धि मे प्रमाण व्यापार की आवश्यकता नहीं पड़ती, परन्तु अप्रकाश-पदार्थ को साभास अन्तःकरण वृत्ति रूप प्रमाण की अपेक्षा रहती है। इस प्रकार, अद्वैत वेदान्त में इन्द्रियों को चैतन्य के प्रति करण माना गया है, जो अधिक तर्कसंगत प्रतीत होता है।

जो दार्शनिक प्रत्यक्ष को इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्य ज्ञान के रूप में परिभाषित करते हैं, वे प्रत्यक्ष ज्ञान के **तीन घटक** मानते हैं–**1. इन्द्रिय, 2. पदार्थ और 3. सन्निकर्ष।**

न्याय-वैशेषिक, सांख्य-योग और मीमांसा दर्शनों में ज्ञान व्यापार में उपयोगिता की दृष्टि से **छः इन्द्रियों** की कल्पना की गयी है– पंच ज्ञानेन्द्रियाँ और मन। **न्याय-वैशेषिक** के अनुसार पंच ज्ञानेन्द्रियों की उत्पत्ति पंचमहाभूतों से होती है। ये इन्द्रियाँ भौतिक, सूक्ष्म, अतीन्द्रिय एवं

अनुमेय हैं। इनके अनुसार मन अंतरन्द्रिय है, जिसे सुख दुःखादि का ज्ञान होता है। मन नित्य, अणुरूप और निरवयव है। मन का एक समय में एक ही इन्द्रिय के साथ सम्बन्ध होता है, इसलिए एक समय में एक ही ज्ञान होता है। नैयायिकों में इन्द्रियों की **प्राप्यकारिता** को लेकर मतभेद है। **प्राचीन नैयायिक इन्द्रियों में प्राप्यकारित्व को मानते हैं, जबकि नव्यनैयायिक इन्द्रियों में प्राप्यकारिता को स्वीकार नहीं करते।** न्याय-वैशेषिक सभी छः इन्द्रियों को भौतिक और अतीन्द्रिय मानते हैं। **मीमांसकों** का इन्द्रिय सम्बन्धी विचार प्राचीन नैयाकिों के समान ही है किन्तु के श्रोतेन्द्रिय को आकाश स्वरूप न मानकर **दिग्भागीय** मानते हैं। **भाट्ट मीमांसक** केवल श्रोत को दैशिक मानते है। वे इन्द्रिय अधिष्ठानों के अतिरिक्त इन्द्रियो को शक्ति भी मानते हैं। वे केवल घ्राण, त्वक् एवं जिह्वा इन्द्रियों को ही प्राप्यकारी मानते हैं। **प्राभाकर** मीमांसक इन्द्रिय सम्बन्ध को केवल **असमवायि** कारण मानते है।

सांख्य-योग दार्शनिक इन्द्रियो की उत्पत्ति पंचमहाभूतों से न मानकर अहंकार से मानते हैं। इनके अनुसार मन बहुत ही सूक्ष्म इन्द्रिय है, किन्तु वह सावयव है। अतः एक ही साथ भिन्न-भिन्न इन्द्रियो के साथ संयुक्त हो सकता है। मन नित्य पदार्थ न होकर प्रकृति का एक कार्यद्रव्य है, अत· उत्पन्न एवं विनाशशील है। **बौद्ध दार्शनिक** मन को इन्द्रिय नहीं मानते। वे केवल पाँच इन्द्रियों की संख्या मानते हैं। इन्द्रियाँ, उनके अनुसार **गोलक** तथा भौतिक हैं। **बौद्ध इन्द्रियों को प्राप्यकारी नहीं मानते। जैन दार्शनिक** भी मन को इन्द्रिय नहीं मानते। वे चक्षुरिन्द्रिय के अतिरिक्त शेष चार इन्द्रियों में प्राप्यकारित्व को मानते हैं। **अद्वैत वेदान्ती** भी मन को इन्द्रिय न मानकर केवल पंचज्ञानेन्द्रियों को ही इन्द्रिय मानते हैं, जो भौतिक हैं। **अद्वैत वेदान्त** और **सांख्य** भी इन्द्रियों की प्राप्यकारिता को स्वीकार करते हैं।

जहाँ तक **सन्निकर्ष** का प्रश्न है, इस सम्बन्ध में मुख्य विवाद नैयायिकों व मीमांसकों में है। **नैयायिक लौकिक** व **अलौकिक** के रूप में सन्निकर्ष के **दो भेद** मानते हैं। उनके अनुसार **लौकिक सन्निकर्ष के छः भेद हैं**–1. संयोग, 2. संयुक्त समवाय, 3. संयुक्त समवेतसमवाय, 4. समवाय, 5. समवेत समवाय, 6. विशेष्य–विशेषणभाव। नैयायिक **अलौकिक सन्निकर्ष के तीन भेद** मानते हैं–1. सामान्य लक्षण, 2 ज्ञान लक्षण और 3. योगज। **पूर्वमीमांसा दर्शन** के दोनों प्रमुख सम्प्रदायो में उपर्युक्त सभी प्रकार के सन्निकर्षों का खण्डन करके स्वमत के अनुसार सन्निकर्ष के भेदों का प्रतिपादन किया गया है। **भाट्टमत** में केवल दो प्रकार के सन्निकर्ष को स्वीकार किया गया है–1. संयोग, तथा 2 संयुक्त तादात्म्य। **प्राभाकर मीमांसक** केवल तीन प्रकार के सन्निकर्ष मानते हैं–1. संयोग, 2. संयुक्त समवाय, और 3. समवाय।

अन्य बातों की तरह **प्रत्यक्ष ज्ञान** के विषय को लेकर भी भारतीय दार्शनिकों में मतभेद है। **बौद्धों** के अनुसार प्रत्यक्ष का विषय स्वलक्षण है। **न्याय-वैशेषिक** के अनुसार सप्त पदार्थ प्रत्यक्ष के विषय हैं। **मीमांसकों** ने सत् (विद्यमान) पदार्थों को प्रत्यक्ष का विषय माना है, जबकि **अद्वैत वेदान्त** के अनुसार ब्रह्म ही एक मात्र प्रत्यक्ष का विषय है। अद्वैत वेदान्त का यह मत तर्क

की कसौटी पर अधिक खरा उतरता है, क्योकि व्यवहारत भले ही अनेक पदार्थ सत् प्रतीत होते है, किन्तु परमार्थत· ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य किसी तत्व की सत्ता ही नहीं है। इसलिए ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य किसी के प्रत्यक्ष का विषय होने का प्रश्न ही नहीं उठता।

प्रत्यक्ष के भेद के बारे मे भारतीय दार्शनिकों में मतभेद दृष्टिगोचर होता है। **चार्वाक दर्शन** में प्रत्यक्ष के भेदों का कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं किया गया है। **जैन दर्शन** में केवल सविकल्पक को ही वास्तविक प्रत्यक्ष माना गया है, जबकि **बौद्ध** और **अद्वैत वेदान्त दर्शन** मे केवल निर्विकल्पक को वास्तविक प्रत्यक्ष माना गया है। जैनों के अनुसार निर्विकल्पक ज्ञान मे सस्कारो का उद्‌बोधन नही होता, जबकि सविकल्पक में ऐसा होता है। इसलिए सविकल्पक ज्ञान ही प्रामाणिक ज्ञान है। बौद्ध और अद्वैत वेदान्त के अनुसार "स्वलक्षण" एवं "ब्रह्म" नाम रूप आदि सभी प्रकार के भेदों से परे है। इसलिए सविकल्पक प्रत्यक्ष के द्वारा जो कि नाम रूप भेद से युक्त है, नाम रूप भेद से परे "स्वलक्षण" एव "ब्रह्म" का साक्षत्कार नहीं किया जा सकता। निर्विकल्पक प्रत्यक्ष ही इनके साक्षात्कार का एकमात्र साधन है, इसलिए केवल निर्विकल्पक प्रत्यक्ष ही यथार्थ ज्ञान है। **नव्य न्याय** के अनुसार सविकल्पक प्रत्यक्ष ही वैध है। निर्विकल्पक प्रत्यक्ष के बारे में वे कहते हैं कि यह न तो वैध है और न ही अवैध। **सांख्य-योग, न्याय-वैशेषिक** तथा **मीमांसा दर्शनों** में दोनों ही प्रकार के प्रत्यक्षों को वैध माना गया है। लेकिन मीमांसा का निर्विकल्पक ज्ञान न्याय-वैशेषिक दर्शन के निर्विकल्पक ज्ञान से भिन्न है। **न्याय में निर्विकल्पक प्रत्यक्ष को केवल तर्क के आधार पर सविकल्पक की प्रागवस्था के रूप में माना जाता है, जबकि मीमांसा में निर्विकल्पक प्रत्यक्ष को मनुष्य के अनुभव की एक अवस्था विशेष माना जाता है।** पशुओं तथा शिशुओ के प्रत्यक्ष को मीमांसाक इसी कोटि में रखते हैं।

इस प्रकार **मीमांसक** जहॉ प्रत्यक्ष के निर्विकल्पक एवं सविकल्पक केवल दो भेद मानते हैं, वहॉ **नैयायिक** लौकिक और अलौकिक भेद से प्रत्यक्ष के कुल छः भेद मानते हैं। लौकिक प्रत्यक्ष के अन्तर्गत निर्विकल्पक, सविकल्पक एवं प्रत्यभिज्ञा ज्ञान आते हैं। अलौकिक प्रत्यक्ष के अन्तर्गत सामान्य लक्षणाजन्य, ज्ञानलक्षणाजन्य और योगज प्रत्यक्ष आते हैं। **नैयायिकों ने** प्रत्यक्ष का निर्विकल्पक, सविकल्पक एवं प्रत्यभिज्ञा के रूप में जो भेद किया है, उसे **बौद्ध** और **अद्वैत वेदान्ती** नहीं मानते। इसी तरह से अद्वैत वेदान्ती न्याय दर्शन के सामान्य लक्षण तथा ज्ञान लक्षण का खण्डन करते हैं और उनकी सत्यता को नही मानते हैं।

मीमांसक भी न्याय के अलौकिक प्रत्यक्ष को नहीं मानते। इसका कारण है है कि मीमांसक विद्यमान वस्तुओं का ही प्रत्यक्ष मानते हैं, अविद्यमान वस्तुओं का नहीं। विद्यमान पदार्थो के साथ चक्षुरिन्द्रियों का सन्निकर्ष होने पर लौकिक ज्ञान ही होगा, अलौकिक नहीं। इन्द्रिय का अविद्यमान वस्तुओं के साथ सन्निकर्ष होने पर अलौकिक ज्ञान अवश्य होता है। किन्तु मीमांसक अविद्यमान वस्तुओं को प्रत्यक्ष का विषय नहीं मानते। इसलिए वे अलौकिक प्रत्यक्ष को भी नहीं मानते। **अद्वैत वेदान्तियों** ने नैयायिकों के लौकिक प्रत्यक्ष के छः भेदों को न मानकर कवेल पाँच प्रकार के

लौकिक प्रत्यक्ष को माना है। वे मन के इन्द्रियत्व का निषेध करके केवल पॉच प्रकार की इन्द्रियो को मानते है और उनसे जन्य ज्ञान को इन्द्रियज या लौकिक प्रत्यक्ष मानते है।

उपर्युक्त विवेचन से एक बात स्पष्ट होती है कि **बौद्ध** और **अद्वैत** वेदान्त दोनों ही निर्विकल्पक प्रत्यक्ष को मानते है। निर्विकल्पक प्रत्यक्ष को मानने के पीछे उनकी तत्वमीमांसीय धारणाएँ हैं, जिनकी सिद्धि वे निर्विकल्पक प्रत्यक्ष को माने बिना नहीं कर सकते। अद्वैत वेदान्त मे एकमात्र **'ब्रह्म'** की ही सत्ता स्वीकार की गयी है और माना गया है कि यह सम्पूर्ण जगत् मिथ्या है, यह अविद्या के द्वारा ब्रह्म के ऊपर एक अध्यास है। बौद्ध दर्शन में भी **'स्वलक्षण'** के अलावा सभी प्रकार की सत्ताओ का निषेध किया गया है। **'ब्रह्म'** एवं **'स्वलक्षण'** दोनो नाम रूप आदि सभी प्रकार के भेदों से परे है। इसलिए नाम रूप भेद से युक्त सविकल्पक प्रत्यक्ष द्वारा हम नाम रूप भेद से परे ब्रह्म एवं स्वलक्षण का साक्षात्कार कैसे करेंगे? सविकल्पक प्रत्यक्ष के लिए यह आवश्यक है कि प्रमाता से भिन्न प्रमेय की सत्ता स्वीकार की जाय। किन्तु ऐसा मानने पर ब्रह्म एव स्वलक्षण की एकतत्त्वता विनष्ट हो जायेगी। इसके विपरीत निर्विकल्पक प्रत्यक्ष नाम रूप इत्यादि भेदों से रहित हैं। बौद्धों और अद्वैत वेदान्तियो के अनुसार किसी विषय का ज्ञान प्राप्त **करने का अर्थ है**– ज्ञान का विषयाकार हो जाना। इस प्रकार निर्विकल्पक प्रत्यक्ष में ज्ञेय, ज्ञाता और ज्ञान का भेद नहीं रहता है। इसी कारण बौद्ध दर्शन और अद्वैत वेदान्त में निर्विकल्पक प्रत्यक्ष को मानना तक तार्किक बाध्यता है। इसके बिना **'ब्रह्म'** एवं **'स्वलक्षण'** की वाख्या करना असम्भव है।

परन्तु उपर्युक्त समानता के आलवा बौद्धों और अद्वैत वेदान्तियों की मान्यता में अन्तर भी है। जहॉ बौद्ध दर्शन में एकमात्र विर्निकल्पक प्रत्यक्ष को ही वैध प्रमाण माना गया है, वहॉ अद्वैत वेदान्त में निर्विकल्पक प्रत्यक्ष के अलावा सविकल्पक प्रत्यक्ष को भी माना गया है। परन्तु इस सविकल्पक प्रत्यक्ष को अद्वैत वेदान्तियों ने सिर्फ व्यावहारिक वैधता प्रदान की है, तार्किक नही। तार्किक वैधता सिर्फ निर्विकल्पक प्रत्यक्ष को ही प्राप्त है। अद्वैत वेदान्ती जगत् की व्यावहारिक सत्ता को स्वीकार करते हैं। इसी आधार पर वे सविकल्पक प्रत्यक्ष को वयवहारिक वैधता प्रदान करते हैं। बौद्धों ने सविकल्पक प्रत्यक्ष को अवैध कहा है, परन्तु इसके कारण रूप में वे यह कहते हैं कि यह काल्पनिक और भ्रान्त है। हालांकि दोनों ही दर्शनों में जगत् को असत् माना गया है, परन्तु अद्वैत वेदान्ती जगत् को अपेक्षाकृत अधिक मूल्य प्रदान करते हुए सामान्य अनुभव के अधिक नजदीक लगते हैं, जबकि बौद्ध दार्शनिक जगत् एवं वाह्य वस्तुओं को अनुमानजन्य मानते हुए अपेक्षाकृत कम मूल्य प्रदान करते हुए लगते हैं। इस प्रकार सामान्य व्यवहार और तर्क दोनों ही दृष्टियों से अद्वैत वेदान्त का मत अधिक तर्कसंगत प्रतीत होता है।

केवल निर्विकल्पक प्रत्यक्ष को ही एकमात्र प्रत्यक्ष मानने के कारण बौद्धों का प्रत्यक्ष भेद निर्विकल्पक प्रत्यक्ष पर ही आधारित है। इन्द्रि प्रत्यक्ष, मानस प्रत्यक्ष, योगज प्रत्यक्ष एवं स्वसंवेदन इत्यादि भेद निर्विकल्पक प्रत्यक्ष के ही भेद हैं। परन्तु अद्वैत वेदान्त में ज्ञानगत एवं विषयगत

आधार पर ही प्रत्यक्ष के दो भेद किये गये है– निर्विकल्पक एव सविकल्पक। इन दोनो के पुन जीवसाक्षी और ईश्वरसाक्षी दृष्टि से दो भेद किये गये है। जन्य एवं अजन्य दृष्टि से भी वे प्रत्यक्ष के दो भेद करते है–इन्द्रियजन्य एवं इन्द्रियाजन्य। इस प्रकार अद्वैत वेदान्त सम्मत प्रत्यक्ष भेद एक ओर जहाँ बौद्ध सम्मत प्रत्यक्ष-भेद की तुलना मे प्रत्यक्ष को विस्तृत आयाम प्रदान करता है, वहीं दूसरी ओर केवल निर्विकल्पक की तात्त्विक या पारमार्थिक यथार्थता तथा सविकल्पक प्रत्यक्ष की केवल व्यावहारिक यथार्थता स्वीकार करके तत्त्वमीमांसीय अद्वैतवाद से ज्ञान मीमांसीय अद्वैतवाद का सामञ्जस्य भी स्थापित कर देता है। इस दृष्टि से भी अद्वैत वेदान्त की उत्कृष्टता सिद्ध होती है।

अद्वैत वेदान्त की निर्विकल्पक प्रत्यक्ष की अवधारणा भी बौद्धों की निर्विकल्पक की अवधारणा से अधिक उत्कृष्ट है। अद्वैत वेदान्त के अनुसार निर्विकल्पक प्रत्यक्ष वह ज्ञान है जो किसी विषय का बिना उसके अन्तर्सम्बन्धो का बोध कराये ही साक्षात् ज्ञान कराता है, परन्तु यह बिना किसी इन्द्रिय की सहायता के द्वारा प्राप्त किया गया है। **शंकरोत्तर अद्वैत वेदान्तियों** के अनुसार ज्ञान की प्रत्यक्षात्मकता का स्रोत ऐन्द्रिक न होकर प्रमाण चैतन्य का प्रमेय चैतन्य के साथ अभेद होने में है। प्रत्यक्ष की यह विशेषता "सोऽयं देवदत्तः", "तत्त्वमसि" इत्यादि जैसे वाक्यों के द्वारा प्रस्तुत ज्ञान में पायी जाती है। इस प्रकार का निर्विकल्पक प्रत्यक्ष ही वैध ज्ञान है, क्योंकि इससे एक ऐसे विषय का बोध होता है जिसका किसी दूसरे ज्ञान द्वारा बाध नहीं हुआ है तथा जिसका किसी अन्य यथार्थ ज्ञान द्वारा विरोध न हो। इस प्रकार **अद्वैत वेदान्त की निर्विकल्पक अनुभूति का स्वरूप पराबौद्धिक है, जबकि बौद्ध दर्शन के निर्विकल्पक प्रत्यक्ष का स्वरूप ऐन्द्रिक भी है,** क्योंकि बौद्धमतानुसार प्रथम क्षण में इन्द्रिय और अर्थ के द्वारा प्राप्त किया जाने वाला ज्ञान ही प्रत्यक्ष है। इस दृष्टि से भी अद्वैत मत की श्रेष्ठता सिद्ध होती है।

अद्वैत वेदान्त के अनुसार प्रत्यक्ष प्रमाण का मुख्य प्रयोजन अद्वैत तत्त्व का प्रतिपादन है तथा ब्रह्म का निरूपण है। प्रत्यक्ष प्रमाण के बल पर अद्वैत वेदान्त ने यह बात सिद्ध कर दी है कि सम्पूर्ण जगत् चैतन्यमय है। चैतन्य से भिन्न कोई वस्तु नहीं है। प्रमाण, प्रमेय और प्रमाता सबकी स्थिति चैतन्यमय ही है। इस प्रकार **निष्कर्ष** के रूप में हम कह सकते हैं कि **प्रत्यक्ष के समग्र पक्षों पर अद्वैत वेदान्त का मत अधिक तर्कसंगत है।**

संदर्भ-ग्रंथ-सूचिका

1. तर्क भाषा, मिश्र; केशव, व्याख्या–शुक्ल; बदरीनाथ, मोतीलाल बनारसी दास, द्वितीय संस्करण, 1976, पृ० 66।
2. वेदान्तपरिभाषा, धर्मराजाध्वरीन्द्र, व्याख्या–मुसलगाँवकर; श्री गजानन शास्त्री, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1983, पृ० 22।
3. तर्कभाषा, मिश्र, केशव, व्याख्या–शुक्ल, बदरीनाथ, मोतीलाल बनारसी दास, द्वितीय संस्करण, 1976, पृ० 64।
4. प्रवचनसार, 1.40, 41, कुन्दकुन्द, सम्पादित डॉ० उपाध्ये, बम्बई, 1935।
5. सर्वार्थसिद्धि, 1.12 103.9, देवनन्दी, पूज्यपाद, भारतीय ज्ञान पीठ, वाराणसी, 1955।
6. राजवार्तिक, 1.12.1.53.4, अकलक, भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी, 1957।
7. प्रमाणवार्तिक, 3.1, धर्मकीर्ति, किताब महल, इलाहाबाद, 1943।
8. न्यायसूत्र 1.1.4, गौतम, कलकत्ता संस्कृत ग्रन्थमाला, ग्रन्थांक 18, कलकत्ता 1936।
9. न्यायकन्दली, श्रीधर, निर्देशक अनुसंधान संस्थान, वाराणसेय सस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, 1963, पृ० 189।
10. Fragments from Dinnaga, Ranadel; H.N., Royal Asiatic Society London, 1926 P. 16.
11. न्यायविन्दुटीका, धर्मोत्तर, काशी प्रसाद जायसवाल अनुशीलन संस्था, पटना, 1955, पृ० 3–8।
12. वही, पृ० 12–13।
13. Buddhist Logic, Stcherbastsky, T., Dover Publication, New Yark, 1962, part 1, P. 149.
14. न्यायविन्दुटीका, धर्मोत्तर, काशी प्रसाद जायसवाल अनुशीलन संस्था, पटना, 1955, पृ० 3–13, 10–12।
15. Quoted, Fragments from Dinnaga, Ranadel; H.N., Royal Asiatic Society, Londan, 1962, P. 10.
16. न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका, मिश्र, वाचस्पति, कलकत्ता संस्कृत ग्रन्थमाला, ग्रन्थांक, 18, कलकत्ता, 1936, पृ० 150।
17. वही, पृ० 150।
18. न्यायवार्तिक, उद्योतकर, कलकत्ता संस्कृत ग्रन्थमाला, ग्रन्थांक 18, कलकत्ता, 1936, पृ0 41।
19. वही, पृ० 41।
20. न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका, मिश्र; वाचस्पति, कलकत्ता संस्कृत ग्रन्थमाला, ग्रन्थांक 18, कलकत्ता, 1936, पृ0 152।
21. प्रमाणवार्तिक, 2.247, धर्मकीर्ति, किताब महल इलाहाबाद, 1943।
22. प्रमाणसमुच्चय, 1.14, दिङ्नाग, मैसूर विश्वविद्यालय प्रकाशन, मैसूर, 1930
23. Buddhist Logic, Stcherbalsky; T., Dover Publication, New Yark, 1962, Part 1, P. 175.
24. प्रमाणसमुच्चय, 1.3, दिङनाग, मैसूर विश्वविद्यालय प्रकाशन ,मैसूर, 1920।।
25. न्यायवार्तिक, उद्योतकर, कलकत्ता संस्कृत ग्रन्थमाला, ग्रन्थांक 18, कलकत्ता, 1936, पृ0 41।
26. न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका, मिश्र; वाचस्पति, कलकत्ता संस्कृत ग्रन्थमाला, ग्रन्थांक 18, कलकत्ता, 1936, पृ0 153–154।
27. प्रमाणवार्तिक, 2.123, धर्मकीर्ति, किताब महल, इलाहाबाद 1943।
28. न्यायविन्दु 1.4, धर्मकीर्ति, काशी प्रसाद जायसवाल अनुशीलन संस्था, पटना, 1955।

29. न्यायविन्दुटीका, धर्मोत्तर, काशी प्रसाद जायसवाल अनुशीलन संस्था, पटना, 1955, पृ० 2–3।

30 वही, पृ० 9।

31 प्रमाणवार्तिक, 2 213, धर्मकीर्ति, किताब महल इलाहाबाद, 1943।

32. प्रकरणपचिका, मिश्र, शालिकनाथ, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय मुद्रणालय, काशी, 1961, पृ० 142।

33. न्यायसूत्र, 1 1.4, गौतम, कलकत्ता सस्कृत ग्रन्थमाला, ग्रन्थांक 18, कलकत्ता, 1936।

34 न्यायसूत्रभाष्य, 1.1 4, वात्स्यायन, कलकत्ता सस्कृत ग्रन्थमाला, ग्रन्थांक 18, कलकत्ता, 1936।

35 प्रकरणपचिका, मिश्र, शालिकनाथ, काशी हिन्दूविश्वविद्यालय मुद्रणालय, काशी, 1961, पृ 134–135।

36. तत्त्वचिन्तामणि, उपाध्याय, गंगेश, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, 1917 पृ० 570।

37 तर्कभाषा, मिश्र; केशव, व्याख्या–शुक्ल, बदरीनाथ, मोतीलाल बनारसीदास, द्वितीय संस्करण, 1976, पृ० 5।

38 न्यायसिद्धान्तमजरी, अमर यन्त्रालय, रामापुरा, काशी, सं० 1941, पृ० 2।

39. न्यायसिद्धान्तमुक्तावली, पचानन; विश्वनाथ, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, द्वितीय संस्करण, 1984, पृ० 280।

40. प्रशस्तपादभाष्य, प्रशस्तपाद, निर्देशक अनुसन्धान सस्थान, वाराणसेय सस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, 1963, पृ० 163।

41. वही, पृ० 160।

42. वही, पृ० 161।

43. साख्यप्रवचनभाष्य, विज्ञान भिक्षु, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, 1928, पृ० 52–53।

44. वही, पृ० 52।

45. व्यासभाष्य, 4.22, व्यास, भारतीय विद्याप्रकाशन, पंच गगाघाट, वाराणसी, 1961।

46. मीमासासूत्र, 1.1.4, जैमिनि, आनन्दाश्रम मुद्रणालय, पूना, 1929।

47. श्लोकवार्तिक, भट्ट; कुमारिल, मद्रास विश्वविद्यालय प्रकाशन, मद्रास, 1940, पृ० 36.

48. वही, पृ० 38।

49. प्रकरणपचिका, मिश्र, शालिकनाथ, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय मुद्रणालय, काशी, 1961, पृ० 104।

50. वही, पृ० 146।

51 वही, पृ० 146।

52. वृहती, 1.1.5, मिश्र; प्रभाकर, चौखम्बा प्रकाशन वाराणसी, 1929, पृ० 66,

53. प्रकरणपंचिका, मिश्र; शालिकनाथ, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय मुद्रणालय, काशी, 1961, पृ० 104।

54. वेदान्तपरिभाषा, धर्मराजाध्वरीन्द्र, व्याख्या–मुसलगाँवकर; श्री गजानन शास्त्री, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1983, पृ० 25।

55. तत्त्वप्रदीपिका, 1.1, चित्सुखाचार्य, उदासीन संस्कृत विद्यालय, काशी, 1956।

56. अद्वैतसिद्धि, सरस्वती, मधुसूदन, निर्णयसागर मुद्रणालय, बम्बई, 1917, पृ० 783.।

57. बृहदारण्यक उपनिषद्, 3.4.1, वैदिक सशोधन मण्डल, पूना, 1958 ।

58. वेदान्तपरिभाषा, धर्मराजाध्वरीन्द्र, व्याख्या—मुसलगॉवकर; श्री गजानन शास्त्री, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1983, पृ० 9 ।

59. वही, पृ० 340—42.

60. वही, पृ० 62 ।

61. वही, पृ० 64 ।

62. वही, पृ० 64 ।

63. वही, पृ० 66 ।

64. वही, पृ० 68 ।

65. वही. पृ० 70 ।

66. वही, पृ० 77—71.

67. वही, पृ० 37 ।

68. वही, पृ० 39 ।

69. वही, पृ० 37 ।

70. वही, पृ० 42—43.

71. वही, पृ० 20 ।

72. वही, पृ० 25 ।

73. वही, पृ० 37 ।

74. प्रमाणवार्तिक (मनोरथनन्दि वृत्ति), 2.13, धर्मकीर्ति, बौद्ध भारती प्रकाशन, वाराणसी, 1968 ।

75. न्यायमंजरी, भाग—1, भट्ट; जयन्त, प्राच्यविद्या संशोधनालय, मैसूर, 1970, पृ० 14 ।

76. प्रमाणकणिका, मिश्र; वाचस्पति, तारा पब्लिकेशन वाराणसी, 1978, पृ० 256 ।

77. प्रमाणवार्तिक 2.224, धर्मकीर्ति, किताब महल, इलाहाबाद, 1943 ।

78. विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि, 1, बसुबन्धु, नवनालन्दामहाविहार रिसर्च पब्लिकेशन, नालन्दा, 1957 ।

79. भारतीय दर्शन का सर्वेक्षण, पाण्डेय; प्रो. संगम लाल, सेन्ट्रल बुक डिपो, इलाहाबाद, 1981, पृ० 286 ।

80. वेदान्तपरिभाषा, धर्मराजाध्वरीन्द्र, व्याख्या—मुसलगॉवकर; श्री गजानन शास्त्री, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1983, पृ० 39 ।

81. न्यायभाष्य, 1.1.12, वात्स्यायन, कलकत्ता संस्कृत ग्रन्थमाला, ग्रन्थांक 18, कलकत्ता, 1936 ।

82. न्यायसूत्र 1.1.6, गौतम, कलकत्ता संस्कृत ग्रन्थमाला, ग्रन्थांक 18, कलकत्ता, 1936 ।

83. न्यायरत्नाकर, भट्ट; कुमारिल, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, 1953, पृ० 108 ।

84. मानमेयोदय, भट्ट; नारायण, थियोसाफिकल पब्लिशिंग हाउस, अड्यार मद्रास, 1933, पृ० 15 ।

85. मानमेयोदय, भट्ट; नारायण, थियोसाफिकल पब्लिशिंग हाउस, अड्यार मद्रास, 1933, पृ० 18—19 ।

86. न्यायरत्नाकर, भट्ट; कुमारिल, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, 1953, पृ० 252—53 ।

87. श्लोकवार्तिक, भट्ट; कुमारिल, मद्रास विश्वविद्यालय प्रकाशन, मद्रास, 1940, पृ० 26।
88 वही, पृ० 27।
89 भारतीय दर्शन का सर्वेक्षण, पाण्डेय, प्रो. सगम लाल, सेन्ट्रल बुक डिपो, इलाहाबाद, 1981, पृ० 110।
90. न्यायबिन्दु, धर्मकीर्ति, काशीप्रसाद जायसवाल अनुशीलन सस्था, पटना, 1955, पृ० 17।
91. प्रमाणवार्तिक, 3.124, धर्मकीर्ति, किताब महल इलाहाबाद, 1943।
92. श्लोकवार्तिक, 1 1.4.60, भट्ट, कुमारिल, मद्रास विश्वविद्यालय प्रकाशन, मद्रास, 1940।
93. प्रमाणवार्तिक, 3 239 धर्मकीर्ति, किताब महल, इलाहाबाद, 1943।
94. न्यायबिन्दु, धर्मकीर्ति, काशी प्रसाद जायसवाल अनुशीलन सस्था, पटना, 1955, पृ० 17।
95. प्रमाणवार्तिक, 3.239 धर्मकीर्ति, किताब महल, इलाहाबाद, 1943।
96. Buddhist Logic, Vol. I, Stcherbatsky; T., Dover Publication, New Yark, 1962।
97. न्यायविन्दुटीका, धर्मोत्तर, काशी प्रसाद जायसवाल अनुशीलन संस्था, पटना, 1955, पृ० 14।
98. न्यायबिन्दुटीका, 1.10, धर्मोत्तर, काशी प्रसाद जायसवाल अनुशीलन संस्था, पटना, 1955।
99. प्रमाणवार्तिक, 3.239, धर्मकीर्ति, किताब महल, इलाहाबाद, 1943।
100. न्यायबिन्दु, 1.10, धर्मोत्तर, काशी प्रसाद जायसवाल अनुशीलन सस्था, पटना, 1955।
101. न्यायसूत्र, 1 1.4, गौतम, कलकत्ता सस्कृत ग्रन्थमाला, ग्रन्थांक 18, कलकत्ता, 1936।
102. न्यायकन्दली, श्रीधर, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, पृ० 198।
103. न्यायसिद्धान्तमुक्तावली, 134, विश्वनाथ, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, द्वितीय संस्करण, 1984।
104 वही, 135–136।
105. प्रमाणसमुच्चय, 1.3, दिङ्नाग, मैसूर विश्वविद्यालय प्रकाशन, मैसूर, 1930।
106. न्यायबिन्दु, धर्मकीर्ति, काशी प्रसाद जायसवाल अनुशीलन संस्था, पटना, 1955, पृ० 11।
107. तर्कभाषा, मिश्र, केशव, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, 1953, प्रत्यक्ष, पृ० 69।
108. न्यायसिद्धान्तमुक्तावली, विश्वनाथ, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, द्वितीय संस्करण, 1984, प्रत्यक्ष पृ० 65।
109. वही, पृ० 66।
110. सांख्यसूत्र पर अनिरुद्धवृत्ति, अनिरुद्ध, पं. आशुतोष विद्याभूषण तथा पं. नित्यबोध विद्यारत्न, कलकत्ता, 1935, पृ० 1, 89।
111. सांख्यतत्त्वकौमुदी, 27, मिश्र; वाचस्पति, सत्य प्रकाशन, बलरामपुर हाउस, इलाहाबाद, 1962।
112. श्लोकवार्तिक, भट्ट; कुमारिल, मद्रास विश्वविद्यालय प्रकाशन, मद्रास, 1940, पृ० 112।
113. वही, पृ० 111।
114. प्रकरणपंचिका, मिश्र; शालिकनाथ, काशी विश्वविद्यालय मुद्रणालय, काशी, 1961, पृ० 141।
115. वही, पृ० 141।

116 वही, पृ० 141।

117 वही, पृ० 138।

118. वेदान्तपरिभाषा, धर्मराजाध्वरीन्द्र, व्याख्या—मुसलगॉवकर, श्री गजानन शास्त्री, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1983, पृ० 76—77।

119. वही, पृ० 82।

120. वही, पृ० 85।

121. वही, पृ० 88।

122 वही, पृ० 89।

123 वही, पृ० 89।

124 वही, पृ० 143।

125 वही, पृ० 143।

अध्याय : तृतीय

अनुमान प्रमाण

अनुमान प्रमाण

सम्पूर्ण भारतीय दर्शन मे ज्ञान प्राप्ति के साधनों में जितना व्यापक व गहन चिन्तन अनुमान प्रमाण के बारे में किया गया है, उतना अन्य किसी प्रमाण के बारे में नहीं। न्याय दर्शन का तो यह सर्वाधिक प्रिय विवेच्य विषय रहा है। न्याय दर्शन में अनुमान को दूसरे प्रमाण के रूप में प्रस्तुत किया है। अनुमान के सम्बन्ध में वैशेषिक, न्याय, मीमांसा और जैन सम्प्रदायों में विशेष रूप से तथा सांख्य, योग और वेदान्त सम्प्रदायों में गौण रूप से चिन्तन किया गया है। अनेक दार्शनिक सम्प्रदायों में अनुमान के बारे में न्याय मत को किसी न किसी रूप में स्वीकार कर लिया गया है। अद्वैत वेदान्त में अनुमान का व्यवस्थित विवेचन वेदान्तपरिभाषा व उसकी टीकाओं में किया गया है। लेकिन इन ग्रन्थों में अनुमान के बारे मुख्यत· केवल उन्ही विन्दुओं पर विचार किया है, जहॉ वेदान्तियों की नैयायिकों से असहमति है। सहमति के बिन्दुओं को लगभग यथावत् रूप में स्वीकार कर लिया गया है।

"अनुमान" "अनु" और "मान" इन दो शब्दों से मिलकर बना है जिनमें से प्रथम का अर्थ है "पश्चात्" और द्वितीय का अर्थ है "ज्ञान"। अतः अनुमान का शाब्दिक अर्थ हुआ "पश्चात ज्ञान" अर्थात् वह ज्ञान जो एक ज्ञान के पश्चात् आता है, अनुमान कहा जाता है। अनुमान शब्द की व्युत्पत्ति दो प्रकार से की जा सकती है– "अनुमितिः अनुमानम्" तथा "अनुमीयते अनेन इति अनुमानम्।" प्रथम अर्थ में अनुमान अनुमिति प्रमा का बोधक है, जबकि द्वितीय अर्थ में अनुमान अनुमिति प्रमा के करण का वाचक है। अर्थात् अनुमान अनुमिति प्रमा का साधन है। सामान्यत· सभी दार्शनिकों ने **"अनुमितिकरणमनुमानम्"** को अनुमान का लक्षण माना है। किन्तु अनुमिति–प्रमा के लक्षण तथा उसके करण को लेकर विभिन्न दर्शनों में भिन्न–भिन्न मतों का प्रतिपादन किया गया है।

अनुमान का लक्षण

वैशेषिकसूत्रकार **महर्षि कणाद** की मान्यतानुसार कार्य, कारण, संयोगी, विरोधी एवं समवायी आदि लिंगों के आधार पर सम्बद्ध "लिंगी" का जो ज्ञान होता है, उसको लैंगिक अर्थात अनुमान कहते हैं– **"अस्येदं कार्यं कारणं संयोगि विरोधि समवायि चेति लेङ्गिकम्।"**[1] लिंग का ज्ञान प्रसिद्धिपूर्वक होता है–**"प्रसिद्धिपूर्वकत्वादपदेशस्य"।**[2] प्रसिद्धि को ही व्याप्ति कहते हैं। जिसके साथ जिसकी प्रसिद्धि होती है, वह उसका लिंग कहलाता है और लिंग ज्ञान व्याप्ति–ज्ञानाधीन होने के कारण, अनुमिति प्रमा का साधक होता है। व्याप्ति ज्ञान के बिना, लिंग ज्ञान, प्रमिति साधक नहीं हो सकता। अनुमिति के लिए प्रसिद्धि को नियमित होना चाहिए। इसके लिए ग्रन्थकार ने **पाँच हेतुओं** का उल्लेख किया है। इनमें से किसी एक को लिंग बनाकर अनुमान किया जाता

है। ये है—**कारण कार्य, कार्य कारण, संयोग, विरोध और समवाय।**

प्रशस्तपाद ने कणादोक्त लिगो को न गिनाकर सामान्य रूप से अनुमान का लक्षण निर्दिष्ट किया है। उनके अनुसार अनुमान वह है जिसमें लिंग के दर्शन से ज्ञान उत्पन्न होता है—**"लिंगदर्शनात् संजायमानं लैंगिकम्।"**[3] यहाँ "दर्शन" का अर्थ केवल चक्षु से उत्पन्न होने वाला चाक्षुष प्रत्यक्ष ज्ञान ही नही है, अपितु सभी ज्ञान या उपलब्धि इससे अभिप्रेत हैं। इसीलिए **उदयन** ने दृष्ट अनुमिति तथा स्मृति द्वारा ज्ञात हेतुओ से भी अनुमान होना स्वीकार किया है—**"दर्शनं ज्ञानं तथा च दृष्टादनुमितात् स्मृताच्च लिंगादित्यर्थः।"**[4] **शंकर मिश्र** ने प्रशस्तपाद का समर्थन करते हुए कहा है कि व्याप्ति-विशिष्ट पक्ष धर्मरूप हेतु से उत्पन्न होने वाला ज्ञान लैंगिक है। **शिवादित्य** के अनुसार जो अनुमिति प्रमा के अयोग से व्यच्छिन्न हो, वही अनुमान है और वह व्याप्ति पक्षधर्मता से विशिष्ट हेतु ज्ञान ही है।

संक्षेपतः, **वैशेषिक दर्शन** में अनुमान हेतु के ज्ञान से उत्पन्न होने वाला सम्यक् ज्ञान है। ऐसा लक्षण करने से संशय, विपर्यय व स्मृति का अनुमान से व्यावर्तन हो जाता है, क्योंकि यह यथार्थरूप से अपने विषयो का बोध न कराने के कारण सम्यक् ज्ञान नहीं है। सार यह है कि अनुमिति का करण लिंग ज्ञान (अनुमान) है। इसे संवर्द्धित रूप मे यह कहा गया है कि लिंग का ज्ञान नही वरन् लिंग परामर्श अनुमिति का कारण है।

न्यायसूत्रकार **महर्षि गौतम** ने **"तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानम्"** कहकर अनुमान का लक्षण निर्धारित किया है। इस सूत्र में ''तत्'' पद के विभिन्न अर्थ निश्चित किये गये हैं। **वात्स्यायन** की मान्यता है कि ''तत्'' शब्द से "लिंग-लिंगि दर्शन'' तथा "लिंग दर्शन" दोनों अभिप्रेत हैं। लिंगी के साथ लिंग का सम्बन्ध ग्रहण हो जाने के बाद लिंग दर्शन से व्यापित का स्मरण होता है। व्याप्ति के स्मरण के पश्चात् लिंगज्ञान होता है और लिंग ज्ञान से परोक्ष वस्तु की जानकारी होती है। इसे ही अनुमान कहते हैं— **"तर्कपूर्वकमित्यनेन लिङ्गलिङ्गिनोः संबन्धदर्शनं लिंगदर्शनम् . . . . अनुमीयते।"**[5] वात्स्यायन के मत को अधिक स्पष्टता प्रदान करने का श्रेय **उद्योतकर** को है। उनके अनुसार महानस आदि में लिंग-लिंगी के सम्बन्ध का दर्शन अर्थात् ज्ञानरूप प्रथम प्रत्यक्ष होता है। तदनन्तर पर्वत आदि पक्ष में धूम आदि लिंग का द्वितीय प्रत्यक्ष होता है और व्याप्ति का स्मरण होता है। उसके पश्चात् तृतीय लिग दर्शन (धूम का प्रत्यक्ष ज्ञान) होता है, वही अनुमिति का करण होने से अनुमान कहलाता है। इस तृतीय लिंग दर्शन को ही **उद्योतकर** ने पारिभाषिक रूप से **"परामर्श"**[6] या **"लिंग परामर्श"**[7] कहा है।

जयन्त भट्ट के अनुसार पक्षसत्व इत्यादि पाँच लक्षणों से युक्त लिग के ज्ञान से व्याप्ति स्मरण के द्वारा उत्पन्न परोक्ष लिंगी (साध्य) विषयक ज्ञान अनुमिति है और उसके कारण को अनुमान कहा जाता है।[8] जयन्त भट्ट द्वारा स्वीकृत **हेतु के पाँच लक्षण** हैं—**1. पक्षसत्त्व, 2. सपक्षसत्त्व, 3. विपक्षासत्त्व या विपक्षव्यावृत्ति, 4. अबाधित विषयत्व, 5. असत्प्रतिपक्षत्व।** हेतु के इन पाँच लक्षणों में से यदि किसी एक का अभाव हुआ, तो हेतु सत् हेतु न रहकर,

हेत्वाभास हो जाता है।[9]

जयन्त की यह भी मान्यता है कि यद्यपि अनुमान मुख्यतः प्रत्यक्ष पर ही आश्रित होता है, जैसे धुँआ को देखकर आग का अनुमान, मनुष्य को देखकर मरणशीलता का अनुमान, बादल को देखकर वर्षा का अनुमान आदि, परन्तु जहाँ प्रत्यक्ष द्वारा अनुमान का आधार नहीं मिलता है, वहाँ आप्तवचन द्वारा प्राप्त ज्ञान ही अनुमान का आधार हो जाता है। जैसे, शास्त्र वचन द्वारा आत्मा की अमरता का ज्ञान प्राप्त कर लेने के बाद हमें यह अनुमान हो जाता है कि आत्मा निरवयव है। इस प्रकार, जयन्त का मानना है कि हालाँकि प्रधानतः प्रत्यक्ष ही अनुमान का आधार है, किन्तु अन्य प्रमाण भी अनुमान के आधार हो सकते हैं।

नव्य न्याय के जनक **गंगेशानुसार, "व्याप्तिविशिष्ट पक्षधर्मता के ज्ञान से उत्पन्न होने वाले ज्ञान को अनुमिति और उसके कारण को अनुमान कहते हैं। अनुमान लिंग विषयक परामर्श है, न कि परामृश्यमानलिंग।"**[10] **रघुनाथ शिरोमणि** ने गंगेश के मत का समर्थन किया है। **केशव मिश्र** के अनुसार जिससे अनुमिति की जाती है, वह अनुमान है। लिंग परामर्श से अनुमिति की जाती है, अतः लिंग परामर्श ही अनुमान है।[11] **"तर्कसंग्रह"** में भी **"परामर्श से उत्पन्न ज्ञान को अनुमिति तथा उसके कारण को अनुमान कहा गया है।"**[12]

मीमांसा दर्शन के प्रवर्तक **महर्षि जैमिनि** ने अनुमान का कोई लक्षण निर्दृष्ट नहीं किया है। किन्तु भाष्यकार **शबरस्वामी** ने अनुमान के लक्षण को स्पष्ट करते हुए लिखा है— ज्ञात सम्बन्ध (विदित व्याप्ति सम्बन्ध) के सम्बन्धी एक देश दर्शन से (लिंग दर्शन से) एक देशान्तर (अन्य एकदेश रूप साध्य) असन्निकृष्ट अर्थ (असम्बद्ध विषय) का ज्ञान ही अनुमान है—**"अनुमानं ज्ञातसम्बन्धस्य एकदेशदर्शनात् एकदेशान्तरे असन्निकृष्टे अर्थे बुद्धिः।"**[13]

शाबर भाष्य के भाष्यघटक "ज्ञातसम्बन्धस्य" पद की व्याख्या करते हुए **कुमारिल भट्ट** ने चार पक्ष प्रस्तुत किये हैं— "प्रथम पद को प्रमाता या एकदेशी के रूप में व्यक्त किया जा सकता है अथवा "ज्ञान" सम्बन्ध से केवल सम्बन्ध को लिया जा सकता है और एक देश से उसके दो अंग अथवा लिंग–लिंगी समुदाय का भी ग्रहण किया जा सकता है।"[14]

इस प्रकार से **कुमारिल भट्ट** ने शबर स्वामी द्वारा प्रस्तुत अनुमान की परिभाषा की व्याख्या चार प्रकार से की है जिनको स्पष्ट करते हुए **पार्थसारथि** मिश्र ने लिखा है—

प्रथम विकल्प के अनुसार जिस प्रमाता के द्वारा सम्बन्ध ज्ञात है, उसकी बुद्धि (ज्ञान) ही अनुमान है। अर्थात् जिस अनुमाता को पूर्व में धूम और अग्नि का सम्बन्ध ज्ञात हो, वही यदि कालान्तर में पर्वत पर धूम देखता है, तो उसे तुरन्त व्याप्ति स्मरण द्वारा वहाँ अग्नि का अनुमान हो जाता है।

द्वितीय विकल्प के अनुसार महानस रूप सपक्ष में धूम और अग्नि के नियत सम्बन्ध को जानकर, पक्षरूप पर्वत पर धूम के दर्शन से अग्नि का जो ज्ञान होता है, वही अनुमान है।

तृतीय विकल्प के अनुसार सम्बन्ध के एक सम्बन्धी धूम से, अपर सम्बन्धी अग्नि का जो

ज्ञान होता है, वही अनुमान है।

चतुर्थ और अन्तिम विकल्प के अनुसार एकदेश (समुदायी) के ज्ञान से लिंग दर्शन (धूम दर्शन) के माध्यम से दूसरे समुदायी (साध्यरूप अग्नि) का जो ज्ञान होता है, वही अनुमान है।

प्राभाकर मीमांसकों के अनुसार समान अधिकरण मे आश्रित रहने वाले एकदेशों (हेतु और साध्य) के अधिगत सम्बन्ध नियम (महानस आदि अधिकरण में आश्रित रहने वाले हेतु धूम और साध्य अग्नि में अवधारित किया हुआ व्याप्ति सम्बन्ध द्वारा एकदेश दर्शन पर्वत शिखर पर दिखाई देने वाले हेतु— धूम का ज्ञान) से अन्य एक देश (साध्य-अग्नि) रूप असन्निकृष्ट अर्थ मे जो अबाधित ज्ञान होता है, वही अनुमान है।

"सांख्यसूत्र" के प्रणेता **महर्षि कपिल** के अनुसार **''प्रतिबन्ध दर्शन से प्रतिबद्ध का ज्ञान होना ही अनुमान है।''**[15] यहाँ प्रतिबन्ध दर्शन से आशय व्याप्ति ज्ञान से है। इस आधार पर कहा जा सकता है कि व्याप्ति ज्ञान से होने वाला व्यापक (प्रतिबद्ध)का ज्ञान अनुमान है।[16] **ईश्वरकृष्ण** के अनुसार लिग से लिंगी का ज्ञान अनुमान है।[17] ईश्वरकृष्ण के मत की व्याख्या करते हुए **माठर** ने लिखा है कि अनुमान लिगलिंगिपूर्वक अर्थात् हेतु तथा साध्य से उत्पन्न होने वाला ज्ञान है। इसमे लिग से लिगी तथा लिंगी से लिंग दोनो प्रकार का ज्ञान अनुमान मे होता है। जैसे, त्रिदण्ड से सन्यासी का ज्ञान तथा सन्यासी से त्रिदण्ड का ज्ञान होता है।[18] **वाचस्पति मिश्र** व्याप्य-व्यापक भाव तथा पक्षधर्मता ज्ञान से उत्पन्न ज्ञान को अनुमान कहते है।[19]

"योगसूत्र" में अनुमान का कोई निश्चित लक्षण निर्दृष्ट नहीं किया गया है, परन्तु **''योगभाष्य''** मे कहा गया है कि अनुमान करने योग्य वस्तु का समान जातियों से युक्त करने वाला तथा भिन्न जातियों से पृथक् करने वाला जो सम्बन्ध है,तद्विषयक सामान्यरूप से निश्चय करने वाली प्रधानवृत्ति को अनुमान कहते हैं। आगे कहा गया है कि लिंग से लिंगी का सम्बन्ध ग्रहणकरके सामान्य रूप से होने वाला निश्चय अनुमान है।

वस्तुत. देखा जाय तो जिस "पर्वतो-वह्निमान्" इत्याकारक व्यवसायरूप ज्ञान को न्याय दर्शन में अनुमिति प्रमा माना गया है, उसे ही साख्य–योग दर्शन मे बुद्धि–वृत्ति रूप अनुमान प्रमाण कहा जाता है तथा जिसको नैयायिक 'अहं वह्नि अनुमिनोमि' इत्याकारक अनुमिति ज्ञान को विषय करने वाला अनुव्यवसाय कहते हैं, उसे ही सांख्य-योग में पौरुषेय बोध रूप अनुमिति प्रमा कहा गया है।

अद्वैत वेदान्त में अनुमान का सामान्य और विशेष दोनों लक्षण दिया गया है। सामान्य लक्षण के अनुसार अनुमिति का करण अनुमान है— **"अनुमितिकरणमनुमानम्"**[20] और विशेष लक्षण के अनुसार ज्ञाप्ति ज्ञानत्व धर्म से अवच्छिन्न व्याप्तिज्ञान द्वारा उत्पन्न होने वाला ज्ञान अनुमिति है—**"अनुमितिश्च व्याप्तिज्ञानत्वेन व्याप्तिज्ञानजन्या।"**[21] अनुमितिमूलक यथार्थज्ञान, व्याप्ति ज्ञानत्व रूप होता है, अतः अनुव्यवसाय, स्मृति, शब्द ज्ञान आदि के लक्षणों में इसकी अतिव्याप्ति नहीं होती।[22] 'पर्वतो वह्निमान् धूमात्' में धूम को वह्नि व्याप्य कहा गया है, क्योंकि

धूम में वह्नि की व्याप्ति रहती है। इस व्याप्ति ज्ञान को व्याप्ति प्रकारक ज्ञान कहा गया है। **धर्मराजाध्वरीन्द्र** के अनुसार अनुमान की प्रक्रिया में सर्वप्रथम पक्ष मे हेतु के ज्ञान से महानस आदि में ग्रहण किया हुआ व्याप्ति ज्ञान का संस्कार उद्‌वुद्ध होता है, तदुपरान्त व्याप्ति के स्मरण से अनुमिति होती है। पक्षधर्मता का ज्ञान होने पर भी व्याप्ति का यदि स्मरण न हुआ तो अनुमिति नहीं हो सकती है– **"अनुमितिकरणं च व्याप्तिज्ञानं तत्संस्कारोऽवान्तर व्यापारः, न तु तृतीय लिंग परामर्शोऽनुमितौ करणम्, तस्यानुमिति हेतुत्वाऽसिद्धया तत्करणत्वस्य दूरनिरस्त्वात्।"**[23]

जैन दर्शन के उपलब्ध सहित्य में केवल **"न्यायावतार"** मे ही अनुमान का लक्षण निर्दृष्ट किया गया है। **सिद्धसेन दिवाकर** के अनुसार साध्य के अभाव में न होने वाले अविनाभावीय लिंग द्वारा साध्य का जो निश्चयात्मक ज्ञान होता है, उसे अनुमान कहते हैं–

"साध्यविनानुमो लिंगात् साध्यनिश्चायकं स्मृतम्।
अनुमानं तद्भ्रान्तं प्रमाणत्वात् समक्षवत् ।।"[24]

अकलंक के अनुसार साधन द्वारा साध्य का ज्ञान होना ही अनुमान हैं– **"साधनात् साध्यविज्ञानम् अनुमानम् तदत्यते।"**[25] विद्यानन्द, माणिक्यनन्दि, हेमचन्द्र, धर्मभूषण, यशोविजय जैसे परवर्ती जैन आचार्यो ने अकलक के लक्षण को स्वीकार किया है। इन सब लक्षणों का सार यह है कि **अनुमिति का असाधारण कारण अनुमान कहलाता है।**

बौद्ध दार्शनिक **दिङ्नाग** ने अनुमान के लक्षण में कहा है कि **"ज्ञात अविनाभाव सम्बन्ध द्वारा नान्तरीयक अर्थ का दर्शन ही अनुमान है।"**[26] एक वस्तु का तत्सम्बन्धित दूसरी वस्तु के अभाव में कभी भी न रहना नान्तरीयक कहलाता है या जो वस्तु इस नान्तरीयक (अविनाभाव) सम्बन्ध से सम्बद्ध होती है, वह नान्तरीयक है। जैसे, सूर्योदय से सर्वत्र प्रकाश होता है, अन्यथा नहीं। जिसे दो वस्तुओं का अविनाभाव सम्बन्ध ज्ञात है, उसे ही "नान्तरीयक" एक वस्तु के देखने से अपर वस्तु का अनुमान होता है। यहाँ पर "नान्तरीयक" विशेषण है तथा "अर्थ" विशेष्य। अतएव नान्तरीयकार्थ में कर्मधारय समास हुआ। यह हेतु त्रिरूपता सम्पन्न होता है लिंग का अनुमेय में होना (पक्ष में रहना), सपक्ष में निश्चित सत्व, विपक्ष में निश्चित असत्व ही त्रिरुपता है–**"अनुमेयेऽथ तत्तुल्ये सद्‌भावो नास्तिताऽसति।"**[27] इस त्रिरूप लिंग के द्वारा ही साध्यरूप अर्थ का ज्ञान होता है। **"न्यायप्रवेशपंजिका"** में भी इसे ही शब्दातंर से विवेचित किया गया है।[28]

धर्मकीर्ति ने **"प्रमाणवार्तिक"** में अनुमान का सामान्यलक्षण देते हुए लिखा है कि किसी सम्बन्धी के धर्म से धर्मी के विषय में जो ज्ञान परोक्ष रूप से उत्पन्न होता है, वही अनुमान है।[29] **मनोरथ नन्दी** ने इसकी व्याख्या मे कहा है कि **अन्वय-व्यतिरेक** लिंग द्वारा, उसे आश्रय में जो परोक्ष अर्थ की प्रतीति होती है, उसे अनुमान कहा जाता है। वह त्रैरूप लिंग से उत्पन्न होता है। यहाँ अनुमान मे परोक्ष अर्थ की एकान्तरिक रूप से सिद्धि की जाती है।[30]

"न्यायविन्दु" मे **धर्मकीर्ति** ने इस प्रकार का कोई भी लक्षण निरूपित नहीं किया है, वरन् इसमें अनुमान को स्वार्थनुमान व परार्थानुमान दो रूपों में विभक्त करके ही दोनों का भिन्न रूप से लक्षण विवेचित किया है। **शान्तरक्षित, धर्मोत्तर व मोक्षाकर गुप्त** ने भी इसी परिपाटी का

अनुसरण किया है।

इस प्रकार हम देखते है कि चार्वाक के अतिरिक्त सभी भारतीय दार्शनिक ज्ञान प्राप्ति के साधन के रूप में अनुमान की वैधता को स्वीकार करते हैं। इनके अनुसार अनुमान किसी पूर्व ज्ञान के पश्चात् आता है। इनकी मान्यतानुसार, अनुमान की प्रक्रिया हेतु पद और साध्य पद के बीच व्याप्ति के पूर्व ज्ञान से सम्पूरित होती है। इस आधार पर कहा जा सकता है कि **अनुमान वह विचार प्रणाली है जिसमें किसी हेतु (लिंग) के द्वारा पक्ष के सम्बन्ध में किसी अन्य वस्तु (साध्य) का ज्ञान प्राप्त होता है, क्योंकि उन दोनों में व्याप्ति का सम्बन्ध विद्यमान रहता है।**

अनुमान का प्रामाण्य

समग्र भारतीय दार्शनिक वाङ्मय में **चार्वाक** ही ऐसा दार्शनिक सम्प्रदाय है जो अनुमान प्रमाण को स्वीकार नही करता। जडवादी चार्वाक दार्शनिकों ने समस्त मानवीय अनुभव का मूल्यांकन केवल प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा सम्पादित करने का प्रयास किया है। उनका मौलिक सिद्धान्त है कि जो पदार्थ प्रत्यक्ष ज्ञान द्वारा उपलब्ध होता है, केवल उसकी की सत्ता है और जिसकी प्रत्यक्ष ज्ञान द्वारा उपलब्धि नही होती, उसका अस्तित्व अस्वीकार्य है। चूँकि स्वर्ग, नरक, आत्मा, परमात्मा आदि अतीन्द्रिय पदार्थो का प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं हो सकता, इसलिए उनकी सत्ता भी नहीं मानी जा सकती। अन्य सभी दार्शनिकों ने अतीन्द्रिय पुरूष, प्रकृति, ईश्वर, आदि तथा लौकिक व्यवहार मे आने के लिए अनुमान की आवश्यकता को स्वीकार किया है। किन्तु चार्वाक दार्शनिकों ने अतीन्द्रिय और लौकिक व्यवहार में आने वाले पदार्थों के लिए भी अनुमान तथा अन्य प्रमाणों को अनावश्यक व अप्रामाणिक ठहराया है। प्रायः सभी दार्शनिक निश्चयात्मक ज्ञान को ही प्रवृत्ति का जनक मानते है। किन्तु चार्वाकों की मान्यता है कि जगत् के सभी कार्यकलाप संभावना के आधार पर निष्पन्न होते हैं। इस संभावना से कभी–कभी हमें वैध और प्रामाणिक ज्ञान की प्राप्ति होती है। अतः संभावनाा को निश्चयात्मक मानकर अनुमान की जो प्रामाणिकता स्वीकार की जाती है, वह काकतालीय (संयोगवशात्) संभावना सर्वदा सफल प्रवृति की जनक न होने के कारण अप्रामाणिक है।

चार्वाक के विरूद्ध **नैयायिकों** का कहना है कि अनुमान सर्वथा प्रामाणिक है, क्योंकि यह हेतु व साध्य के नियत अनौपाधिक सम्बन्ध जिसे व्याप्ति कहा जाता है, पर आधारित होता है। किन्तु **चार्वाक** इस तर्क को नही मानते। उनका कहना है कि अनुमान युक्तिपूर्ण तथा निश्चयात्मक तभी हो सकता है, जब व्याप्ति वाक्य सर्वथा निस्सन्देह हो। किन्तु व्याप्ति सम्बन्ध को किसी प्रकार से स्थापित नहीं किया जा सकता। **वाह्य या आंतर प्रत्यक्ष द्वारा यह सम्बन्ध स्थापित नहीं हो सकता,** क्योंकि वाह्य प्रत्यक्ष इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न होता है तथा यह वर्तमान और सम्बद्ध वस्तुओं का ग्राहक है। इसलिए भूत, भविष्य और वर्तमान सभी विषयों से सम्बद्ध

सम्पूर्ण हेतुओं व साध्यों के मध्य विद्यमान रहने वाला नियत सम्बन्ध अर्थात् व्याप्ति का ग्रहण बाह्य इन्द्रिय प्रत्यक्ष द्वारा संभव नही है। व्याप्ति सम्बन्ध की स्थापना अन्तर प्रत्यक्ष द्वारा भी नहीं हो सकती, क्योंकि मन बाह्य पदार्थो का ग्रहण इन्द्रियों से स्वतंत्र रहकर नहीं कर सकता, क्योंकि वह बाह्य इन्द्रियो द्वारा प्रदान की गयी सामाग्री को ही ग्रहण करता है। **अनुमान के द्वारा भी इसे स्थापित नहीं किया जा सकता**, क्योंकि जिस अनुमान के द्वारा इसकी स्थापना की जायेगी, उसकी सत्यता अंततः व्याप्ति पर ही निर्भर करती है। इस तरह अनुमान को व्याप्ति का आधार माानने पर **'अन्योन्याश्रय दोष'** होगा। व्याप्ति की स्थापना हम **शब्द** के द्वारा भी नहीं कर सकते, क्योकि शाब्दिक प्रमा भी अनुमान के द्वारा ही सिद्ध होती है। दूसरी बात यह है कि यदि अनुमान सदैव शब्द प्रमाण पर ही निर्भर हो, तो फिर कोई भी व्यक्ति स्वतंत्र रुप से अनुमान नहीं कर सकता। उसे सदैव किसी विश्वास योग्य व्यक्ति पर निर्भर करना होगा। इसी तरह **उपमान** संज्ञा– संज्ञी सम्बन्ध ज्ञान तक ही सीमित रहता है, अतः उसके द्वारा और उक्त अन्य प्रमाणों द्वारा अनौपचारिक व्याप्ति सम्बन्ध का ज्ञान नहीं हो सकता।[31]

अपने मत के समर्थन में चार्वाक यह भी कहते है कि यदि यह मान भी लिया जाय कि किसी प्रमाण के द्वारा व्याप्ति सम्बन्ध का ग्रहण होता है, तो यहॉ प्रश्न यह उठता है कि यह सम्बन्ध धूमत्व एव वह्निनत्व आदि सामान्यों में गृहीत होता है या धूम और अग्नि व्यक्तियों में? सामान्यों में तो यह ग्रहीत नही हो सकता, क्योंकि सामान्य नाम की कोई वस्तु है ही नहीं[32] और यदि ऐसा मान भी लिया जाय तो **'सिद्धसाधन दोष'** होगा, क्योंकि अग्नित्व सामान्य के ज्ञान में पर्वतीय अग्नि, जिसका कि अनुमान किया जा रहा है, भी निहित होने से अवगम हो जाती है। व्यक्तियों में इस सम्बन्ध का अवधारण इसलिए नहीं किया जा सकता, क्योंकि धूम और अग्नि व्यक्तियों के अनन्त होने के कारण व्याप्ति का भी आनन्त्य मानना पड़ेगा। इस तरह से **'आनन्त्य दोष'** होगा। इस आधार पर कहा जा सकता है कि विशेष पदार्थों में व्याप्ति गृहीत नहीं होती और सामान्य पदार्थों में सिद्ध साधन दोष होने से अनुमान को प्रमाण नहीं माना जा सकता।[33] चार्वाकों के अनुसार **कार्य–कारण सम्बन्ध** के आधार पर भी व्याप्ति सम्बन्ध को स्थिर नहीं किया जा सकता, क्योकि कार्य–कारण सम्बन्ध भी एक व्याप्ति है। अतः उपर्युक्त कठिनाइयों के कारण इसकी स्थापना भी सभव नहीं है।

चार्वाकों का यह भी कहना है कि दो वस्तुओं को **कई बार साथ–साथ देखकर** हम कार्य–कारण सम्बन्ध या किसी अन्य व्याप्ति की स्थापना नहीं कर सकते, क्योंकि साहचर्य सम्बन्ध को निरौपाधिक भी होना चाहिए। जब तक दो वस्तुओं का सम्बन्ध उपाधि रहित न हो, तब तक वह अनुमान का सही आधार नहीं माना जा सकता। **प्रत्यक्ष** के द्वारा यह सिद्ध नहीं हो सकता कि कोई व्याप्ति उपाधि रहित है, क्योंकि प्रत्यक्ष व्यापक नही हो सकता। यह संभव नहीं है कि प्रत्यक्ष के द्वारा सभी उपाधियों का ज्ञान प्राप्त हो। उपाधि निरास के लिए **अनुमान** या **शब्द** या **अन्य किसी प्रमाण** की सहायता लेना अनुचित होगा, क्योंकि जो स्वयं असिद्ध है वह दूसरे का

साधन कैसे कर सकता है। कहा भी गया है –"**स्वयं असिद्ध कथं परान् साधयति!**" चार्वाकों के अनुसार हमारे जीवन के अनेक कार्य यद्यपि अनुमान द्वारा सम्पन्न होते है। उनमें से कुछ अनुमान सफल प्रवृति वाले होते हैं, कुछ नहीं। इसलिए चार्वाक अनुमान को पूर्णतः आकस्मिक मानते हैं, क्योंकि यथार्थ निश्चयात्मकता अनुमान का स्वाभाविक गुण या धर्म नहीं है। वस्तुत· सशयता ही जीवन की मार्गदर्शिका है। इस प्रकार अनेक तर्कों के आधार पर चार्वाक सिद्ध करते है कि अनुमान को विश्वास योग्य एवं निश्चयात्मक ज्ञान का वैध व प्रामाणिक साधन नहीं माना जा सकता।

किन्तु अनुमान प्रमाण के बारे में चार्वाक के उपर्युक्त विचार दोषपूर्ण है। अनुमान के विरुद्ध चार्वाक द्वारा प्रस्तुत आक्षेपो का निराकरण करते हुए **उदयन** ने लिखा है कि संभावना एक प्रकार का "सशय ज्ञान" है और अनुमान सभावना पर नहीं, अपितु निश्चित रुप से ज्ञात स्वाभाविक सम्बन्ध पर आधारित होता है। इसलिए सम्भावना को जीवन के समस्त कार्य-व्यापारों का आधार नही माना जा सकता। धूम के दर्शन से उसके स्वभाव तथा जब उसका प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होता, तब उसकी असत्ता का निश्चित ज्ञान होता है। अतः जीवन के कार्य, पदार्थों की उपस्थितिं तथा अनुपस्थिति के निश्चयामक ज्ञान द्वारा ही सम्पन्न होते हैं, सम्भावनाओं के आधार पर नहीं। चार्वाक अप्रत्यक्षगम्य वस्तुओं की सत्ता नही मानते। लेकिन चक्षु आदि इन्द्रियों की सत्ता अनुमान द्वारा ही सिद्ध होती है। इसलिए इन्द्रियों की सत्ता निर्धारित करने के लिए चार्वाक को अनुमान प्रमाण को मानना चाहिए। दूसरी बात यह भी है कि परमाणु आदि अप्रत्यक्षगम्य पदार्थों की सिद्धि अथवा निषेध प्रत्यक्ष द्वारा नहीं हो सकती। अत इनके लिए भी अनुमान जैसे अन्य प्रमाणो की आवश्यकता प्रतीत होती है, क्योकि प्रत्यक्षगम्य न होने पर भी उनकी सत्ता निर्विवाद रुप से मानी जाती है। चार्वाक कालान्तर मे और देशन्तर में हेतु के उपाधियुक्त होने की सम्भावना के आधार पर अनुमान का खण्डन करते है। किन्तु यह तर्क दोषपूर्ण है, क्योंकि प्रत्यक्षगम्य न होने के कारण कालान्तर और देशान्तर के सद्भाव की भी सिद्धि नहीं हो सकती। इसी प्रकार चार्वाकों द्वारा कार्यकारण भाव का खण्डन भी अनुचित है।'चार्वाक कार्यकारणभाव पर संशय करते हैं, किन्तु इस सशय का भी कोई कारण होना चाहिये। यदि उसका कोई कारण न माना जाय, तो किसी भी कार्य की किसी भी कारण से निष्पत्ति हो सकती है, मिट्टी से मोदक और बालू से स्वर्ण आभूषण निर्मित किये जा सकते हैं। किन्तु यह असम्भव तथा अतार्किक है। इसलिए चार्वाक को भी संशय का कोई न कोई कारण अवश्य मानना होगा। अत. न चाहते हुए भी उनके लिए कार्यकारण भाव को मानना अनिवार्य है।

आचार्य **धर्मकीर्ति** ने अनुमान की आवश्यकता के लिए चार्वाक की आलोचना करते हुए लिखा है कि प्रत्यक्ष के समान अनुमान भी अविसंवादी है और वाह्यार्थ से उत्पन्न होता है, इसलिए प्रत्यक्ष के समान ही अनुमान को प्रमाण माना जाना चाहिए।[34] चार्वाकों का यह कथन कि **"अनुमान और शब्द कभी-कभी दोषपूर्ण होते है", प्रत्यक्ष पर भी लागू होता है। प्रत्यक्ष भी कभी**

कभी दोषयुक्त या भ्रमात्मक होता है। जैसे, पीतरोग से पीडित रोगी को श्वेत वस्तु भी पीली दिखाई देती है। अत जिस प्रकार प्रत्यक्ष प्रामाणिक ज्ञान है, उसी प्रकार अनुमान और शब्द भी हो सकते है। पुनश्च, चार्वाक परलोक, स्वर्ग आदि अप्रत्यक्ष विषयों के अस्तित्व को न मानकर स्वयं प्रत्यक्ष की सीमा के बाहर चले जाते हैं। वस्तुओ को न देखने के कारण वे अनस्तित्त्व (अभाव) का अनुमान कर लेते है, जो कि अनुचित है। फिर, जब चार्वाक यह कहते हैं कि सभी प्रत्यक्ष प्रामाणिक होते है तब वे अनुमान की ही सहायता लेते हैं, क्योंकि यहाँ अतीत के प्रामाणिक प्रत्यक्षों के आधार पर ही वे भविष्य के प्रत्यक्षों के सम्बन्ध में अनुमान करते हैं। इसी तरह, चार्वाक जब अपने विपक्षियों से तर्क करते हैं, तो उस समय भी वे अपने विपक्षियों के शब्दों से उनके विचारों का अनुमान लगाते हैं, अन्यथा वे किसी वाद–विवाद में भाग ही नहीं ले सकते।

आचार्य धर्मकीर्ति की उपर्युक्त युक्तियों का अनुसमर्थन करते हुए **बौद्ध** दार्शनिक शान्तरक्षित, कमलशील, **नैयायिक** वाचस्पति मिश्र, जयन्त भट्ट, **जैन** सिद्धर्षिगणि, हेमचन्द्र, अनन्तवीर्य, मल्लिषेण आदि दार्शनिको ने चार्वाकों की मान्यताओं का खण्डन करते हुए अनुमान की आवश्यकता से स्वीकार किया है जिसे तर्कयुक्त माना जाना चाहिए, क्योकि लौकिक अनुभव से भी यही सिद्ध होता है कि मनुष्य के सभी कार्यकलाप केवल प्रत्यक्ष पर ही निर्भर नहीं हो सकते। अतः व्यावहारिक दृष्टिकोण से भी अनुमान के अस्तित्व का निषेध नहीं किया जा सकता। **जयन्त भट्ट** ने ठीक ही कहा है कि **"महापुरुषों से लेकर साधारण गड़ेरियों तक सभी लोग अनुमान का सहारा लेकर काम चलाते हैं। अनुमान का आलाप करने पर तो प्रत्यक्ष प्रमाण से भी काम नहीं चल सकता यानी लौकिक कार्यकलाप करना भी कठिन हो जायेंगे।"**[35] अतः अनुमान प्रमाण की उपयोगिता पर शंका करना व्यर्थ है। संभवतः इसी कारण चार्वाकों के अतिरिक्त अन्य सभी दार्शनिकों ने अनुमान को एक पृथक् प्रमाण के रूप में स्वीकार किया है।

अनुमिति का करण

अनुमान प्रमाण के स्वरूप पर विचार करने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि अनुमिति का करण ही अनुमान है– **'अनुमिति करणं अनुमानम्।'**[36] किसी न किसी रूप में सभी दर्शनिकों ने इसे स्वीकार किया है। किन्तु करण किसे कहते हैं और अनुमान का करण कौन हो सकता है? इस सम्बन्ध में दार्शनिको में मतभेद है। अनुमिति के **करण** के विषय में मुख्यतः **चार मत** पाये जाते है–**1. लिंग ज्ञान, 2. लिंग परामर्श, 3. ज्ञात, ज्ञायमान या परामृश्यमानलिंग, 4. व्याप्तिज्ञान**।

वैशेषिक दार्शनिकों ने "व्यापारयुक्त असाधारण कारण को ही करण" माना है। उनके अनुसार परामर्श ही व्यापार है। अतः उससे युक्त **लिंग ज्ञान** ही अनुमिति का करण है।

किन्तु **जैन** व **न्याय दार्शनिकों** ने इस मत का खण्डन किया है। जैन दार्शनिक **धर्मभूषण** ने "न्यादीपिका"[37] में लिंग ज्ञान का खण्डन किया है। **न्याय दार्शनिकों** का कहना है कि यदि केवल लिग ज्ञान से ही अनुमिति हो जाती, तो भूत, भविष्यत् काल के लिंग ज्ञान से भी अनुमिति

होनी चाहिए। किन्तु ऐसा नही होता। पक्ष के धर्म के रूप मे ज्ञात होने पर ही कोई लिंग अनुमिति का कारण हो सकता है। यदि उसकी पक्षधर्मता की जॉच करने के बाद ही उसको कारण मानना हो, तो यह परामर्श ही हुआ। अतः लिंग ज्ञान को करण नही माना जा सकता।

न्याय दार्शनिकों ने **लिंग परामर्श** को अनुमिति का करण माना है। लिंग परामर्श दो शब्दो के याग से बना है जिनमे से "परामर्श" का सामान्य अर्थ है--"ज्ञान" और "लिंग" शब्द से "व्याप्तिविशिष्ट पक्षधर्मता विशिष्ट हेतु" अभिप्रेत है। इस तरह से लिंग परामर्श का अर्थ हुआ– साध्य की व्याप्ति से विशिष्ट हेतु का पक्ष मे विद्यमान रहने का ज्ञान। दूसरे शब्दों मे, व्याप्तिविशिष्ट पक्षधर्मता ज्ञान ही लिग परामर्श है।[38]

केशव मिश्र ने **तीन तरह** के लिंग परामर्शो का उल्लेख किया है – क. प्रथम लिंग परामर्श, ख. द्वितीय लिग परामर्श, ग तृतीय लिंग परामर्श।

'पर्वत पर धुँआ है'– यह **प्रथम लिंग परामर्श** है। इसमे लिंग का सम्बन्ध पक्ष के साथ होता है। जितनी बार के देखने से हेतु और साध्य की व्याप्ति का ग्रहण हो सके, वह सब मिलकर हेतु का प्रथम ज्ञान कहलाता है।

'धुँआ आग का व्याप्य है'– यह **द्वितीय लिंग परामर्श** है। यहाँ लिंग का सम्बन्ध साध्य के साथ है। व्याप्ति निश्चय के अनन्तर पक्ष मे हेतु का जो दर्शन होता है, वह हेतु का द्वितीय ज्ञान है।

'पर्वत पर अग्नि व्याप्य धुँआ है'– यह **तृतीय लिंग परामर्श** है। यहाँ लिंग का सम्बन्ध पक्ष और साध्य दोनो से है। इसमे साध्य युक्त लिंग का सम्बन्ध पक्ष के साथ देखा जाता है।[39] **केशव मिश्र** आदि आचार्यो के अनुसार तृतीय लिंग परामर्श ही अनुमिति करण है। **गंगेश** ने भी लिंग परामर्श को ही अनुमिति का करण माना है। उनका कथन है कि संस्कार परामर्श का व्यापार नहीं है, क्योंकि संस्कारोत्पत्ति काल में ही अनुमिति हो जाती है।

यहाँ एक स्वाभाविक प्रश्न यह उठता है कि लिंग के तृतीय ज्ञान को ही लिंग परामर्श क्यो माना जाय?

इसके उत्तर मे **केशव मिश्र** का कहना है कि प्रथम लिंग ज्ञान से व्याप्ति का ग्रहण न होने के कारण उससे अनुमिति उत्पन्न नहीं हो सकती है। इसलिए प्रथम लिंग ज्ञान को लिंग परामर्श नही माना जा सकता। इसी प्रकार अग्नि का संदेह पर्वत रूप पक्ष में विद्यमान होने पर वहाँ धूम दर्शन रूप द्वितीय लिंग ज्ञान से भी अनुमिति नहीं हो सकती, क्योंकि वहाँ व्याप्ति स्मरण नही हुआ होता और जिस व्यक्ति ने व्याप्ति गृहीत नही की है, उसी के समान ही यदि किसी व्यक्ति को पूर्व में व्याप्ति निश्चय कर लेने के उपरान्त भी पर्वत पर धूम को देखकर व्याप्ति का स्मरण नहीं होता, तब ऐसी दशा में भी अनुमिति नहीं होती। अत. द्वितीय लिंग ज्ञान से उद्बद्ध संस्कार द्वारा व्याप्ति स्मरण होने पर ही जो "धूमवांश्च अयं पर्वतः" इत्याकारक तृतीय लिंग ज्ञान होता है, उसी से "पर्वतो वह्निमान्" यह अनुमिति होती है। अतः तृतीय लिंग ज्ञान को ही तृतीय

लिग परामर्श कहा जाता है यदि तृतीय लिग परामर्श को न माना जाय तो "जहॉ धूम होगा, वही अग्नि होगी" ऐसा सामान्य ज्ञान ही होगा, इसलिए पर्वत रूप स्थल विशेष मे साध्य अग्नि का उपपादन करने के लिए "पर्वत मे भी धूम है" इत्याकरक लिग परामर्श ज्ञान मानना आवश्यक है।[40]

उद्योतक[41] तथा **उदयन**[42] आदि प्राचीन नैयायिको ने **ज्ञायमान लिंग** को अनुमिति का करण माना है। **बौद्ध** और **जैन**[43] दार्शनिको को अनुमिति के करण के रूप में **ज्ञातलिंग** ही अभिप्रेत है। इस मत के अनुसार विशिष्ट वस्तु में जहाँ कारणता का निश्चय हुआ करता है, वहॉ उस निश्चय के आधार पर विशेषण मे कारणता का निश्चय हो जाता है, क्योंकि कारणता-अवच्छेदक मे निहित जितने भी पदार्थ होते हैं, उन सबको ही कारण माना गया है। इसी दृष्टि से जब लिंग विषयक विशिष्ट ज्ञान, अनुमिति के प्रति कारण होता है, तब उसके आधार पर उससे विशेषणीभूत जो लिंग है, उसमें भी कारणता का ज्ञान हो जाना अनुभव सिद्ध है। इसलिए **परामृश्यमानलिंग** या **ज्ञानमानलिंग** में कारणता का निश्चय हो जाता है।

अद्वैत वेदान्त के अनुसार **"व्याप्ति ज्ञान"** अनुमिति का करण है और संस्कार उसका अवान्तर व्यापार है– **"अनुमितिकरणञ्च व्याप्तिज्ञानम्। तत्संस्कारोऽवान्तर व्यापारः।"**[44] **मीमांसकों** और **कुछ नैयायिकों** ने भी "व्याप्ति ज्ञान" को कारण माना है। किन्तु व्यापार के विषय में उनमें मतभेद है। जहॉ मीमांसकों ने "व्याप्ति ज्ञान" को करण और "व्याप्ति स्मरण" को उसका व्यापार माना है, वहाँ नैयायिकों ने "व्याप्ति ज्ञान" को करण और "परामर्श" को व्यापार माना है।

वेदान्तमतानुसार, तृतीय लिग परामर्श को अनुमिति का कारण नहीं माना जा सकता, क्योंकि उसमें अनुमिति का हेतुत्व ही असिद्ध है। अद्वैत वेदान्त के मतानुसार पक्षधर्मता ज्ञान (पक्ष में हेतु का ज्ञान) से महानस आदि में गृहीत व्याप्ति ज्ञान का संस्कार सर्वप्रथम उद्‌बुद्ध (जागरित) होता है, तदनन्तर व्याप्ति का स्मरण होते ही वह्नि की अनुमिति होती है। परन्तु पक्षधर्मता ज्ञान या लिंग ज्ञान होकर भी यदि व्याप्ति का स्मरण न हुआ, तो अनुमिति नहीं होगी। इस अन्वय–व्यतिरेक से (सस्कार उद्‌बुद्ध होने पर व्याप्ति स्मरण यदि हुआ तो अनुमिति होती है। इस अन्वय और संस्कारोद्‌बोध के अभाव में अनुमिति नहीं होती, यह व्यतिरेक) अनुमिति में व्याप्ति ज्ञान ही कारण है, 'परामर्श' अनुमिति मे कारण नहीं है, यह सिद्ध होता है। अतः व्याप्ति ज्ञान को ही अनुमिति का कारण मानना उचित है।[45]

यहाँ एक प्रश्न उठता है कि यदि अनुमिति को व्याप्तिज्ञान–संस्कारजन्य मान लिया जाय, तो ऐसी स्थिति में अनुमान का स्मृति से कोई भेद नहीं रह जाएगा, क्योंकि स्मृति की उत्पत्ति भी अतीत के अनुभव के संस्कारों से ही होती है और यदि ऐसा है, तो अनुमान को ज्ञान प्राप्ति का एक नवीन साधन (प्रमाण) नहीं माना जा सकता।

इसके उत्तर में "वेदान्तपरिभाषा" में कहा गया है कि यद्यपि अतीत के संस्कारों की

पुनर्प्राप्ति (रीवाइवल) अनुमान और स्मृति दोनो के लिए आवश्यक है, किन्तु दोनों मे प्रमुख अंतर यह है कि जहॉ स्मृति की उत्पत्ति केवल अतीत के सस्कारो की पुनर्प्राप्ति (रीवाइबल) से ही होती है, वहॉ अनुमान मे इसके अतिरिक्त लिग का पक्ष के साथ सम्बन्ध होना भी आवश्यक है जो सस्कारो की पुनर्प्राप्ति का सदैव सहयोग करती रहे जिससे अनुमान की प्रक्रिया सभव हो सके।

अनुमान के घटक

किसी भी अनुमान मे कम से कम तीन वाक्य तथा तीन पद होते हैं। अनुमान मे हम किसी अप्रत्यक्ष विषय के बारे में जानते है। ऐसे निश्चय पर पहुँचने के लिए एक साधन की आवश्यकता होती है और उस साधन में तथा जिस निश्चय पर पहुँचते है, उसमें अविच्छेद्य सम्बन्ध का होना भी आवश्यक है। आग और धुँए वाले उदाहरण में हम इस निश्चय पर पहुँचते हैं कि पर्वत में आग है। पर्वत की आग को हम प्रत्यक्ष नहीं देखते हैं? प्रश्न यह उठता है कि इस निश्चय पर पहुॅचने का क्या साधन है? यह साधन धुँआ है, क्योंकि धुँआ और आग में व्याप्ति सम्बन्ध है। स्पष्टत· हम देखते है कि इस धुॅआ और आग वाले अनुमान के तीन भाग (वाक्य) है। पहला यह है कि पर्वत मे धुॅआ है (लिग दर्शन)। दूसरा यह है कि धुँआ तथा आग में व्याप्ति है जिसे हम पहले से जानते है (व्याप्तिस्मरण)। तीसरा यह है कि पर्वत में आग है (अनुमिति), यद्यपि उस आग को हम प्रत्यक्ष नही देखते है। इस प्रकार हम देखते है कि अनुमान मे कम से कम तीन वाक्य अवश्य होते है। **मानसिक विचार क्रम की दृष्टि** से अनुमान के पहले वाक्य में हेतु सहित पक्ष का ज्ञान होता है, दूसरे मे हेतु तथा साध्य की व्याप्ति का ज्ञान होता है और अतिम से यह निश्चय निकलता है कि साध्य का सम्बन्ध पक्ष के साथ है। किन्तु इसी तथ्य को जब **वाक्यों के द्वारा व्यक्त किया जाता** है, तो प्रथम वाक्य में पक्ष का सम्बन्ध साध्य के साथ स्थापित किया जाता है। जैसे, 'पर्वत वह्निमान है' तदनन्तर द्वितीय वाक्य में इसका हेतु बताया जाता है। अर्थात् यह बताया जाता है कि किस हेतु के कारण पर्वत वह्निमान है। जैसे, 'चूॅकि पर्वत धूमवान है'। यहाँ धूम हेतु है। अतिम वाक्य में यह दिखाया जाता है कि साध्य के साथ हेतु का अविच्छेद्य सम्बन्ध है। जैसे जहॉ जहॉ धुॅआ है, वहॉ वहाँ आग है। जैसे, 'चूल्हे में।'

यहाँ **भारतीय अनुमान** और **पाश्चात्य न्यायवाक्य** (Syllogism) में पर्याप्त साम्य दिखाई देता है, क्योंकि पाश्चात्य Syllogism में भी तीन वाक्य माने जाते हैं। अनुमान को वाक्यो में व्यक्त करने का जो क्रम निर्धारित किया गया है, उसमें प्रथम, द्वितीय एवं तृतीय वाक्य क्रमशः Syllogism के निष्कर्ष (Conclusion), मुख्य पद (Major Premise) और अमुख्य (Minor Premise) पद से साम्य रखते हैं। लेकिन भारतीय अनुमान तथा Syllogism में **प्रथम अंतर यह है** कि Syllogism के क्रम से अनुमान का क्रम ठीक विपरीत रहता है। Syllogism में Conclusion सबसे अंत में आता है, जबकि अनुमान में यह सबसे पहले आता है। Syllogism में Major Premise सबसे पहले आता

है, जबकि अनुमान में यह सबसे अंत में आता है। दोनो मे **दूसरा अंतर** यह है कि Syllogism मे जहॉ तीन और केवल तीन वाक्य होते है, वहॉ भारतीय अनुमान में वाक्यो की संख्या तीन से अधिक भी मानी गयी है।

Syllogism के अमुख्य (Minor) मुख्य (Major) और मध्यम पद (Middle term) की तरह **भारतीय तर्कशास्त्र** मे भी अनुमान के कम से कम तीन पद माने गये हैं। क्रमशः इनका नाम है पक्ष पद, साध्य पद, और हेतु पद। **पक्ष** अनुमान का वह अग है जिसके सम्बन्ध में अनुमान किया जाता है। **साध्य** वह है जिसे पक्ष के सम्बन्ध मे सिद्ध किया जात है और **हेतु** उसे कहते है जिसके द्वारा पक्ष के सम्बन्ध मे साध्य को सिद्ध किया जाता है। आग एवं धुँए वाले उदाहरण में पर्वत पक्ष है अग्नि साध्य है और धूम हेतु है।

अनुमान के इन तीन पदों में **हेतु** का बहुत महत्वपूर्ण स्थान है, क्योंकि हेतु ही अनुमान का मुख्य आधार होता है। हेतु के द्वारा ही हम अज्ञात साध्य का पक्ष के सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्त करते हैं। न्यायवाक्य (Syllogism) के मध्यम पद की तरह ही हेतु पद को अनुमान मे कम से कम दो बार अवश्य घटित होना चाहिए। पहले यह पक्ष के सम्बन्ध में घटित (Occur) होता है, तदुपरान्त साध्य पद के सम्बन्ध में। ऐसा हेतु व साध्य पद के बीच शाश्वत सम्बन्ध के माध्यम से होता है और इसी कारण से पक्ष पद जो कि हेतु से सम्बद्ध रहता है, साध्य पद से सम्बन्धित हो जाता है, क्योकि इन दोनों का हेतु पद के साथ सम्बन्ध होता है। इससे स्पष्ट होता है कि हेतु अनुमान का महत्वपूर्ण घटक है। अनुमान प्रमाण में विश्वास करने वाले सभी दार्शनिक इसकी महत्ता को स्वीकार करते हैं। फिर भी हेतु के स्वरूप विवेचन में विभिन्न दर्शनो में मतभेद पाया जाता है। विभिन्न दर्शनो में सद्हेतु के लक्षण का विवेचन इस प्रकार है–

1. **जैन दार्शनिकों** के अनुसार हेतु का केवल एक ही लक्षण होता है। वह है– अन्यथानुपत्तिरूप।
2. **सांख्याचार्य माठर** ने हेतु को त्रिरूप माना है । ये हैं– क. पक्षधर्मत्व, ख. सपक्षसत्व और ग. विपक्षासत्व। सांख्य दर्शन में लिंग को व्याप्य के रूप में परिभाषित किया गया है।
3. **बौद्ध दर्शन** में भी हेतु की त्रिलक्षण परम्परा को स्वीकार किया गया है। यद्यपि हेतु का त्रैरूप्य **जयन्त पूर्व नैयायिकों, वैशेषिकों व साख्यों** ने भी स्वकार किया था, किन्तु बौद्धों ने इसका सूक्ष्म विश्लेषण किया। अतः यह बौद्ध परम्परा परम्परा के रूप में अधिक ख्यात हुई। **बौद्ध आचार्य धर्मकीर्ति** के अनुसार हेतु में पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्व एवं लिंग के ये तीन रूप होना आत्यावश्यक है। इनमें से किसी एक अथवा दो का अभाव होने से हेतु सद्हेतु न होकर असिद्ध, विरूद्ध अथवा अनैकान्तिक हेत्वाभास हो जाता है।[46] **"न्यायबिन्दु"** में भी **हेतु** लक्षण के लिए इन रूपों को अनिवार्य बताया गया है।[47] धर्मोत्तर[48] तथा **मोक्षाकर** गुप्त ने भी हेतु लक्षण के इन्हीं तीन रूपों का उल्लेख किया है। हेतु के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए धर्मकीर्ति ने कहा हैं कि जो पक्ष का धर्म हो और उसके एक देश से व्याप्य रहे, उसे

हेतु कहते है।[49]

4. **योग तथा वेदान्त** ग्रन्थो मे हेतु के लक्षण अथवा रूपो की चर्चा का प्राय· अभाव पाया जाता है।

5 **कुमारिल भट्ट** ने जिसमे साध्य की व्याप्ति रहती है, उसी हेतु को गमक, व्याप्य एव नियामक कहा है।[50] **पार्थसारथि मिश्र, प्रभाकर, शालिकनाथ** आदि ने भी इन्ही का समर्थन किया है। इन दार्शनिको के ग्रन्थों मे हेतु रूपों की चर्चा नगण्य है, परन्तु **नारायण** ने न्यायसम्मत पाँच रूपो का व्यवस्थापन सद्हेतु के लिए आवश्यक माना है।[51] **शालिकनाथ** ने अन्य दार्शनिकों से भिन्न सद्हेतु के तीन लक्षण स्वीकार किये हैं– नियतसम्बन्धैक दर्शन, सम्बन्ध नियमस्मरण तथा अबाधितविषयत्व।[52]

6 **न्याय–वैशेषिक दर्शन** मे व्याप्ति और पक्षधर्मता से युक्त हेतु को सद्हेतु तथा इनके अभाव से विशिष्ट हेतु को असद् हेतु कहा गया है। सद्हेतु में व्याप्ति और पक्षधर्मता दोनों पाये जाते हैं, किन्तु असद्हेतु मे न तो साध्य की व्याप्ति ही रहती है और न वह पक्ष मे ही पाया जाता है। इस यथार्थता व अयथार्थता के मूल्याकन के लिए ही हेतु के पक्षसत्त्व, सपक्षसत्त्व विपक्षासत्त्व, अबाधितविषयत्त्व और असत्प्रतिपक्षत्त्व इन पॉच रूपों की कल्पना की गयी है। पक्ष मे हेतु की उपस्थिति पक्षधर्मता या **पक्षसत्त्व** है। इस धर्म के अभाव में **असिद्ध हेत्वाभास** होता है।[53] सम्पूर्ण सपक्ष दृष्टान्तों अथवा कुछ सपक्ष दृष्टान्तो (पाजिटिव इन्टरैन्सेस) में जिनमे साध्य होता है, हेतु का निश्चित रूप से पाया जाना ही **सपक्षसत्त्व** है। जैसे, सभी धूमवान पदार्थ वह्निमान है। इस धर्म के अभाव में **विरुद्ध हेत्वाभास** होता है।[54] अनुमान के लिए साध्य पद एवं हेतु पद के बीच साहचर्य सम्बन्ध का होना आवश्यक है। अतः सकल विपक्षो में न रहने वाले धर्म को विपक्षासत्त्व कहते हैं। अर्थात् ऐसे सभी नकारात्मक दृष्टान्त जिनमें साध्य का अभाव हो, हेतु का भी अभाव होना वैध अनुमान के लिए आवश्यक है। यही विपक्षासत्त्व है। जैसे, जो वह्निमान नही है, वह धूमवान नहीं है। इस रूप के अभाव में **अनैकान्तिक हेत्वाभास** होता है।[55] जिस हेतु का साध्य प्रत्यक्ष, आगम आदि किसी प्रबल प्रमाण से बधित न हो, उसे **अबाधितविषयत्व** कहा जाता है। यहाँ विषय पद से साध्य अभिप्रेत है। 'पर्वतो वह्निमानात् धूमात्' इस अनुमान में प्रयुक्त हेतु 'धूम' का साध्य 'विह्न' किसी प्रबल प्रमाण द्वारा बाधित नहीं है। इसलिए यह सत् हेतु का लक्षण है। इस रूप के अभाव से **बाधित हेत्वाभास** होता है। जिस हेतु में असत्प्रतिपक्षत्व धर्म पया जाता है, उसे **असत्प्रतिपक्षत्त्व** कहते हैं। असत्प्रतिपक्ष का अर्थ है अनुमान में प्रयुक्त हेतु के विरोधी हेतु की सत्ता का न होना। जैसे, "शब्द अनित्य है, नित्य धर्म उपलब्ध नहीं होने से और "शब्द नित्य है, अनित्य धर्म उपलब्ध नहीं होने से।" यहाँ दोनों हेतु समान बलवान् होने से विराधी है। इसलिए इनमें से किसी के भी द्वारा साध्य की सिद्धि नहीं हो सकती। इसलिए सद्हेतु के लिए हेतु में असत्प्रतिपक्षत्त्व धर्म का होना आवश्यक है। इसके अभाव में **सत्प्रतिपक्ष**

हेत्वाभास होता है।[56] **अर्चट** ने इसी रूप को **"विवक्षितैक्यसंरव्यत्व"** के नाम से सूचित किया है।[57] किसी भी वैध अनुमान के लिए मध्यम पद या हेतु पद में उपर्युक्त विशेषताओं का होना आवश्यक है। यदि ऐसा नहीं होता है, तो हेत्वाभास होता है और अनुमान दूषित हो जाता है। चूँकि हेतु के स्वरूप, लक्षण व भेद के बारे मे दार्शनिकों में मतभेद है, इसलिए **हेत्वाभास** के बारे मे भी विभिन्न दार्शनिक सम्प्रदायो में मतभेद पाया जाता है। **न्यायदर्शन** मे पॉच प्रकार के हेत्वाभास माने गये है। ये है– **1. सव्यभिचार, 2. विरूद्ध, 3. सत्प्रतिपक्ष या प्रकरणसम, 4. असिद्ध या साध्यसम, 5. बाधित या कालातीत।**

अनुमान का तार्किक आकार

अनुमान में विश्वास करने वाले भारतीय दार्शनिकों ने **अनुमान के दो भेद** स्वीकार किये हैं। **स्वार्थानुमान** और **परार्थानुमान**। स्वार्थानुमान स्वयं अपने लिए होता है और परार्थानुमान दूसरों को किसी तथ्य को समझाने के लिए होता है। भारतीय तार्किकों का कथन है कि यदि अनुमान अपने लिए हो, तो उसे क्रमबद्ध वाक्यों के रूप में प्रकट करने की आवश्यकता नहीं होती। किन्तु जब अनुमान परार्थ होता है, तो उसे क्रमबद्ध एवं श्रृंखलित रूप मे प्रकट करने के लिए वाक्यों की आवश्यकता होती है, जिन्हें पारिभाषिक शब्दावली में **"न्याय अवयव"** कहा जाता हैं। लेकिन इन अवयवों की संख्या के बारे में अनुमान को मानने वाले दर्शनिक सम्प्रदायो मे मतभेद है।

कुछ **प्राचीन न्याय दार्शनिकों** के अनुसार अनुमान के **दस अवयव** होते हैं– 1. जिज्ञासा, 2. संशय, 3. शक्यप्राप्ति, 4. प्रयोजन, 5. संशयव्युदास, 6. प्रतिज्ञा, 7. हेतु 8. उदाहरण 9. उपनय, 10. निगमन।[58]

किन्तु **परवर्ती न्याय दार्शनिकों** एवं **वैशेषिक दार्शनिकों** ने अनुमान की दशावयवी परम्परा की आलोचना की एवं उसका परित्याग भी कर दिया। इनके अनुसार अनुमान के उपर्युक्त प्रथम पाँच अवयव अनुमान के द्वारा किसी चीज को सिद्ध करने के लिए अनावश्यक हैं। केवल अंतिम पांच अवयव ही किसी निष्कर्ष को सिद्ध करने के लिए आवश्यक हैं।[59] **सांख्य**[60] और **वैशेषिक** सम्प्रदाय भी अनुमान के उपर्युक्त अवयवों में से अन्तिम पाँच को ही अनुमान के लिए आवश्यक मानते हैं। **प्रशस्तपाद** के अनुसार ये **पाँच अवयव** हैं– 1. प्रतिज्ञा, 2. अपदेश, 3. निदर्शन, 4, अनुसन्धान, 5 प्रत्याम्नाय।[61]

न्याय दार्शनिकों के अनुसार पक्ष के साथ साध्य के सम्बन्ध का प्रतिपादन करने वाला वाक्य **प्रतिज्ञा** है। जैसे, "यह पर्वत वह्निमान है" इसमें पक्ष (पर्वत) के साथ साध्य (अग्नि) के सम्बन्ध (संयोग) का प्रतिपादन किया गया है। पक्ष में साध्य के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए साधन (लिंग) के रूप में जिस अवयव का प्रयोग किया जाता है, वह **हेतु** या **अपदेश** कहलाता है। धुँए और आग के उदाहरण में धुँआ हेतु है। **सामान्यतः हेतु और लिंग को पर्यायों के**

रूप में प्रयुक्त किया जाता है, किन्तु दोनों में अत्यन्त सूक्ष्म अंतर यह है कि लिंग वह पदार्थ है जिससे अनुमान होता है, और हेतु उस लिंग का प्रतिपादक वाक्य है।[62] हेतु मे साध्य की और साध्याभाव मे हेत्वाभाव की व्याप्ति का दृष्टान्त द्वारा बोध कराने वाला वाक्य **उदाहरण** या प्रशस्तपाद के शब्दों में निदर्शन है। जैसे "जो-जो धूयुक्त है, वह अग्नियुक्त है।" जैसे, पर्वत और "जो-जो अग्निमान नहीं है, वह धूमयुक्त नही है।" जैसे, जलाशय। जिस वाक्य से पक्ष के साथ साध्यव्याप्तिविशिष्ट हेतु के सम्बन्ध का प्रतिपादन किया जाता है, वह **उपनय** कहलाता है। जैसे 'यह पर्वत धूमवान हैं।' **प्रशस्तपाद** ने उपनय के स्थान पर **अनुसन्धान** शब्द का प्रयोग किया है। **मीमांसकों** ओर **माठर** आदि कतिपय सांख्यों ने उपनय का अवयवत्व स्वीकार नहीं किया हैं। **प्रशस्तपाद** ने जिसे **प्रत्याम्नाय** कहा है, उसे ही **नैयायिकों** ने **निगमन** कहा है। निगमन उसे कहते हैं जो पहले के वाक्यों से निकलता है।

जैन दर्शन में वाद काल में दो–प्रतिज्ञा व हेतु तथा शास्त्र काल में इनके अतिरिक्त उदाहरण, उपनय, निगमन आदि अवयवों का भी प्रतिपादन किया गया है। हेतु को छोडकर उनके सभी लक्षण और प्रकार न्याय दर्शन के अनुसार ही हैं।

मीमांसक, बौद्ध और अद्वैत वेदान्ती पचावयव पद्धति को अस्वीकार करते हैं और उसके स्थान पर अवयवत्रयी परम्परा का समर्थन करते हैं। **बौद्धों** के अनुसार पक्ष, हेतु और दृष्टान्त–यही तीन अनुमान के अवयव हैं। **मीमांसकों और वेदान्तियों** का कथन है कि न्याय द्वारा प्रतिपादित पंचावयवों में से प्रथम तीन या अन्तिम तीन अवयव ही पर्याप्त है। ये है– प्रतिज्ञा हेतु और उदाहरण, या उदाहरण उपनय और निगमन। **कुछ मीमांसकों** ने **चार अवयवों** को भी माना है। इसका उल्लेख **लघु अनन्तवीर्य** और उनके अनुकर्त्ता **हेमचन्द्र** ने किया है।[63]

मीमांसकों और अद्वैत वेदान्तियों के अनुसार उपसंहार वाक्य होने के कारण प्रतिज्ञा और निगमन दोनों ही एकार्थ प्रतिपादक हैं। इसी प्रकार हेतु और उपनय भी एकार्थ प्रतिपादक ही है। अतः दोनों में से एक–एक का ही प्रयोग होना चाहिए, अन्यथा **गौरव (आधिक्य)** दोष लग जाने की संभावना बनी रहती है।[64] **बौद्धों** का भी कहना है कि केवल उदाहरण और उपनय ये दो ही अवयव मानना **न्यूनता आदि दोष** से आवृत्त है, क्योंकि साध्यसत्ता के बोधक प्रतिज्ञा अथवा निगमन वाक्यों के बिना निगमन का अध्याहार करना पडता है। अभिप्राय यह कि कि प्रतिज्ञा, निगमन दोनो में से एक के भी न रहने से अनुमाता साकाङ्क्ष हो उठता है। अतः **प्रतिज्ञा–हेतु–उदाहरण** अथवा **उदाहरण–उपनय–निगमन,** ये ही तीन अवयव मानना उचित है।[65] **नारायण भट्ट** तथा **पार्थसारथि** ने भी इसी मत का समर्थन किया है।[66] प्रभाकर मत को संपादित करते हुए **शालिक नाथ** ने भी यही बात व्यक्त की है।[67] वस्तुतः अनुमान के तीन अवयव मानना पूर्णतः उचित है।

अनुमान के आधारभूत तत्त्व

अनुमान वस्तुतः **व्याप्ति** और **पक्षधर्मता ज्ञान** पर आधारित होता है। अतः इन दोनो को जान लेना आवश्यक है। हेतु और साध्य के नियत पारस्परिक सम्बन्ध को व्याप्ति तथा पक्ष और हेतु के सामञ्जस्य को पक्षधर्मता ज्ञान कहते है। किसी भी अनुमान में व्याप्ति स्मरण होने पर ही पक्ष मे हेतु के दर्शन से अनुमेय का ज्ञान निष्पन्न होता है। अतः अनुमान के लिए दोनों का यथार्थ ज्ञान होना अनिवार्य है।

(1) व्याप्ति

व्युत्पत्तिपरक दृष्टि से व्याप्ति शब्द "वि + आप्ति" के योग से निष्पन्न है, जिसका अर्थ है विशेष रूप से आप्ति या सम्बन्ध। दो वस्तुओं का सदैव नियत रूप से एक साथ रहना ही विशेष सम्बन्ध है। लेकिन दो सहचारियों का केवल साथ-साथ रहना ही व्याप्ति नही है, बल्कि इस सम्बन्ध को निरूपाधिक या व्यभिचार से सर्वथा शून्य भी होना चाहिए। जैसे, मेढ़क और जल में साहचर्य सम्बध तो है, किन्तु इसे व्याप्ति नहीं कहा जा सकता, क्योंकि ऐसा नही है कि मेढक बिना जल के और जल बिना मेढ़क के पाया नही जाता। इस लिए उनके साहचर्य सम्बन्ध को नियत नहीं कहा जा सकता, बल्कि व्यभिचारयुक्त ही कहा जायेगा। केवल वही अटल और अविच्छेद्य सम्बन्ध व्याप्ति हो सकता है जो किसी अपवाद अथवा व्यभिचार से सर्वथा शून्य हो। जैसे, सूर्य और उसकी किरणो तथा धूप और अग्नि में नियत साहचर्य सम्बन्ध है। हेतु एवं साध्य के इसी व्यभिचार शून्य नियत साहचर्य सम्बन्ध को व्यप्ति कहा जाता है।

पक्षधर्मता का ज्ञान होने पर भी यदि व्याप्ति ज्ञान न हो तो अनुमान निष्पन्न नहीं हो सकता। जैसे, "पर्वत धूमयुक्त है, वह्निमान होने से।" यहाँ वह्नि के पक्ष (पर्वत) में पाये जाने के कारण पक्षधर्मता ज्ञान तो सिद्ध हो जाता है, किन्तु वह्नि की धूम के साथ नियत व्याप्ति न होने के कारण सद् अनुमान नही होता, बल्कि व्याप्यात्वासिद्व नामक असिद्ध हेत्वाभास ही होता है। इसके विपरीत "पर्वत वह्निमान है, धूमवान होने से" इस उदाहरण मे पक्षधर्मता ज्ञान के साथ-साथ हेतु और साध्य का नियत साहचर्य भी है, क्योंकि जहाँ–जहाँ धूम होता है, वहाँ–वहाँ आग अवश्य रहती है। इसलिए यह सद् अनुमान है।

यहाँ यह विशेष रूप से उल्लेख्य है कि अनुमान के लिए हेतु और साध्य मे से केवल हेतु का ही साध्य के साथ अविच्छेद्य सम्बन्ध होना अनिवार्य है। साध्य का हेतु के साथ अविच्छेद्य सम्बन्ध हो यॊ न हो, दोनों अवस्थाओं में अनुमान हो सकता है। जैसे, अग्नि को सिद्ध करते समय यह आवश्यक नहीं है कि उसका धूम के साथ अविच्छेद्य सम्बन्ध हो ही, क्योंकि ऐसी व्याप्ति नहीं बनायी जा सकती कि जहाँ-जहाँ अग्नि होती है, वहाँ–वहाँ धूम भी होता है। इसका कारण यह है कि जलते हुए अगारे में आग तो होती है, किन्तु धुँआ नहीं होता। इससे स्पष्ट होता है कि **दो वस्तुओं का अविच्छेद्य, अनिवार्य तथा निरूपाधिक पारस्परिक सम्बन्ध ही व्याप्ति है।**

व्याप्ति से दो वस्तुओ के पारस्परिक सम्बन्ध का बोध होता है, जिनमे से एक **व्याप्य** है तथा दूसरा **व्यापक**। कोई वस्तु दूसरी वस्तु मे व्यापक तब होती है, जब वह वस्तु उस दूसरी वस्तु के साथ बराबर रहती है। कोई वस्तु दूसरी वस्तु में व्याप्त तब होती है, जब उसके साथ वह दूसरी वस्तु बराबर रहती है। जैसे धूम एवं आग के उदाहरण में धुआँ व्याप्य है, क्योंकि धुऍं के साथ आग बराबर पायी जाती है। कोई भी ऐसा धूमवान् पदार्थ नही है जो वह्निमान न हो। लेकिन सभी वह्निमान पदार्थो का धूमवान् होना आवश्यक नही है। जैसे, तप्त लौह खण्ड। न्यूनाधिक विस्तार वाले पदों में जब व्याप्ति का सम्बन्ध होता है तो उसे **असम** या **विषम व्याप्ति** कहते हैं। जैसे, धुऍं और आग में। दो पदों मे जब इस प्रकार का सम्बन्ध रहता है तो कम विस्तार वाले से अधिक विस्तार वाले का अनुमान किया जा सकता है, किन्तु अधिक विस्तार वाले से कम विस्तार वाले का अनुमान नहीं किया जा सकता। धुएँ से आग का अनुमान किया जा सकता है, किन्तु आग से धुऍं का अनुमान नहीं किया जा सकता है। किन्तु जब समान विस्तार वाले दो पदों में व्याप्ति का सम्बन्ध रहता है तो उसे **समव्याप्ति** कहते हैं। समव्याप्ति वाले पदों की व्यापकता बराबर होने के कारण एक से दूसरे का और दूसरे से पहले का अनुमान किया जा सकता है। जैसे, अभिधेय और प्रमेय। जो अभिधेय है, वह प्रमेय है और जो प्रमेय है, वह अभिधेय है। समव्याप्ति वाले स्थलो मे जहॉ साध्य और साधन दोनों का एक दूसरे से नियत साहचर्य रहता है, वहॉ भी अनुमान प्रयुक्त व्याप्ति साधन मे ही रहती है, साध्य मे नही। विषम-व्याप्ति में तो यह अनिवार्यतः होता ही है। अत. निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि साधन और साध्य में साधन का ही साध्य के साथ अविच्छेद्य सम्बन्ध होना चाहिए।

अनुमान मे व्याप्ति की उपर्युक्त अवधारणा एव अनिवार्यता को प्राय सभी अनुमानवादी भरतीय दार्शनिकों ने स्वीकार किया है, किन्तु इसके लक्षण तथा ग्रहण (ज्ञान) के साधन के बारे में उनके भिन्न–भिन्न दृष्टिकोण हैं।

क. व्याप्ति का लक्षण

नैयायिकों के अनुसार लिंग-लिंगी के अर्थात् हेतु और साध्य के बीच नियत, स्वाभाविक और अनौपाधिक साहचर्य सम्बन्ध को व्याप्ति कहते हैं। **जयन्त भट्ट** ने व्याप्ति के लिए **'स्मृतिनियम'** शब्द का प्रयोग किया है। उनके अनुसार नियम का अर्थ है– नित्य साहचर्य।[68] इस प्रकार जयन्त के अनुसार व्याप्ति नित्य साहचर्य सम्बन्ध है।

नव्य न्याय के जनक **गंगेश** ने भी व्याप्ति के लक्षण का निर्धारण किया है। किन्तु गंगेश ने व्याप्ति लक्षण को स्थापित करने से पहले अपने समय में प्रचलित व्याप्ति विषयक इक्कीस मतों का पूर्वपक्षीय व्याप्ति लक्षणों के रूप में उल्लेख एवं खण्डन किया है जिनमें से प्रथम पाँच को उन्होने **'व्याप्तिपंचक'**, अन्य दो को **'सिहव्याघ्र'** तथा शेष चौदह को **'व्यधिकरण'** के नाम से संबधित किया है। व्याप्ति के इन लक्षणों का उल्लेख एवं खण्डन करने के उपरान्त उन्होंने व्याप्ति का जो लक्षण निर्धारित किया है, उसके अनुसार **हेतु और उसके व्यापक साध्य का समानाधिकरण्य ही व्याप्ति है**। व्यापक साध्य से तात्पर्य उस साध्य से है जो हेतु के अधिकरण

में वर्तमान रहने वाले अत्यन्ताभाव की प्रतियोगिता के अवच्छेदक से अवच्छिन्न न हो, अर्थात प्रतियोगी न हो– **प्रतियोग्यसमानाधिकरणयत् समानाधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगिता–वच्छेदकावच्छिन्नं' यन्न भवति तेन समं तस्य समानाधिकरण्यं व्याप्तिः।"**

केशवामिश्र तथा **अन्नंभट्ट** ने भी साहचर्य नियम को व्याप्ति कहा है। इस साहचर्य नियम की व्याख्या करते हुए अन्नभट्ट ने "तर्कदीपिका" में कहा है कि जहाँ हेतु विद्यमान है, वहाँ विद्यमान अत्यन्ताभाव का अप्रतियोगी जो साध्य है, उसके साथ हेतु के समानाधिकरण्य को व्याप्ति कहते हैं। **नीलकण्ठ** के अनुसार व्याप्ति हेतु का वह धर्म है, जो साध्य के साथ रहता है। **विश्वनाथ** ने व्याप्ति के दो लक्षण किये हैं। उनके अनुसार साध्यवान् से भिन्न स्थल में हेतु का न रहना व्याप्ति है। परन्तु यह लक्षण केवलान्वयि स्थल में अव्याप्य हैं, क्योंकि वहाँ साध्यवान से भिन्न स्थल ही अप्रसिद्ध है। अतः उन्होंने व्याप्ति का दूसरा लक्षण करते हुए प्रतिपादित किया कि हेतुमान पक्ष मे विद्यमान अत्यन्ताभाव का अप्रतियोगी जो साध्य है, उसके साथ हेतु का एक साथ रहना व्याप्ति है। विश्वनाथ से प्राचीन नैयायिक **शंकर मिश्र** ने भी इसी लक्षण को शब्दान्तर से स्वीकार किया है। सरलता की दृष्टि से उन्होंने व्याप्ति का एक और लक्षण भी दिया है जिसके अनुसार अनुपाधिक सम्बन्ध व्याप्ति है। संक्षेप में, **नैयायिकों के अनुसार 'हेतु और साध्य का नियत साहचर्य ही व्याप्ति है।'**

सांख्य दर्शन के प्रवर्तक **कपिल** के अनुसार **"दोनों अथवा एक का नियत धर्म साहचर्य ही व्याप्ति है।"**[69] अर्थात साध्य के साथ, साध्य साधन दोनों का अथवा साधनमात्र का जो नियत व्यभिचारशून्य साहचर्य है, उसी को व्याप्ति कहा जाता है।[70] 'नियतधर्मसाहचर्य' से भिन्न कोई वस्तु व्याप्ति नहीं हो सकती, अन्यथा व्याप्ति के आश्रय जो भी पदार्थ होंगे, उनकी कल्पना का प्रसंग होने लगेगा। वस्तु के स्वाभाविक शक्ति के आविर्भाव को नियत अव्यभिचारी सम्बन्ध कहा जाता है। इस प्रकार का सम्बन्ध बनाने से नहीं बनता, प्रत्युत वह वस्तुओं में स्वाभाविक रूप से रहता है। इसी सम्बन्ध के द्वारा एक ज्ञात वस्तु से दूसरी अज्ञात वस्तु का अनुमान किया जाता है।

पंचशिख के मतानुसार व्याप्ति व्याप्य की स्वाभाविक शक्ति का उद्भव नहीं, प्रत्युत आधेय शक्ति सम्बन्ध है। व्युत्पादन द्वारा इस शक्ति का आधान किया जाता है। अव्युत्पन्न व्यक्ति धूम को देखकर भी अग्नि का अनुमान नहीं कर सकता।

किन्तु, पंचशिख द्वारा प्रतिपादित आधेयशक्ति सम्बन्ध को व्याप्ति नहीं माना जा सकता, क्योंकि **"जहाँ-जहाँ अग्नि होती है, वहाँ-वहाँ धूम भी होता है"** ऐसे उदाहरणों में अग्नि में आधेय शक्ति होने पर भी धूम का अनुमान कराने के लिए उसमें स्वाभाविक सामर्थ्य नहीं है, अतः केवल आधेय शक्ति सम्बन्ध को व्याप्ति मान लेने पर असद् हेतु में भी हेतुता की प्रसक्ति लगेगी।

योगसूत्र के भाष्यकार **व्यास** ने व्याप्ति का उल्लेख **सम्बन्ध** के रूप में किया है। उनके **अनुसार** "जो अनुमेय के साथ समान जातीय पदार्थों में अनुवृत्त (युक्त) एवं भिन्न जातीय पदार्थों

से व्यावृत्त (पृथक करने वाला) हो, उसे सम्बन्ध कहा जाता है– **"अनुमेयस्य तुल्यजातीयेवनुवृत्तो भिन्न–जातीयेभ्यो व्यावृतः सम्बन्धः।"** किन्तु "योगभाष्य" में उपलब्ध सम्बन्ध का अर्थ व्याप्ति लगाने पर भी सम्बन्धमात्र को व्याप्ति नही कहा जा सकता है।

बौद्ध दर्शन मे व्याप्ति के लिए **'अविनाभाव'** शब्द का प्रयोग किया गया है। कर्णकगोमि के अनुसार कार्य स्वभाव आदि लिंगो का साध्य धर्म के अभाव मे न पाया जाना ही अविनाभाव अर्थात् व्याप्ति है–**''कार्यस्य स्वभावस्य च लिंगस्याविनाभावः साध्यधर्म विना न भाव इत्यर्थः।"** व्युत्पत्ति की दृष्टि से अविनाभव का अर्थ है–'अ+विना + भाव।' अर्थात् साध्य के अभावीय स्थलो मे हेतु की सत्ता (भाव) न (अ) होना। सरल शब्दो में हम कह सकते हैं कि अविनाभाव उन दो वस्तुओ का नियत सम्बन्ध है, जहॉ एक वस्तु दूसरी वस्तु के अभाव में कदापि उपलब्ध नही होती।

व्याप्ति के उपर्युक्त शाब्दिक अर्थ से ऐसा प्रतीत होता है कि व्याप्ति का सम्बन्ध केवल व्यतिरेक व्याप्ति से है, किन्तु वस्तुतः ऐसा नहीं है, क्योंकि "साध्य के बिना हेतु का न होने" का अर्थ यह भी है कि साध्य के होने पर ही हेतु का सद्भाव होना। अतः अविनाभाव व्यतिरेक व्याप्ति के साथ ही अन्वयन्याप्ति का भी बोधक है। "प्रमाण समुच्चय" में **दिङ्नाग** ने कहा है कि– **"ग्राहय" धर्मस्तद् अंशेन व्याप्तो हेतुः।"** इसे स्पस्ट करते हुए **धर्मकीर्ति** एवं **धर्मोत्तर** ने कहा है कि साध्य का साधन में नियतत्व व्यस्थापना तथा साध्याभाव में साधनाभाव की नियतता का रहना ही अविनाभाव है– **"व्याप्तिः साध्यवदन्यस्मिन्नसम्बन्ध उदाहृतः।"** साधर्म्य हेतु में साधन व्याप्य और साध्य व्यापक होता है, जबकि वैधर्म्य हेतु में साध्याभाव व्याप्य और साधनाभाव व्यापक होता है।

किन्तु बौद्धों का यह मत समीचीन नही है। बौद्वो के मत की समीक्षा करते हुए **गंगेश** ने लिखा है कि साध्य अभाव में साधन का न होना अथवा साध्याभाव के अधिकरण में हेतु का अभाव पाया जाना रूप अविनाभाव सम्बन्ध व्याप्ति नहीं कहा जा सकता, क्योंकि केवलान्वयी अनुमान में जहाँ कोई विपक्षभूत दृष्टान्त प्रसिद्व नहीं होता, वहाँ लक्षण की अव्याप्ति होगी **''नाप्यविनाभावः केवलान्वयिन्यभावात्।**[71] **"चित्सुखी"** में भी आया है– यह अविनाभाव वस्तुतः क्या है – 1. साधन होने से साध्य का होना, अथवा 2. साध्य के बिना साधन का न होना, या 3. अथवा दोनों। इनमें से **प्रथम पक्ष** तर्कसंगत नहीं है, क्योंकि केवल व्यतिरेकी हेतु में ''जहाँ–जहाँ साधन होता है, वहाँ–वहाँ साध्य भी होता है," इस प्रकार की अन्वय व्याप्ति नहीं बनायी जा सकती। यदि पक्ष से अतिरिक्त अन्यत्र कहीं हेतु का सद्भाव माना जाय, तो हेतु की केवल व्यतिरेकिता स्थिर नहीं रह सकती। इसी प्रकार **द्वितीय पक्ष** भी समीचीन नही जान पडता, क्योंकि इसमें "जहॉ–जहॉ" साध्याभाव है, वहाँ–वहाँ साध्याभाव भी है," इस प्रकार से व्यतिरेक व्याप्ति का निर्देश किया गया है, जो केवलान्वयी व्याप्ति में नहीं पायी जाती। **अन्तिम विकल्प** अन्वय–व्यतिरेक व्याप्ति स्वरूप है जो अन्वयव्यतिरेकी हेतु में रहने पर भी केवलान्वयी और केवल व्यतिरेकी हेतुओं में नहीं है।[72] **शंकर मिश्र** ने भी अविनाभाव सम्बन्ध को व्याप्ति मानने का खण्डन किया है। इससे स्पस्ट होता है कि अविनाभाव सिद्धान्त को व्याप्ति नहीं कहा जा सकता।

जैन दार्शनिकों ने भी प्राचीन न्याय, वैशेषिको तथा बौद्धों की भाँति अविनाभाव को ही व्याप्ति माना है। **माणिक्यनन्दि** के अनुसार सहभाव-नियम और क्रमभाव-नियम ही अविनाभाव है– **"सहक्रमभाव नियमोऽविनाभावः।"** इसके अनुसार "इसके होने पर यह होता है और इसके न होने पर नहीं होता।" इसी बात का पारिभाषिक नाम अविनाभाव है और इसी को व्याप्ति तथा अन्यथानुपत्ति भी कहते हैं। माणिक्यनन्दि ने यह भी कहा है कि सहचारी और व्याप्य-व्यापक भाव वाले पदार्थों में सहभावनियम तथा पूर्वचर, उत्तरचर और कार्य-कारणभूत पदार्थों मे क्रमभाव नियम पाया जाता है। शब्दान्तर से **अनन्तवीर्य, प्रभाचन्द्र** और **हेमचन्द्र** ने इसी परिभाषा को किसी न किसी रूप में स्वीकार किया है। इसी तथ्य को **अकलंक** ने इस प्रकार व्यक्त किया है– **"जो साधन साध्य के अभाव में न हो, उसके होने पर ही, वही गमक है और उसका साध्य गम्य।"** सहभाव नियम और क्रमभाव नियम को ही **प्रशस्तपाद** ने दैशिक व्याप्ति और कालिक व्याप्ति के रूप में व्यक्त किया था। अत. इसमें कोई नवीनता नहीं है। इसके साथ सहभाव नियम और क्रमभाव नियम के उदाहरणों को व्याप्य-व्यापक भाव के अन्तर्गत समाविष्ट किया जा सकता है। सभवतः इसी तथ्य को ध्यान में रखते हुए **रत्नप्रभाचार्य** ने गम्य-गमक भाव को ही अविनाभाव कहा और इसी में **"व्यभिचारशून्यता"** शब्द जोड़कर **धर्मभूषण** ने अपने लक्षण की रचना की। उनके अनुसार साध्य और साधन में गम्य-गमक भाव का साधक एवं व्यभिचार की गन्ध से रहित जो सम्बन्ध विशेष है, उसी को व्याप्ति अर्थात् अविनाभाव कहा जाता है।[73]

चूँकि जैन दार्शनिकों ने बौद्वों के समान ही अविनाभाव को व्याप्ति माना है, इसलिए जैन तार्किकों द्वारा समर्थित अविनाभाव पक्ष में वे सारे दोष आ जाते हैं, जिनका उल्लेख बौद्व व्याप्ति-खण्डन-प्रसंग में किया जा चुका है। अतः यहाँ उसका उल्लेख करना उचित नहीं है। माणिक्यनन्दि, प्रभाचन्द्र, अनन्तवीर्य तथा हेमचन्द्र समर्थित सहक्रमभाव नियमरूप अविनाभाव में भी कोई नवीनता परिलक्षित नहीं होती, क्योंकि इन दोनों का विवरण **"प्रशस्तपादभाष्य" में** दैशिक व्याप्ति और कालिक व्याप्ति में प्रस्तुत किया जा चुका है जिनको यहाँ केवल शब्दान्तर से प्रस्तुत किया गया है। सहभाव और क्रमभाव नियम के उदाहरणों को व्याप्य-व्यापक भाव के रूप में समाविष्ट किया जा सकता है। संभवतः इसी कारण **रत्नप्रभाचार्य** ने गम्य-गमकभाव सम्बन्ध को अविनाभाव के रूप में गृहीत किया है और इसी में 'व्यभिचारशून्यता' विशेषण जोड़कर **धर्मभूषण** ने अभिनीत किया है। उक्त दोनों आचार्यो के लक्षण पर्याप्त रूप से नैयायिक, मीमांसक एवं बौद्व तार्किकों से प्रभावित जान पड़ते हैं। अतः व्याप्य-व्यापकभाव, या गम्य-गमकभाव के परिपेक्ष्य में माणिक्यनन्दि प्रणीत सहचारीभाव, व्याप्य-व्यापकभाव, पूर्व उत्तर सहचारीभाव पूर्वउत्तरचारीभाव तथा कार्य कारणभाव ये चारों समाविष्ट हो जाने के कारण निष्प्रयोजक एवं निरर्थक जान पड़ते हैं।

मीमांसा दर्शन के प्रवर्तक **महर्षि जैमिनि** के **"मीमांसा सूत्र"** में व्याप्ति का स्पष्ट निरूपण नहीं मिलता। किन्तु भाष्यकार **शबर स्वामी** ने अपने अनुमान लक्षण में **"ज्ञात सम्बन्धस्य"** पद का सन्निवेश किया है। इससे सिद्ध होता है कि वे व्याप्ति सिद्धान्त से अवश्य

ही अवगत थे। शबर स्वामी द्वारा अनुमान के लक्षण मे प्रयुक्त 'ज्ञात सम्बन्धस्य' शब्द का विश्लेषण करते हुए **कुमारिल** ने इसका **नियमरूप साहचर्य सम्बन्ध** के रूप मे विश्लेषण किया है। कुमारिल के अनुसार लिंग के साथ लिंगी की जो व्याप्ति रहती है, वही सम्बन्ध है। उनके मतानुसार, व्याप्य गमक तथा व्यापक गम्य होता है। जो समान अथवा न्यून देश-काल की अपेक्षा रखता है, वह व्याप्य तथा जो समान अथवा अधिक देश-काल में विद्यमान रहता है, उसे व्यापक कहा जाता है। व्याप्य के गृहीत हो जाने से व्यापक का ग्रहण नियमतः होता है, किन्तु इसके विपरीत व्यापक से व्याप्य का ग्रहण नही होता। तात्पर्य यह है कि व्याप्य हेतु में रहने वाली व्याप्ति ही उपयोगी होती है, व्यापक में रहने वाली नहीं। एक ही व्याप्ति संयोग सम्बन्ध की तरह व्यापक और व्याप्य अपने दोनों एक देशों (सम्बन्धियों) में व्याप्य होकर रहने वाली वस्तु नहीं है, क्योंकि साध्य व्यापक में हेतु व्याप्य की व्याप्ति आवश्यक रूप से नहीं भी रहती है। इसका कारण यह है कि साध्य का अस्तित्व हेतु विहीन स्थलों में भी उपलब्ध होता है। इससे सिद्व होता है कि लिंग और लिंगी का सम्बन्ध ही व्याप्ति है।

पार्थसारथि मिश्र भी कुमारिल का अनुसरण करते हुए कहते हैं कि **"व्याप्ति नियम रूप सम्बन्ध ही है, जिसमें संयोग आदि अनेक प्रकार के सम्बन्ध भी निहित है।"**[74] **नारायण भट्ट** ने (साध्य और साधन) के स्वाभाविक सम्बन्ध को व्याप्ति कहा है। स्वाभविकता उपाधिशूल्यता ही है– "स्वाभाविकः सम्बन्धोव्याप्ति। स्वाभाविकत्वं चोपाध्रिाहित्यम।"[75] इस प्रकार उन्होंने इस प्रंसग में **उदयन** के मत का पूर्णत अनुसरण किया है। मीमांसक पूर्वाचार्यों से अपने लक्षण की संगति दिखलाने हेतु उन्होने व्याप्ति, नियम, प्रतिबन्ध, अव्यभिचार तथा अविनाभाव इन सभी को पर्यायवाची माना है।[76] **चिन्नास्वामी** का भी मत है कि नियमरूप सम्बन्ध ही व्याप्ति है। दृश्यमान देश काल आदि में जो हेतु का साध्य के साथ सहभाव परिलक्षित होता है, वही नियम है। उनके इस लक्षण तथा आगे की व्याख्या में **पार्थसारथि मिश्र** का ही समर्थन जान पड़ता है।[77]

लेकिन निष्पक्ष विवेचन करने पर ज्ञात होता है कि भाट्ट मीमांसको द्वारा समर्थित व्याप्ति निर्दोष नहीं है। **कुमारिल, पार्थसारथि मिश्र** एवं **चिन्नस्वामी** द्वारा प्रतिपादित लक्षण नियम घटित होने के कारण पूर्वोक्त दोष से युक्त होंगे। **नारायण भट्ट** द्वारा समर्थित स्वाभाविक अनौपाधिक सम्बन्ध भी निर्दोष एव युक्तिसगत नहीं है।

व्याप्ति लक्षण के सम्बन्ध में **प्रभाकर के मत** की व्याख्या करते हुए **शालिकनाथ** ने लिखा है कि जिसका जिसके साथ अव्यभिचरित तथा नियत कार्य-कारणभाव आदि सम्बन्ध हो, वही सद् हेतु हो सकता है और इस प्रकार का नियत तथा अव्यभिचरित कार्य-कारण भाव आदि सम्बन्ध ही व्याप्ति कहलाता है। इसी बात को अभिव्यक्त करने के लिए अनुमान लक्षण में **"ज्ञात सम्बन्ध नियमस्य"** पद का उपादान किया गया है। जैसे, कार्य धूम का कारण अग्नि के साथ कार्य-कारणभाव, रस का रूप के साथ एकार्थ–समवाय तथा गन्ध का पृथ्वी के साथ समवाय

सम्बन्ध नियत और अव्यभिचरित सम्बन्ध है। इसके विपरीत कार्य अग्नि का कारण धूम के साथ, रूप का रस के साथ एव पृथ्वी का गन्ध के साथ यदि कार्य-कारणभाव, एकार्थ समवाय तथा समवाय सम्बन्ध स्थापित किया जाये, तो वह अनियत और व्यभिचरित सम्बन्ध ही होगा।[78]

स्पष्ट है कि प्रभाकर के मत में भी व्याप्ति लक्षण के लिए 'नियत' तथा 'अव्यभिचरित' दो विशेषणों का प्रयोग किया गया है। किन्तु अव्यभिचरित सम्बन्ध ही नियत सम्बन्ध होता है, अतः नियत विशेषण का प्रयोग निरर्थक है। दूसरे, यदि केवल 'अव्यभिचरित सम्बन्ध' शब्द का प्रयोग किया जाये, तो तब भी यह लक्षण निर्दोष नहीं होगा, क्योकि उसमे भी पूर्वोक्त सभी दोष होगें। इस प्रकार व्याप्ति लक्षण के सम्बन्ध में प्रभाकर का मत मान्य नहीं है।

अद्वैत वेदान्त दर्शन में, **खण्डनकार** ने, व्याप्ति के, 'अविनाभाव', साध्य साधन के 'विपक्षवृत्तित्त्व' (साध्याभावाधिकरण वृत्तित्त्व) में बाधक होने वाले दोनों के अन्वय एवं 'स्वाभाविक सम्बन्ध' आदि लक्षणों का, व्याप्ति ग्रहण साधनों की पृष्ठभूमि में खण्डन किया है। किन्तु **चित्सुखाचार्य** ने व्याप्ति के 'अविनाभाव', 'स्वाभाविक सम्बन्ध' एवं 'निरुपाधिक सम्बन्ध' आदि लक्षणों का पृथक्-पृथक् खण्डन किया है। किन्तु दोनों का लक्ष्य प्रचलित व्याप्ति लक्षणों की आलोचना तक ही सीमित रहा है, इसीलिए इन्होंने कोई सिद्धान्त लक्षण प्रतिपादित नहीं किया। यह कार्य **"वेदान्तपरिभाषा"** तथा उसकी टीकाओं में किया गया है। धर्मराजाध्वरीन्द्र के अनुसार अशेष (सकल) साधनों के अधिकरण में रहने वाले साध्य के साथ हेतु का सामनाधिकरण्य ही व्याप्ति है– **"व्याप्तिश्च अशेषसा-धनाश्रयाश्रित–साध्यसमानाधिकरण्यरूपा।"**[79] इसी को परिष्कृत करते हुए **अर्थदीपिकाकार** ने लिखा है– साधनतावच्छेदक धर्म से विशिष्ट साधन के अधिकरण में रहने वाले साध्यतावच्छेदक धर्म से विशिष्ट साध्य का हेतु के समान अधिकरण में रहना ही व्याप्ति है। **"शिखामणि"**[80] और **"मणिप्रभा"**[81] में भी थोड़े-बहुत परिवर्तन के साथ यही लक्षण व्यक्त किया गया है। "पर्वत वह्निमान है, धूमवान् होने से" इस अनुमान मे उक्त परिष्कृत लक्षण का समन्वय इस प्रकार होगा– साधन धूम के अवच्छेदक धर्म धूमत्व से विशिष्ट धूम के अधिकरण पर्वत में रहने वाले धूमत्व से विशिष्ट धूम के अधिकरण पर्वत में रहने वाले साध्य वह्नि के अवच्छेदक धर्म वह्नित्व से विशिष्ट वह्नि का हेतु धूम के साथ समानाधिकरण्य अर्थात एक अधिकरण्य पर्वत मे वृत्ति रहना ही व्याप्ति है। अर्थात् पर्वत आदि पक्ष पर, धूम और अग्नि का होना "यत्र-यत्र धूमः, तत्र-तत्र वह्निः" इस आकार का जो सामानाधिकरण्य (एकाधिकरण-वृत्तित्व) होता है, वही व्याप्ति का स्वरूप है।

लेकिन यहाँ एक शंका यह होती है कि इस प्रकार व्याप्ति का लक्षण करने से, किसी एक वह्न्यादि साधन व्यक्ति के आश्रय महानसादि में रहने वाले किसी एक धूमादि साध्य का समानाधिकरण्य ग्रहण कर "पर्वतो धूमवान वह्नेः" यह यदि किसी ने अनुमान कर लिया, तो वह्निरूप असद् हेतु मे व्याप्ति लक्षण की अतिव्याति होगी।

किन्तु उपर्युक्त शका का निराकरण करते हुए **अद्वैत वेदान्त मत** में कहा गया है कि महानस में अग्नि है, इसलिए महानस उसका आश्रय है। महानस में उसके आश्रय से धूम भी रहता है। इसलिए महानस की अग्नि को साधन बनाकर और महानस के ही धूम को साध्य बनाकर उन दोनों का समानाधिकरण्य है। अर्थात् ये दोनों एक ही अधिकरण महानस में रहते हैं। इसी आधार पर "जहाँ-जहॉ अग्नि है, वहाँ-वहाँ धूम है, ऐसी व्याप्ति मानकर 1. पर्वत धूमवान् है, 2 क्योकि उस पर अग्नि है," यह अनुमान यदि कोई करे, तो इसमे अग्निरूप हेतु सत् न होकर असत है, क्योकि वह्निव्याप्य धूम की तरह धूम-व्याप्य वह्नि नहीं है। अयोगोलक में (तपाकर लाल किये हुए लोहे के गोले में) अग्नि होता है, किन्तु धूम नही होता। इसलिए वह्नि सत् हेतु नहीं है, किन्तु व्यभिचारी है। यहॉ पर साधनतावच्छेदक (वह्नित्व) से अवच्छिन्न– समस्त वह्नियों के आश्रय महानस, पर्वत, तप्तायोगोलक आदि इनमें से अयोगोलक रूप आश्रय पर साध्यतावच्छेदक (धूमत्व) से अवच्छिन्न हुआ एक भी धूम नहीं है। इस कारण उनका (वह्नि और धूम का) पूर्वोक्त समानाधिकरण नहीं दिखाया जा सकता। इसलिए व्याप्ति का लक्षण वह्निरूप असत् हेतु पर अतिव्याप्त नहीं है।

इससे स्पस्ट होता है कि अद्वैत वेदान्त मे व्याप्ति का जो लक्षण निर्दिष्ट किया गया है, वह अधिक तर्कसगत एवं ग्राह्य है। वस्तुतः गम्भीरता से विचार करने पर स्पस्ट होता है कि **धर्मराजाध्वरीन्द्र** के व्याप्ति लक्षण और **गंगेश** के सिद्वान्त लक्षण– **"हेतु व्यापक साध्यसामानाधिकरण्यं व्याप्तिः"** तथा **वर्धमान** के **"यावत् साधनाश्रयाश्रित साध्य सम्बन्धः", "कात्स्न्र्येन सम्बन्धः व्याप्तिः"** में कोई मौलिक अन्तर नहीं है। "व्याप्तिपंचक" के चतुर्थ लक्षण में 'सकल' पद का अर्थ 'अशेष' भी किया गया है, जैसा कि कहा गया है–**"सकल पदं अशेष परं न तु अनेक परम्।"** 'अशेष' का अर्थ है व्यापकत्वा, इसलिए "अशेष साधनाश्रयाश्रित" पद में प्रयुक्त अशेष पद का अर्थ भी व्यापकत्व ही होगा। साधनाश्रयाश्रित का तात्पर्य है "साधन के अधिकरण में रहने वाला", तदनुसार **"हेत्वधिकरणवृत्य भावाप्रतियोगि साध्य समानाधिकरण्यं व्याप्तिः"** यह सिद्वान्त व्याप्ति ही प्रतिफलित होती है।

(ख) व्याप्ति ग्रहण के साधन

व्याप्ति के सम्बन्ध में दूसरा महत्वपूर्ण प्रश्न यह उठता है कि व्याप्ति का ज्ञान किस प्रकार होता है? "सभी मनुष्य मरणशील हैं"– इस तरह के सर्वव्यापी वाक्यों की स्थापना कैसे होती है? प्रत्यक्षवादी **चार्वाकों** के लिए इस तरह की कोई समस्या ही नहीं है, क्योंकि वे अनुमान को मानते ही नहीं हैं। अन्यान्य भारतीय दर्शन जो अनुमान को मानते हैं, व्याप्ति-ज्ञान की समस्या का अपने-अपने ढंग से समाधान करते हैं। व्याप्ति-ज्ञान के साधनों के प्रसंग में व्याप्ति के लक्षणों की ही भाँति आचार्यों में मतभेद है।

न्याय-वैशविक दर्शन में **अन्वय, व्यतिरेक तथा अन्वय-व्यतिरेक, सहचार** (सकृद् दर्शन), आदि को व्याप्ति ग्रहण का साधन माना गया है। **प्रशस्तपाद** के अनुसार विधि रुप में

"जहाँ धुआँ है, वहाँ अग्नि भी होती है" तथा "जहाँ अग्नि का अभाव पाया जाता है, वहाँ धूम का अभाव पाया जाता है", अन्वय–व्यतिरेक ही समय अर्थात् व्याप्ति का ग्राहक है। प्रशस्तपाद के अतिरिक्त कई आचार्यो ने इस मत का उल्लेख किया है, किन्तु **प्राभाकर मीमांसकों** ने इस पर बहुत बल दिया है। **शालिकनाथ** के अनुसार सम्बन्ध नियम का ग्रहण केवल एक बार के इन्द्रिय प्रत्यक्ष से भी हो सकता है।

"योग भाष्य" के व्याप्ति विवेचन से ऐसा प्रतीत होता है कि योग दार्शनिकों को अन्वय सहचार तथा व्यतिरेक सहचार रूप साधन ही **प्रशस्तपाद** की "विधि" के समान व्याप्ति ग्राहक साधन इष्ट था।[82]

किन्तु **"यत्सत्त्वे यत्सत्त्वम्"** रुप अन्वय सहचार तथा "यदभावे यदभावः" रुप व्यतिरेक सहचार को व्याप्ति ग्रहण का उपाय नहीं माना जा सकता क्योंकि ईट के भट्ठे आदि के पास अग्नि और रासभ साथ–साथ पाये जाने तथा पाकशाला आदि में न पाये जाने से अर्थात् अन्वय–व्यतिरेक दोनों सहचार होने पर भी अग्नि और राभस में व्याप्ति का निश्चय नही किया जा सकता, क्योंकि दोनों ही एक दूसरे के व्यभिचारी हैं। **गंगेश**[83] और **सांख्य सूत्रकार**[84] ने इसीलिए इस मत का खण्डन करते हुए लिखा है कि सकृद् दर्शन अर्थात् मात्र अन्वय–व्यतिरेक सहचार से व्याप्ति का निश्चय नहीं किया जा सकता। **भाट्ट मीमांसकों** ने भी सकृद् दर्शन का खण्डन और **भूयोदर्शन** का समर्थन करते हुए कहा है कि दो सामान्यों में सम्बन्ध का निश्चय भी एक बार के प्रत्यक्ष दर्शन से सम्भव नहीं है।

उपर्युक्त आक्षेप का निराकरण करने के लिए **"न्याय किरणावली"** मे **उदयन** ने अन्वय–व्यतिरेक रुप **भूयोदर्शन सहचार** अर्थात् बार–बार सहचार दर्शन को ही व्याप्ति–ग्रहण का उपाय या साधन माना है। इनके अनुसार यद्यपि प्रथमतः जब धूम और वह्नि साथ–साथ देखे जाते हैं, तब भी दोनों की व्याप्ति गृहीत रहती है, किन्तु उक्त सहचार में शंका उपस्थित हो जाने के कारण बार–बार अवलोकन द्वारा उसका निरासं किया जाता है (उपाधि निरास)। उपाधि रहित हेतु में ही गमकता रहती है। इसलिए प्रथम सहचार दर्शन में व्याप्ति गृहीत होने पर भी, उसके नियम का ग्रहण नही हो पाता, अपितु बार–बार साध्य और हेतु को साथ–साथ देखने पर ही उपाधि के अभाव का निश्चय किया जाता है। इसी भूयः सूक्ष्म परीक्षण से उक्त काकतालीय (आकस्मिक) रासभ और वह्नि के सहचार की आपत्ति का भी निराकरण हो जाता है। अतः अन्वयव्यतिरेक सहचार के भूयः अवलोकन को ही व्याप्ति निश्चय के प्रति कारणीभूत उपाय माना जा सकता है।[85]

भाट्ट मीमांसकों का भी मानना है कि दो चार बार धूम और अग्नि को साथ–साथ देखने और धूम को अग्नि के बिना कभी न देखने से **भूयोदर्शन** के आधार पर धूम और अग्नि के बीच नियत साहचर्य का सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है।[86] उनका यह भी कथन है कि यद्यपि भूयोदर्शन सीमित क्षेत्र से ही सम्बद्ध है, किन्तु इसके आधार पर अनुमान किया जा सकता है। अतः भाट्ट मीमांसक प्रकारान्तर से व्याप्ति का ग्रहण अनुमान से करते हैं।

किन्तु **प्रभाकर** भूयोदर्शन के स्थान पर व्याप्ति-ग्रहण के लिए केवल एक बार के इन्द्रिय प्रत्यक्ष को ही पर्याप्त मानते हैं। प्रभाकर मत को संपादित करते हुए **शालिकनाथ** ने लिखा है कि सम्बन्ध नियम का ग्रहण केवल एक बार के इन्द्रिय प्रत्यक्ष से हो सकता है। तात्पर्य यह है कि वह्नि-धूम की व्याप्ति का ग्रहण दोनों को एक साथ नियत रुप से देखने मात्र से हो जाता है। दूसरे शब्दो मे, वह्नि-धूम की व्याप्ति देश-काल से अवच्छिन्न प्रत्यक्ष द्वारा ही अवगत होती है।

किन्तु प्रभाकर का उपर्युक्त मत मान्य नही है। यद्यपि यह सत्य है कि स्वाभाविक सम्बन्ध ा का कभी बाध नही होता। इसलिए धूम और अग्नि का सयोग एक बार के प्रत्यक्ष दर्शन से ही अवगत हो जाता है। किन्तु भविष्य में भी ऐसा होगा, इसकी क्या गारण्टी है ? प्रत्यक्ष के द्वारा यह सभव नही है, क्योकि प्रत्यक्ष केवल वर्तमान काल से ही सम्बद्ध रहता है। अनुमान से भी यह सभव नही है, क्योंकि अनुमान स्वयं व्याप्ति ज्ञान पर आधारित है। अतः उपाधि की संभावना को निर्मूल करने के लिए भूयोदर्शन की आवश्यकता है। इसलिए सुकृद्दर्शन से व्याप्ति का अवधारण नही हो सकता। इन्हीं कठिनाइयों के कारण **पार्थसारथि मिश्र** ने व्यभिचारविरहित सहचार दर्शन को व्याप्ति ग्रहण का आवश्यक एवं पर्याप्त साधन माना है। इनके अनुसार व्यभिचारादर्शन सहकृत दृश्यमान् देश काल मे लिंगी के साथ लिंग का भूयोदर्शन ही नियम का गमक होता है।

किन्तु ध्यान पूर्वक समीक्षा करने से स्पष्ट होता है कि यह मत भी युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि भूयोदर्शन से उपाधि के अभाव का निश्चय नही हो सकता। जैसे, "जहॉ-जहाँ वह्नि होती है, वहॉ-वहाँ धूम रहता है" इस प्रकार का अन्वय सहचार पर्वत, पाकशाला, चत्वर, फैक्टरी आदि में तथा "जहाँ-जहाँ धूम नही है, वहाँ-वहाँ अग्नि भी नही है" इस प्रकार का व्यतिरेक सहचार तालाब, कूप, झील, समुद्र आदि में सैकडों बार अवलोकन कर भी वह्नि का धूम के साथ स्वाभाविक सम्बन्ध स्थापित नहीं किया जा सकता, क्योंकि हेतु वह्नि का व्यभिचार साध्य वह्नि अधिकरण जलते हुए अंगारे, अयोगोलक आदि में देखा जाता है। आर्द्रेन्धन संयोग उपाधि से दूषित होने के कारण यह सम्बन्ध औपाधिक कहलाता है, स्वाभाविक नही। अतः भूयः सहचार दर्शन से कहीं स्वाभविक सम्बन्ध का निश्चय होना संभावित भी हो सकता है, किन्तु जहाँ एक भी स्थान में उनके सहचार का अभाव अथवा व्यभिचार का आविर्भाव हो जाता है, वहाँ यह साधन निष्प्रयोजक हो जाता है।

गंगेश का भी कहना है कि साध्य और साधन के सहचार का भूयः दर्शन, क्रमिक अथवा सामूहिक रुप से व्याप्ति ज्ञान का कारण नही है, क्योंकि क्रमिक दर्शनों (प्रत्यक्ष) का विनाश शीघ्रता से हो जाता है। परिणमतः सामूहिक रुप से भी व्याप्ति ज्ञान को उत्पन्न करने की इसमें क्षमता नहीं पायी जाती। इनके संस्कार से भी व्याप्ति गृहीत नहीं हो सकती, क्योंकि संस्कार तो इन्द्रियार्थसन्निकर्ष की सहायता से पूर्व अनुभूत दो वस्तुओं की व्याप्ति की स्मृति में ही कारण माने जा सकते हैं। ' भूयोदर्शन' शब्द के निम्नलिखित अनेक अर्थ हो सकते हैं–

1. एक ही वस्तु का अनेक बार दर्शन।
2. साध्य और हेतु के अनेक दृष्टान्तों का दर्शन।
3. साध्य और हेतु के सहचार का अनेक अधिकरणों में दर्शन।

उपर्युक्त अर्थो मे से प्रथम अर्थ अयुक्तिपूर्ण और अग्राह्य है, क्योंकि साध्य और हेतु को एक बार देखने पर भी व्याप्ति का ग्रहण हो सकता है। अतः उसके बार-बार अवलोकन की आवश्यकता नहीं है। अन्तिम दोनों अर्थ भी निप्रयोजक है, क्योंकि "यह रसवान है, रुपवान होने से" ऐसे उदाहरणो में साध्य और हेतु को अनेक दृष्टान्तों और अधिकरणो में अनेक बार साथ-साथ भी उनमें व्याप्ति का ग्रहण नहीं हो सकता। **गंगेश** का समर्थन करते हुए **रघुनाथ शिरोमणि, गदाधर भट्टाचार्य,**[87] **विश्वनाथ,**[88] **अन्नंभट्ट**[89] तथा **नीलकंठ** ने भी भूयोदर्शन को व्याप्ति ग्राहक प्रमाण नहीं माना है। अतः भूयोदर्शन को व्याप्ति ग्रहण का साधन नहीं माना जा सकता।

यद्यपि न्याय दर्शन के प्रवर्तक **गौतम** ने व्याप्ति की स्पष्ट चर्चा नही की, थी किन्तु चूँकि उन्होने अनुमान को प्रत्यक्ष पूर्वक माना है, अतः यह कहा जा सकता है कि उन्होनें **प्रत्यक्ष** को अनुमान का कारण माना है, हालाँकि **"न्याय सूत्र"** में इस तरह का कोई स्पष्ट विवचन नहीं पाया जाता। **मीमांसको में सुचरित मिश्र** और **पार्थसारथि मिश्र** ने इस बात का उल्लेख किया है कि 'नियम' का ग्रहण प्रत्यक्ष के द्वारा होता है।

लेकिन **वाचस्पति मिश्र** ने इस मत का खण्डन किया है। उनके अनुसार **प्रत्यक्ष** को व्याप्ति ग्राहक साधन नही माना जा सकता, क्योंकि प्रत्यक्ष से भूतकालीन और भविष्यत्कालीन वस्तुओं का ज्ञान नहीं किया जा सकता, जबकि व्याप्ति का क्षेत्र तीनों कालों तक विस्तृत है।

कुछ दार्शनिकों के अनुसार **मानस प्रत्यक्ष** से व्याप्ति का ग्रहण होता है। किन्तु यह मत भी ठीक नहीं है, क्योंकि मन के विषय आत्मा और उसके सुख-दुःख आदि धर्म हैं एवं व्याप्ति आत्मा का धर्म नहीं है, किन्तु दो वस्तुओं का नियत सम्बन्ध है। **श्रीधर** और **जयन्तभट्ट** का कहना है कि व्याप्ति सम्बन्ध प्रत्यक्ष से कदाचित् गम्य भी हो सकता है, किन्तु फिर भी वह वाह्य विषय से ही संभव है, मानस प्रत्यक्ष से नहीं, क्योंकि वाह्य विषय में मन स्वतन्त्र नहीं है। यदि मन को वाह्य वस्तुओं के ज्ञान में स्वतन्त्र माना जायेगा, तो गूँगे, अन्धे भी वाह्य अर्थ का ग्रहण करने लगेंगे।[90]

सामान्य-लक्षण प्रत्यक्ष को भी व्याप्ति का आधार नहीं माना जा सकता क्योंकि ऐसा मान लेने पर अनुमान की आवश्यकता ही समाप्त हो जाती है। **योगज प्रत्यक्ष** को भी व्याप्ति का आधार नहीं माना जा सकता क्योंकि योगियों को तो योगज पत्यक्ष से ही सब वस्तुओं का ज्ञान हो जायेगा। अतः उसे अनुमान करने की आवयकता ही नहीं होगी।[91]

वाचस्पति मिश्र के अनुसार व्याप्ति का निश्चय **तर्क सहकृत भूयः दर्शन** से होता है। उनका मत है कि प्रत्यक्ष का सम्बन्ध केवल वर्तमान कालिक पदार्थों से ही होता है। अतः उससे

सर्वकालिक व्याप्ति का निश्चय नही हो सकता। व्याप्ति उपाधिविहीन स्वाभाविक सम्बन्ध है। हेतु और साध्य के स्वाभाविक सम्बन्ध मे यदि व्यभिचार की शंका हो, तो उसका निवारण तर्क से होता है। **उदयन** ने शंका रुप प्रतिबन्धक का निवर्तक होने के कारण तर्क को व्याप्ति ज्ञान का सहकारी माना है।

इस सिद्धान्त की आलोचना करते हुए **गंगेश** ने लिखा है कि तर्कसहकृत भूयोदर्शन को व्याप्ति ग्राहक प्रमाण माना जाय और भूय. दर्शन को प्रयोजनशून्य समझा जाय, यह युक्ति संगत नही है। यह भी नही कहा जा सकता कि भूयोदर्शन के बिना तर्क का ज्ञान संभव नहीं हो सकता, क्योंकि कोई भी व्यक्ति एक बार ही व्याप्ति ज्ञान प्राप्त कर तर्कबोध कर सकता है। यदि तर्क को व्याप्ति ज्ञान का आधार मानें तो **अनवस्था दोष** की प्राप्त होगी, क्योंकि एक व्याप्ति ज्ञान मे व्यभिचार शंका होने पर तर्क की आवश्यकता होगी और उसके ज्ञान होने पर अन्य तर्क की। इस प्रकार से अनंत श्रृखला उपस्थित हो जाती है। पुनश्च, जिस व्यक्ति को एक बार के सहचार ज्ञान से ही यथार्थ व्याप्ति का ज्ञान हो जाता है, उसे भूयोदर्शन एवं उपाधि निरास सहायक तर्क की अपेक्षा नही होती। ऐसी परिस्थिति में व्याप्ति ग्राहक प्रमाण की कारणता का व्यभिचार होने पर उसे कारण नहीं माना जा सकता।[92]

तर्कसहकृत भूयोदर्शन के दोषों को ध्यान में रखते हुए **जयन्त भट्ट** ने **"नियमित सहचार"** अर्थात् "उसके होने पर ही होना और उसके न होने पर कभी न होना" को ही व्याप्ति ग्राहक प्रमाण माना है। व्याप्ति ग्राहक प्रमाण माना है। जहाँ साध्य के होने पर ही हेतु का सद्भाव और साध्य के अभाव में हेतु का भी अभाव नियमित रुप से पाया जाय, वहाँ व्यभिचार होने की सभावना नही होती। इसीलिए जयन्त ने भूयोदर्शन, प्रत्यक्ष,मानस प्रत्यक्ष, योगि प्रत्यक्ष आदि को व्याप्ति ग्रहण में कारण न मानते हुए नियमित सहचार को ही व्याप्ति का कारण माना है।[93]

किन्तु यह मत भी इसलिए समीचीन नही है कि भूत और वर्तमान में भले ही धूम का अग्नि के साथ नित्य साहचर्य होने में कोई व्यतिक्रम नहीं है, किन्तु कालान्तर–देशान्तर और भविष्य में भी ऐसा ही होगा, इसका क्या विश्वास है? इस शंका का समाधान सहचार नियम के द्वारा नहीं हो सकता। इसलिए इसे भी व्याप्ति स्थापना का प्रामाणिक साधन नहीं माना जा सकता।

उपर्युक्त सभी आक्षेपों का निराकरण करते हुए **गंगेश** ने कहा है कि **"व्यभिचार ज्ञान के अभाव से युक्त सहचार दर्शन ही व्याप्ति ग्राहक साधन है और व्यभिचार शंकाओं का निरास विपक्ष बाधक तर्क द्वारा सम्पन्न होता है।"**[94] गंगेश के अनुसार केवल तर्क को कारण मानने पर **अनवस्था दोष** होगा। इसके साथ यह भी कहा जा सकता है कि जिस व्यक्ति को एक बार के सहचार दर्शन से ही व्याप्ति का ज्ञान हो जायेगा, उसके लिए भूयोदर्शन निरर्थक है, चाहे वह तर्कसहकृत हो या न हो। सामान्यतः तर्क का अवतरण भूयो दर्शन के विना नहीं होता। इसलिए परम्परा से भूयो दर्शन भी व्याप्ति निश्चय का कारण हो सकता है, किन्तु वह साक्षात् कारण नहीं है। तर्क भी प्रमाणों का अनुग्राहक है, स्वयं प्रमाण नहीं। इसीलिए गंगेश का

कहना है कि व्यभिचार ज्ञान के अभाव से युक्त सहचार दर्शन ही व्याप्ति का ग्राहक है। **विश्वनाथ** और **अन्नंभट्ट** ने भी गंगेश के मत का अनुगमन किया है। **अद्वैत वेदान्त** में भी **'अतीत व्यभिचारदर्शन रहित सहचार दर्शन'** को व्याप्ति ग्रहण का साधन माना गया है।

उदयन और **गंगेश** ने **तर्क** को व्याप्ति ज्ञान का सहकारी माना है। "भूयो दर्शन" अथवा "व्यभिचार अदर्शन सहित सहचार दर्शन" आदि साधनो के आधार पर धूम में साध्य की व्याप्ति का निश्चय यदि हो भी जाय और उसके द्वारा अनुमिति निष्पन्न होने के उपरान्त भी, यदि वहाँ व्यभिचार शंका उपस्थिति हो जाय कि इस बात का क्या प्रमाण है कि भविष्य में भी यह सम्बन्ध बना रहैगा? इस शंका का निवारण **तर्क** द्वारा होता है। उदयन और गंगेश का कहना है कि "सभी धूमवान् पदार्थ वह्निमान हैं" यदि यह व्याप्ति वाक्य सत्य नहीं है, तो इसका विराधी वाक्य "कुछ धूमवान् पदार्थ वह्निमान् नहीं हैं" अवश्य सत्य होगा। किन्तु इसका खण्डन कार्य-कारण-सम्बन्ध सिद्धांत द्वारा हो जाता है। अतः "सभी धूमनवान् पदार्थ वहिनमान है" यह व्याप्ति वाक्य तर्क द्वारा सत्य सिद्ध होता है। इस प्रकार उदयन और गंगेश भी व्याप्ति स्थापना के लिए तर्क की सहायता अपेक्षित मानते हैं। इस मत को गंगेश के उत्तरवर्ती सभी आचार्य मानते हैं।

परन्तु तर्क को व्याप्ति निश्चय का ग्राहक प्रमाण मान लेने पर और उसमें होने वाली समस्त व्यभिचार शकाओं का विपक्ष बाधक तर्क द्वारा पूर्णतः व्यवच्छेद हो जाने पर भी समस्त साध्य-साधनो की सार्वकालिक तथा सार्वदेशिक व्याप्ति का ग्रहण होना दुष्कर है,[95] क्योंकि साधारण व्यक्ति द्वारा, अनन्त धूम और अनन्त वह्नियों का व्यक्तिशः ग्रहण करना सर्वथा असंभव है और यदि संभव हो भी जाय तो यह सामान्य नियम निर्धारण नहीं किया जा सकता कि सम्पूर्ण साध्य-साधनों में सर्वत्र नियत साहचर्य ही पाया जाये, क्योंकि केवल एक दो स्थानों में व्यभिचारहित साहचर्य देखकर यह सामान्य नियम नहीं बनाया जा सकता कि समस्त धूमों का समस्त वह्नियों के साथ सर्वत्र एवं सर्वदा सहचार सम्बन्ध पाया जाये। इस समस्या के समाधान के लिए ही न्याय दर्शन में **सामान्य लक्षणाप्रत्यासत्ति** नामक अलौकिक सन्निकर्ष का अवलम्बन लिया गया है। इसके द्वारा एक वस्तु को देखने पर उसके समान सभी वस्तुओं का बोध हो जाता है। जैसे, पाकशाला में वह्नि के स्पार्शन प्रत्यक्ष द्वारा उसकी उष्णता का बोध हो जाने पर "सभी वह्नियाँ उष्ण होती हैं", ऐसा ज्ञान होता है। अतः धूम को देखकर धूमत्वेन सकल धूमों का तथा वह्नि को देखकर वह्नित्वेन सकल वह्नियों का ज्ञान हो जाता है। इन दोनों को पाकशाला आदि किसी स्थान में नियत रुप से सहचरित देखकर सर्वत्र उनके नियत सहचार का ज्ञापन किया जा सकता है। इससे सिद्ध होता है कि नियत व्याप्ति सम्बन्ध साध्य और साधन के समस्त उदाहरणों को समाविष्ट करता है। इसीलिए **"तत्त्वचिन्तामणि"**[96] तथा **"तर्कसंग्रहदीपिका"**[97] में सामान्यलक्षणाप्रत्यासत्ति को व्याप्ति ग्रहण का आवश्यक साधन माना गया है।

किन्तु **नैयायिकों** की व्याप्ति ग्रहण के साधन के रुप में सामान्य लक्षणाप्रत्यासत्ति की अवधारणा तर्क सगत नही है, क्योंकि सामान्य लक्षणा को स्वीकार कर लेने पर जिस प्रकार घटत्व अथवा घट ज्ञान रुप सामान्य लक्षणा द्वारा समस्त घटों का ज्ञान हो जाता है, उसी प्रकार से प्रमेयत्व रुप से समस्त प्रमेयात्मक जगत् का ज्ञान हो जाना चाहिये। इससे न्यायमत मे सर्वज्ञता की आपत्ति होगी और यदि नैयायिक इस आपत्ति को स्वीकार करते हैं, तो अनुभव विरोध और स्वशास्त्र विरोध होगा, क्योंकि स्वयं नैयायिकों ने भी ईश्वर को ही सर्वज्ञ माना है, अल्पज्ञ होने से जीव को नही। सर्वज्ञता को लेकर सामान्य लक्षणा पर इसी प्रकार के प्रहार **श्रीहर्ष** ने भी किये है।[98]

जैन दर्शन में **तर्क** को ही एकमात्र व्याप्ति ग्राहक साधन माना गया है। **अकलंक** के अनुसार प्रत्यक्ष और अनुपलम्भ से होने वाला संभावनात्मक ज्ञान तर्क है। **माणिक्यनन्दि** ने अकलंक का अनुसरण करते हुए कहा है कि **"उपलम्भ और अनुपलम्भ के निमित्त से जो व्याप्ति ज्ञान होता है, उसे ऊह अर्थात तर्क कहा जाता है।"** जैसे, "साध्य अग्नि के होने पर ही साधन धूम का होना" इस उपलम्भ तथा "अग्नि के अभाव में धूम का कदापि न होना" इस अनुपलम्भ का कारण व्याप्ति को सर्वोपसंहार रुप से जानना ही तर्क है। जैन दार्शनिकों के मतानुसार प्रत्यक्ष का विषय बनने वाले साध्य और साधन ही नहीं, अपितु अनुमान और आगम के विषयभूत पदार्थो मे भी अन्वय–व्यतिरेक द्वारा अविनाभाव का निश्चय तर्क द्वारा होता है। **सांख्याचार्य विज्ञानभिक्षु** का भी मानना है कि नियम (व्याप्ति) का ग्रहण अनुकूल तर्क से होता है।

लेकिन यह मत निर्दोष नहीं है। इस मत का खण्डन करते हुए **नैयायिकों** का कहना है कि तर्क को व्याप्ति ग्राहक प्रमाण मानने पर **अनवस्था दोष** की प्राप्ति होगी। इसका विस्तृत विवेचन न्याय मत में किया गया है।

वेदान्तपरिभाषाकार **धर्मराजाध्वरीन्द्र** ने व्याप्ति ग्राहक प्रमाण की चर्चा करते हुए कहा है, कि व्याप्ति का निश्चय **व्यभिचारशून्य सहचार दर्शन से ही होता है,** चाहे यह निश्चय एक बार के देखने से हो अथवा बार–बार के अवलोकन से हो। किन्तु **सहचार दर्शन** होना प्राथमिक रुप से आवश्यक है, क्योंकि जिन पदार्थों में सहचार नहीं देखा गया हो, उनमे व्याप्ति अथवा व्यभिचार दोनों का निश्चय नहीं किया जा सकता।[99] **"शिखामणि"**[100] **"मणिप्रभा"**[101] तथा **"अर्थदीपिका"**[102] में भी इसी मत का समर्थन किया गया है।

वेदान्तपरिभाषाकार की व्याख्या और **पार्थसारथि मिश्र** के मत में पर्याप्त साम्य दिखाई देता है। दोनों मे **प्रमुख अंतर** मात्र इतना है कि पार्थसारथि मिश्र ने जहाँ व्यभिचार के अदर्शन के साथ–साथ भूयः सहचार दर्शन को आवश्यक माना है, वहाँ धर्मराजाध्वरीन्द्र ने सहचार दर्शन मात्र को प्रयोजक सिद्ध किया है।

भाट्ट उम्बेक के अनुसार सम्बन्ध नियम का निश्चय **अर्थापत्ति** से हो सकता है। इस सिद्धान्त के अनुसार यदि नियत सम्बन्ध नहीं होता, तो किसी देश अथवा काल में धूम अग्नि के

बिना भी देखा जा सकता था। किन्तु ऐसा नही होता। अतः **सम्बन्ध** नियम को अर्थापत्ति गम्य मानना चाहिए।[103]

किन्तु **पार्थसारथि** व **शालिकनाथ** ने उम्बेक के मत का खण्डन इस आधार पर किया है कि सैकडों बार यह देखने पर भी अग्नि के अधिकरण में ही धूम रहता है, यह निश्चित रुप से नही कहा जा सकता कि भविष्य में भी ऐसा ही होगा।[104]

अन्य अनुमान वादी भारतीय दार्शनिकों की भाँति **बौद्ध दार्शनिक** भी व्याप्ति को अनुमान का आधार मानते हैं। लेकिन बौद्धों का अन्यों से भेद यह है कि जहाँ बाद्धेतर नैयायिक व्याप्ति निश्चय के लिए वर्तमान, भूत और भविष्यत् के उदाहरणों पर विचार करना आवश्यक मानते हैं, वहाँ बौद्ध दार्शनिकों का मत है कि व्याप्ति का ग्रहण भूत वर्तमान और भविष्यत् के सभी उदाहरणों पर विचार किये बिना भी हो सकता है।

व्याप्ति प्रसग में विचार करते हुए **धर्मकीर्ति** ने लिखा है कि किसी हेतु का साध्य से साथ व्याप्ति सम्बन्ध है, यह बात जानने के लिए, साध्य और साधन के "स्वाभाव प्रतिबन्ध" का ज्ञान होना आवश्यक है– **"स्वभाव प्रतिबन्धे हि सत्यर्थे गम्येत्।"**[105] यह स्वभाव प्रतिबन्ध दो प्रकार का होता है– **तादात्य लक्षण** और **तदुत्पत्ति लक्षण।**[106] बौद्ध मत में इन्हीं दो सम्बन्धों के द्वारा हेतु की साध्य के साथ व्याप्ति ग्रहण की जाती है। साध्य के साथ, स्वभाव हेतु का तादात्म्य तथा कार्य का तदुत्पत्ति सम्बन्ध होता है।[107]

धर्मकीर्ति का स्पष्ट कथन है कि सपक्ष में हेतु के दर्शन और विपक्ष में अदर्शन मात्र से व्याप्ति की सिद्धि नही हो सकती। इसका कारण यह है कि सपक्ष में दर्शन और विपक्ष में अदर्शन तो व्यभिचारी हेतु में भी हो सकता है। इसलिए धर्मकिर्ति का कहना है कि व्याप्ति का निश्चय हेतु और साध्य के बीच अविनाभाव सम्बन्ध से होता है–

कार्यकारणभावाद् वा स्वभावाद् वा नियामकात्।
अविनाभावनियमो दर्शनान्न न दर्शनात्।।

बौद्धों के अनुसार **तीन प्रकार के हेतु** होते हैं– **स्वभाव हेतु, कार्य हेतु और अनुपलब्धि हेतु।** बौद्धों ने कारण हेतु की चर्चा नहीं की है, क्योंकि उनके अनुसार किसी कारण से उसके कार्य का अनुमान नहीं हो सकता। केवल कार्य से ही उसके कारण का अनुमान हो सकता है। इसलिए बौद्धों के अनुसार कारण हेतु का उल्लेख अनावश्यक है। बौद्धों का तदुत्पत्ति सिद्धान्त कार्य हेतु और अनुपलब्धि हेतु पर आधारित है। अतः तदुत्पत्ति सिद्धान्त पर आधरित व्याप्ति कारण और कार्य के सम्बन्ध के ज्ञान पर निर्भर है जिसके लिए बौद्धों ने **पंचकारिणी विधि** का प्रवर्तन किया है। पंचकारिणी एक निरीक्षण विधि है। पंचकारिणी विधि के द्वारा बौद्ध इस बात का निश्चय करते हैं कि किन्हीं दो वस्तुओं के बीच कार्यकारण सिद्धान्त है या नहीं। पंचकारिणी विधि के पाँच सोपान हैं जिनका सोदाहरण विवेचन आधोवत् है–

1 कार्य की उत्पत्ति से पहले कारण का अदर्शन,	न मच्छर है न मलेरिया,
2 कारण का दर्शन,	मच्छर की उत्पत्ति,
3. कार्य का दर्शन,	मलेरिया की उत्पत्ति,
4 कारण का अदर्शन,	मच्छर का नाश,
5 कार्य का अदर्शन,	मलेरिया का भी नाश।

लेकिन कार्य और कारण के सम्बन्ध के ज्ञान के आधार पर बौद्ध जिस व्याप्ति का निश्चय करते हैं, वह कार्यकारण सिद्धान्त संतोषजनक नहीं है। कार्य-कारण सम्बन्ध दो वस्तुओ पर निर्भर करता है। बौद्ध क्षणिकवादी हैं। अतः यहाँ प्रश्न यह उठता है कि बौद्ध इस कार्य-कारण सम्बन्ध को दो क्षणिक वस्तुओं के बीच मानते हैं या दो क्षणिक धाराओं के बीच? दोनों ही विकल्प इस सिद्धान्त की पुष्टि करने मे अक्षम है। पहला विकल्प असम्भव है, क्योंकि दो वस्तुओ में कार्य-कारण सम्बन्ध होने के लिए उनका कम से कम दो क्षणों तक अस्तित्व में होना आवश्यक है। द्वितीय विकल्प भी कार्य-कारण सम्बन्ध की पुष्टि नही कर पाता, क्योंकि यह एकदम काल्पनिक है।

बौद्ध अपने मत के समर्थन मे **कणाद** का उल्लेख करते है। किन्तु बौद्धों का यह कथन अनुचित है कि कणाद ने भी कारण का अनुमान कार्य से करने की बात कही है। वस्तुतः कणाद ने तो केवल यह कहा है कि कारण और कार्य में विद्यमान सम्बन्ध अनुमान का आधार है। कार्य कारण के अतिरिक्त और भी हेतु हैं।[108]

बौद्ध दार्शनिक तदुत्पत्ति के आतिरिक्त **तादात्म्य सम्बन्ध** के द्वारा भी हेतु की साध्य के साथ व्याप्ति का निश्चय करते हैं। **तादात्म्य का अर्थ है– दो वस्तुओं में उनके सारगुण की एकता।** जैसे, मनुष्य और जीव में जीवत्त्व। **धर्मोत्तर** ने तादात्म्य की व्याख्या करते हुए लिखा है कि **"वह साध्य अर्थ जिसका आत्म स्वभाव होता है, वह तदात्मा और उसके भाव को तादात्म्य कहा जाता है।"** इसका आशय यह है कि जो वस्तु किसी दूसरी वस्तु की आत्मस्वरूप होती है, वह उसके बिना कदापि नहीं रह सकती। इसलिए तादात्म्य सम्बन्ध को अविनाभाव का नियामक कहा जाता है। जैसे, शिंशपा और वृक्ष में तादात्म्य सम्बन्ध पाया जाता है, क्योकि शिंशपात्व का वृक्ष के अतिरिक्त कोई अस्तित्व नही है। लेकिन यहाँ इस बात का उल्लेख करना आवश्यक है कि "यह शिंशपा है, वृक्ष होने से", यहाँ शिंशपा और वृक्ष में जो तादात्म्य सम्बन्ध पाया जाता है, उसका निश्चय समान अधिकरणता के आधार पर ही किया जाता है। जिन दो वस्तुओं में एक समान धर्म पाया जाता है, उन्हीं में तादात्म्य सम्बन्ध होता है। जैसे, वृक्षत्व रूप सामान्य धर्म में शिंशपा और वृक्ष दोनों सन्निविष्ट हो जाते हैं। शिंशपा और वृक्ष दोनो का अधिकरण होने के नाते वृक्षत्व को समान अधिकरण कहा जाता है। इसी समानाधिकरण्य सम्बन्ध को ही तादात्म्य सम्बन्ध कहा जा सकता है। इसके विपरीत जहाँ दो वस्तुओं में अत्यन्त अभेद पाया जाता है, वहाँ तादात्म्य सम्बन्ध नही होता। जैसे, "यह घट है, कलश हाने से", यहाँ घट और कलश पर्यायवाची

होने के कारण उनमें किसी प्रकार का भेद ज्ञापित नहीं होता। इसी प्रकार जिन पदार्थों में अत्यन्त भेद पाया जाता है, उनमें भी प्रकृत सम्बन्ध नहीं पाया जाता है। जैसे, "यह गाय है, अश्व होने से", यहाँ गाय और अश्व अत्यन्त भिन्न प्राणी हैं। अतः उनमें तादात्म्य सम्बन्ध नहीं है। अतः साध्य साधन में जहाँ अत्यन्त अभेद अथवा अत्यन्त भेद प्रसक्त होता है, वहाँ तादात्म्य सम्बन्ध नहीं होता अपितु उनमे समानाधिकरण्य पाया जाना ही तादात्म्य सम्बन्ध है।[109]

लेकिन बौद्धों के अनुसार तादात्म्य सम्बन्ध ही केवल अविनाभव का निश्चायक नहीं है, प्रत्युत जैसा कि पहले बताया गया है, साध्य अर्थ से जिस लिंग की उत्पत्ति होती है, वह **तदुत्पत्ति सम्बन्ध** अर्थात् कार्य-कारणभाव सम्बन्ध भी नियामक है। इन दोनों सम्बन्धों को ही धर्मकीर्ति ने अविनाभाव का नियामक माना है एवं जिसका वह स्वभाव न हो, अर्थात् जिसकी उससे उत्पत्ति न हो (तादात्म्य और तदुत्पत्ति न हो), उसमें स्वभाव प्रतिबद्धता अर्थात् अविनाभाव नहीं रहता।[110]

किन्तु गम्भीर रूप सें विचार करने पर स्पष्ट होता है कि जिस प्रकार बौद्धों का तदुत्पत्ति सिद्धान्त दोषपूर्ण है, उसी प्रकार उनका तादात्य सिद्धान्त भी दोषपूर्ण है। बौद्धों का यह कथन है कि प्रत्येक वस्तु का अपना स्वभाव होता है, जिससे उसको पृथक् नहीं किया जा सकता। इसलिए साध्य के अभावीय उदाहरणों में भी हेतु और साध्य का तादात्म्य दिखाई देता है। किन्तु तादात्म्य उन्हीं पदार्थों में हो सकता है जिनका एक साथ दर्शन हो। किन्तु यदि धूम और अग्नि का एक साथ ही दर्शन हो जाय, तो अनुमान की आवश्यकता ही क्या रह जाती है? और यदि उनके एक साथ दर्शन नहीं होते, तो फिर उनमें तादात्म्य कैसे रह सकता है?[111]

दूसरी बात यह है कि यदि तर्क के लिए हेतु और साध्य क़ा तादात्म्य मान भी लिया जाय, तो दोनों में से किसी भी एक से दूसरे का अनुमान हो जाना चाहिए। किन्तु ऐसा नहीं होता। तथ्य यह है कि धूम से अग्नि का अनुमान तो हो सकता है, किन्तु अग्नि से धूम का अनुमान नहीं हो सकता।

इस आपत्ति के निराकरणार्थ **बौद्ध** कहते हैं कि तादात्म्य का अर्थ प्रतिबन्ध है, न कि सम्बन्ध –**"तादात्म्यं प्रतिबन्धः।"** प्रतिबन्ध का अर्थ है एक का दूसरे पर निर्भर होना, जबकि सम्बन्ध में दोनों वस्तुएँ समान होती हैं।

लेकिन बौद्धों की इस युक्ति के विरूद्ध **नैयायिक जयन्त** का कहना है कि तादात्म्य का ऐसा अर्थ लगाना ठीक नहीं है। उनका यह भी कथन है कि कई बार कारण नहीं दिखाई देता, केवल कार्य ही दिखाई देता है। अतः हेतु और साध्य का तादात्म्य किसी भी प्रकार संभव नहीं है। बौद्धों के अनुसार **"शब्दोऽनित्यः कृतकत्वात्"**, इस उदाहरण में अनित्यत्व और कृतकत्व में तादाम्य सम्बन्ध है, किन्तु **जयन्त** का कहना है कि यद्यपि प्रत्येक कार्य नाशवान् है, परन्तु **"कार्य"** स्वयं में "नाश" तो नही है। इसके साथ ही जब किसी वस्तु का नाश हो जाता है, तो वह वस्तु दिखाई नहीं देती। ऐसी स्थिति में उस वस्तु और उसके नाश में तादात्म्य कैसे हो सकता है?[112]

धर्मकीर्ति के अनुसार "विपरीत वस्तु के आरोप की व्यावृत्ति के लिए अनुमान किया जाता है।" किन्तु इसके प्रत्युत्तर में **जयन्त** का कहना है कि वृक्षत्व और शिंशपात्व में अभेद होने से शिशपात्व के ग्रहण से वृक्षेतर वस्तु के समारोप का प्रश्न ही नहीं उठता।[113]

निष्कर्ष यह है कि अविनाभाव निश्चायक साधनों को केवल तादात्म्य और तदुत्पत्ति तक ही प्रतिबन्धित नही किया जा सकता। इस मत की समीक्षा करते हुए **पार्थसारथि मिश्र** ने लिखा है कि जहॉ कार्य-कारणभाव तथा तादात्म्य निश्चय दोनों नहीं अथवा दोनों में से एक भी नहीं है, वहॉ अनुमान नहीं होना चाहिए। किन्तु इन दोनों के अभाव मे भी कृतिका नक्षत्र के उदय होने से अचिरोदित (समीप में उदय होने वाले) रोहिणी के उदय होने का यथार्थ अनुमान होता है। इसी प्रकार रस से रूप का भी अनुमान होता है। फिर अविनाभाव भी एक प्रकार का नियम ही है और कार्यकारणभाव भी पौर्वापर्य रूप से नियम का ही भान कराता है। अतः नियम को ही नियम का ग्राहक प्रमाण मानने से **आत्माश्रय दोष** होगा। इससे सिद्ध होता है कि कार्यकारणभावरूप तदुत्पत्ति सम्बन्ध का अनुसरण करना व्यर्थ है।[114] **श्रीधर** ने भी इसी प्रकार तादात्म्य तथा तदुत्पत्ति सिद्धान्तों का विस्तृत खण्डन किया है। केवल नैयायिक ही नहीं, प्राय· सभी बौद्धेतर दार्शनिको ने बौद्धों के इन सिद्धान्तों का खण्डन किया है। अतः तादात्म्य और तदुत्पत्ति द्वारा व्याप्ति का निर्धारण नहीं किया जा सकता।

ऊर्ध्व विवेचन से स्पष्ट होता है कि व्याप्ति ग्रहण के साधनो के बारे में न्याय, वैशेषिक, बौद्ध आदि जितने मत हैं, सब दोषपूर्ण हैं। इस सन्दर्भ में **अद्वैत वेदान्त** मत अधिक तर्कसगत दिखाइ देता है। व्याप्ति का निश्चय एक बार के दर्शन मात्र से भी हो सकता और अनेक बार के दर्शन से भी। अतः इसके लिए केवल भूय· सहचार दर्शन को आवश्यक मानना उचित नही है। **संक्षेप में, व्याप्ति का निश्चय व्यभिचारशून्य सहचार दर्शन से ही होता है– चाहे यह निश्चय एक बार के दर्शन से हो अथवा अनेक बार के अवलोकन से।**

ग. व्याप्ति के भेद

प्रायः सभी अनुमानवादी दार्शनिकों ने व्याप्ति के भेदों की चर्चा की है। भारतीय दार्शनिक ग्रन्थों में व्याप्ति के निम्नलिखित भेद पाये जाते हैं– 1. अन्वय-व्यतिरेक व्याप्ति, 2. समव्याप्ति-विषम व्याप्ति, 3. सामान्य-विशेष व्याप्ति, 4. सह-क्रम व्याप्ति, 5. अन्तः, वहिः एवं साकल्य व्याप्ति, 6. दैशिक-कालिक व्याप्ति।

अन्वय-व्यतिरेक व्याप्तियाँ **महर्षि कणाद** और **गौतम** के सूत्रों में बीज रूप में पायी जाती हैं। इन्हें विकसित करने का कार्य **व्यास, वात्स्यायन एवं प्रशस्तपाद** ने किया है तथा इन्हें ठोस, सूक्ष्म, एवं परिष्कृत लक्षण प्रदान करने का श्रेय **कुमारिल भट्ट** को है जिसका समर्थन प्रायः सभी उत्तरवर्ती दार्शनिकों की कृतियों में किया गया है। इन्ही लक्षणों का चरम परिष्कार **नव्य न्याय** में हुआ है।

वात्स्यायन ने साध्य-साधनभाव तथा साध्याभाव-साधनाभाव के रूप में अन्वय-व्यतिरेक व्याप्ति की चर्चा की है। **वाचस्पति मिश्र**[115] **उदयन** तथा **जयन्त भट्ट**[116] ने भी व्याप्ति के इन भेदों का समर्थन किया है। इनके अनुसार साधन के सद्‌भाव में जहाँ साध्य का सद्‌भाव नियमिति रूप से पाया जाता हो, उसे अन्वय व्याप्ति तथा साध्य के अभाव में जहॉ साधन का अभाव नियमतः उपलब्ध होता है, वहाँ व्यतिरेक व्याप्ति होती है। **नव्य न्याय** में "समानाधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगिसाध्यसमानाधिकरण्य" के रूप में अन्वय व्याप्ति को परिभाषित किया गया है। **गंगेश** के अनुसार **"साध्यभावव्यापकाभावप्रतियोगित्वम्"** अर्थात् साध्याभाव के व्यापक अभाव का प्रतियोगित्व ही व्यतिरेक व्याप्ति का लक्षण है। **केशव मिश्र, अन्नंभट्टं तथा विश्वनाथ जैसे नैयायिकों तथा बौद्ध नैयायिकों** ने भी इस वर्गीकरण को स्वीकार किया है। **प्रशस्तपाद** ने व्याप्ति भेदों के निरूपण में यद्यपि अन्वय-व्यतिरेक शब्द का प्रयोग नहीं किया है, किन्तु उनके "विधि" पद के विवेचन से यही दोनों व्याप्तियाँ अभिप्रेत हैं।[117]

कुमारिल भट्ट ने व्याप्य-व्यापकभाव निर्णय के लिए अन्वय-व्यतिरेक व्याप्ति का बड़े व्यापक रूप से समर्थन किया है जिसका समर्थन सभी उत्तरवर्ती भाट्ट मीमांसकों ने किया है।[118] किन्तु प्राभाकर मतानुयायी **शालिकनाथ** ने केवल अन्यवय व्याप्ति को ही माना है। उनका कहना है कि अन्वय व्याप्ति को स्वीकार कर लेने पर व्यतिरेक व्याप्ति स्वतः ही सिद्ध हो जाती है। अतः उसे अलग से एक भेद के रूप में मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। **सांख्य दर्शन** में वीत और अवीत अनुमान के भेदों के माध्यम से व्याप्ति के ये दोनो भेद स्वीकार किये गये हैं।[119] जैन दार्शनिक **सिद्धसेन दिवाकर** ने तथोत्पत्ति तथा अन्यथानुपपत्ति के रूप में अन्वय व्यतिरेक व्याप्तियों की ही स्थापना की है।[120] **हेमचन्द्र** ने भी इन्हीं दो व्याप्तियों का उल्लेख किया है। इस प्रकार अन्वय-व्यतिरेक व्याप्ति का उल्लेख प्राभाकर मीमांसकों के अतिरिक्त प्रायः सभी दर्शनों में पाया जाता है। बौद्ध दर्शन में **धर्मकीर्ति** एवं उनके टीकाकार **कर्णकगोमि, मनोरथनन्दी, धर्मोत्तर,**[121] आदि ने भी इन व्याप्तियों का विशद् विवेचन किया है। **सांख्यतत्त्वकौमुदीकार** के वीत और अवीत अनुमान भेदो में भी ये दोनो व्याप्तियाँ सूचित की गयी हैं।[122] **योगभाष्यकार** के अनुमान–विवेचन–निष्ठ सम्बन्ध की व्याख्या में इन व्याप्तियों का निर्देशन हुआ है।[123]

सम व्याप्ति-विषम व्याप्ति का विवेचन मीमासा दर्शन के **भाट्ट सम्प्रदाय**[124] तथा **सांख्य दर्शन**[125] में किया गया है। अन्य दार्शनिकों ने इस सन्दर्भ में कुमरिल का अनुगमन किया है। जब साध्य और साधन के लिए नियत साहचर्य को अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा समान रूप में प्रकट किया जा सकता हो, तब उन व्याप्य-व्यापक में **सम व्याप्ति** पायी जाती है, किन्तु जहाँ व्याप्य-व्यापक में इस प्रकार का अन्वय-व्यतिरेक न पाया जाय, वहाँ **विषम व्याप्ति** होती है। दोनों स्थलों में व्याप्ति हेतु में ही रहती है, इसलिए हेतु को व्याप्य या गमक एवं साध्य को व्यापक या गम्य कहा जाता है।

सामान्य-विशेष व्याप्ति का उल्लेख **न्याय** एवं **मीमांसा दर्शन** में मिलता है। दो सामान्य पदार्थों में होने वाली व्याप्ति **सामान्य व्याप्ति** है तथा विशेष पदार्थों में उपलब्ध व्याप्ति **विशेष**

व्याप्ति है। **बौद्धों** के अनुसार चूँकि अनुमान द्वारा विशेष वस्तुओं का ग्रहण न होकर सामान्य वस्तुओं का ही ग्रहण होता है,[126] इसलिए व्याप्ति सामान्य विषयों में ही हो सकती है, विशेष विषयों में नही।[127] किन्तु **नैययिकों**[128] एवं **भाट्ट मीमांसकों**[129] ने बौद्धों के इस मत का खण्डन करते हुए विशेष पदार्थो मे भी व्याप्ति को स्वीकार किया है। अन्य सभी दार्शनिकों को न्याय, मीमांसा सिद्धान्त ही मान्य है।

सह-क्रम व्याप्ति का विवेचन **माणिक्यनन्दी** से लेकर **यशोविजय** तक प्रायः सभी **जैन ग्रन्थों** में पाया जाता है। अन्य दार्शनिको की रचनाओं में यह भेद प्रायः अुनपलब्ध है।

एक अन्य दृष्टि से **व्याप्ति के अन्तः, वहिः एवं साकल्य तीन भेद** किये गये हैं। जब पक्ष मे व्याप्य-व्यापक भाव को नियत रूप से ग्रहण किया जाता है, तो उसे **अन्तर्व्याप्ति** कहा जाता है और जहॉ पर सपक्ष में व्याप्ति को ग्रहण कियाा जाता है, उसे **वहिर्व्याप्ति** कहते हैं। जहॉ पर पक्ष और सपक्ष दोनों में व्याप्ति ग्रहण करके अनुमान किया जाता है, उसे **साकल्य व्याप्ति** कहा जाता है। **डॉ० महैन्द्र कुमार जैन** ने तीनों व्याप्तियों का निर्देश किया है।

दैशिक एवं **कालिक व्याप्ति** का विवेचन केवल **वैशेषिक दर्शन** में किया गया है। अन्य दार्शनिक ग्रन्थों में इसका विवेचन नहीं मिलता। **प्रशस्तपाद**[130] एवं उनके टीकाकारों ने इन्हें स्पष्ट किया है। यह व्याप्ति-भेद जैनो के सहक्रम भाव का शब्दान्तर मात्र प्रतीत होता है।

इससे स्पष्ट होता है कि व्याप्य-व्यापक की विशेष स्थिति अनुसार व्याप्ति के भी उपर्युक्त अनेक भेद किये गये हैं।

(2) पक्षधर्मता

अनुमान की निष्पत्ति के दो मुख्य आधार हैं– 1. व्याप्ति और 2. पक्षधर्मता। व्याप्ति ज्ञान द्वारा केवल हेतु और साध्य की नियत सम्बद्धता का ही सामान्य बोध हैाता है। जैसे, "पर्वतो अग्निमान् धूमात्", इस अनुमान में व्याप्ति ज्ञान द्वारा केवल इतना ही, सामान्य बोध हो पाता है कि "जहाँ-जहाँ साधन (हेतु) धूम रहता है, वहाँ-वहाँ साध्य अग्नि भी पायी जाती है" अथवा "साध्य अग्नि के अभाव वाले स्थलों में साधन धूम का अभाव भी नियमित रूप से ज्ञात होता है।" किन्तु केवल इसी ज्ञान के आधार पर "पर्वत वह्निमान है" यह निगमन निगमित नहीं किया जा सकता, क्योंकि जब तक प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा यह ज्ञात नहीं हो जाता है कि 'पर्वत पर धुआँ उठ रहा है', तब तक साधन धूम द्वारा साध्य अग्नि का पर्वत पर अनुमान नहीं हो सकता। अतः पर्वत पर अग्नि की सत्ता को अनुमान द्वारा सिद्ध करने के लिए यह आवश्यक है कि वहाँ अग्नि सूचक धूम की सत्ता भी अनिवार्यतः ज्ञात रहे। यही पक्षधर्मता है। कहा भी गया है– **"साध्य (अग्नि) की पक्षधर्मता हेतु (धूम) की पक्षधर्मता के आधर पर सिद्ध होती हैं।"** व्याप्ति ज्ञान द्वारा साध्य सामान्य का ही निश्चय किया जाता है, किन्तु पक्षधर्मता ज्ञान के आधार पर साध्य के पक्षसम्बद्धता रूप विशेष की सिद्धि की जाती है।

पक्षधर्मता का अर्थ है पक्षरूप आश्रय विशेष में व्याप्य अर्थात व्याप्ति विशिष्ट हेतु का विद्यमान रहना–**"पक्षधर्मता तु व्याप्यस्य पक्ष सम्बन्धः।**[131] तात्पर्य यह है कि हेतु स्वरूपतः साध्य निश्चय में प्रयोजक नही है, अपितु साध्य के साथ नियमित रूप से सहचरित होने पर ही वह उपयोगी हो सकता है। इसलिए साध्य-साधन की व्याप्ति का निरूपण होने के पश्चात ही व्याप्ति विशिष्ट हेतु की पक्ष मे विद्यमानता प्रदर्शित करने के लिए पक्षधर्मता का विवेचन किया जाता है। **"व्याप्यनन्तरं पक्षधर्मता निरूप्यते।"**[132] **न्याय-वैशेषिक दर्शन** में व्याप्ति ज्ञान और पक्षधर्मता ज्ञान दोनों के सम्मिश्रण से जो विशिष्ट लिंग परामर्श ज्ञान उत्पन्न होता है, वही पक्षधर्मता के रूप में व्यवहृत किया जाता है।

अन्यान्य दार्शनिक जिन्होनें लिंग परामर्शात्मक ज्ञान को अनुमिति का चरम कारण नहीं माना है, उन्होनें भी व्याप्ति स्मरण अथवा व्याप्ति संस्कार को जागृत करने के लिए पक्ष (पर्वत) में हेतु (धूम) की वृत्तिता दिखाने के लिए पक्षधर्मता के ज्ञान को आवश्यक माना है। **डॉ० एस०सी० चटर्जी** का भी कहना है कि **"अनुमान की प्रामाणिकता व्याप्ति ज्ञान पर और सम्भावना पक्षता (पक्षधर्मता ज्ञान) पर निर्भर है, क्योंकि अनुमान वहीं निष्पन्न हो सकता है, जहाँ कोई पक्ष विद्यमान हो ओर वह तभी प्रामाणिक सिद्ध हो सकता है, जबकि वह हेतु और साध्य के नियत साहचर्य सम्बन्ध पर आधारित हो। अतः व्याप्ति ज्ञान अनुमान का तार्किक आधार है और पक्षता (पक्षधर्मता ज्ञान) मनोवैज्ञानिक आधार है।"**[133]

उल्लेखनीय है कि **जैन दार्शनिकों** ने पक्षधर्मता को स्वीकार नहीं किया है। जैनो के अनुसार केवल अविनाभाव के अवलम्बन के आधार पर ही हेतु द्वारा साध्य का निश्चय हो जाता है। अतः इसके लिए पक्षधर्मता को मानने की आवश्यकता नहीं है। **"खण्डनखण्डखाद्य"**[134] तथा **"तत्वप्रदीपिका"**[135] में भी पक्षधर्मता का खण्डन किया गया है।

किन्तु साध्य निश्चय के लिए पक्ष प्रयोग की उपयोगिता को अपरिहार्य मानते हुए भी जैन दार्शनिकों द्वारा पक्षधर्मत्व की आलोचना तथा केवल अविनाभाव के आधार पर हेतु द्वारा साध्य का निश्चय समीचीन नहीं है, क्योंकि पक्षधर्मता के अभाव में हेतु में अविनाभाव रहने पर भी अनुमिति नहीं हो सकती है। जैसे, "जलाशय अग्नियुक्त है, धूमवान होने से।" इस अनुमान में हेतु "धूम" में साध्य "अग्नि" की "जहाँ-जहाँ धूम होता है, वहाँ-वहाँ अग्नि भी होती है" तथा "जहाँ-जहाँ अग्नि नहीं पायी जाती, वहाँ-वहाँ धूम भी नही पाया जाता है", इत्याकारक नियत व्याप्ति उपलब्ध होने पर भी हेतु "धूम" पक्ष "जलाशय" का धर्म न होने के कारण सद्हेतु नहीं है, प्रत्युत स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास ही कहलाता है। अतः व्याप्ति के साथ-साथ पक्षधर्मता को भी आवश्यक रूप से मानना अनिवार्य है। **वेदान्तपरिभाषा**[136] **तथा उसके टीकाकारों**[137] ने न्याय, मीमांसक दार्शनिकों की भाँति व्याप्ति संस्कार के उद्बोधन के लिए पक्षधर्मता की उपयोगिता को आवश्यक माना है। इससे सिद्ध होता हैं कि अनुमान की निष्पत्ति के लिए पक्ष धर्मता को मानना आवश्यक है।

अनुमान के भेद

अनुमान के लक्षण, मौलिक घटक तथा आधारभूत तत्वो की भाँति अनुमान के भेदो के बारे में भी भारतीय दार्शनिकों मे मतभेद दिखाई देता है। भारतीय दर्शन में स्वीकृत अनुमान के भेदों को मोटे तौर पर तीन वर्गों में वर्गीकृत किया जा सकता है–

1 पूर्ववत्, शेषवत् और सामान्यतोदृष्ट,
2. स्वार्थ और परार्थ तथा
3. केवलान्वयी, केवल व्यतिरेकी एवं अन्वयव्यतिरेकी।

इनमें से प्रथम वर्गीकरण **योग** और **अद्वैत वेदान्त दर्शन** के अतिरिक्त प्रायः सभी दार्शनिक परम्पराओ में न्यूनाधिक रूप से प्राप्त होता है, जबकि द्वितीय वर्गीकरण प्रायः सभी दार्शनिकों को मान्य है। तृतीय वर्गीकरण का विवेचन **बौद्ध** और **जैन** परम्पराओं में न प्राप्त होकर केवल **वैदिक परम्परा** में ही प्राप्त होता है। **अद्वैत वेदान्ती** अनुमान के इस वर्गीकरण के स्थान पर केवल एक ही अनुमान **अन्वयिरूप** को ही मानते हैं।

पूर्ववत्, शेषवत और सामान्यतोदृष्ट के रूप में अनुमान के तीन भेदों का निरूपण सर्वप्रथम **महर्षि गौतम** ने "न्यायसूत्र" में किया, किन्तु परिभाषाओं और उदाहरणों द्वारा उनके स्वरूप का निरूपण नही किया। इन भेदों की व्याख्या करने का श्रेय न्यायभाष्यकार **वात्स्यायन** को है। उन्होंने इनकी व्याख्या दो प्रकार से की है। **प्रथम व्याख्या** के अनुसार जहाँ कारण द्वारा कार्य का अनुमान किया जाय, उसे **पूर्ववत् अनुमान** कहा जाता है। जैसे, मेघाच्छन्न आकाश को देखकर होने वाली वर्षा का अनुमान। पूर्ववत् अनुमान में ज्ञात कारण से अज्ञात कार्य का अनुमान होता है।[138] इसके विपरीत जहॉ कार्य द्वारा कारण का अनुमान किया जाय, वह **शेषवत् अनुमान** है। जैसे नदी की गंदी और वेगवती धारा को देखकर (विगत) वृष्टि का अनुमान।

कार्य-कारणभाव से निरपेक्ष जिन दो वस्तुओं का नियत सहभाव (सम्बन्ध) पाया जाता है, उनमें एक का प्रत्यक्ष होने से दूसरी का अनुमान करना ही **सामान्यतोदृष्ट** अनुमान है। जैसे, समय-समय पर देखने से मालुम पड़ता है कि चन्द्रमा आकाश के भिन्न-भिन्न स्थानों पर रहता है। इससे उसकी गति को प्रत्यक्ष नही भी देखकर हम इस निश्चय पर पहुँचते हैं कि चन्द्रमा गतिशील है। इस अनुमान का आधार यह है कि अन्यान्य वस्तुओं के स्थान परिवर्तन के साथ–साथ उनकी गति का भी प्रत्यक्ष होता है।

वात्स्यायन द्वारा निर्धारित **द्वितीय व्याख्या** के अनुसार **पूर्ववत्** शब्द में प्रयुक्त "पूर्व" पद से "पूर्वकाल" या "पूर्व काल के समान" यह अर्थ भी ग्रहण किया जा सकता है। जैसे, पूर्वकाल में पाकशाला आदि किसी आश्रय में प्रत्यक्ष के द्वारा धूम के साथ नियत रूप से अग्नि को देखकर बाद में पर्वत आदि अधिकरण मे केवल धूम के प्रत्यक्ष से अप्रत्यक्ष अग्नि का अनुमान कर लिया जाता है। पूर्व अनुभव के आधार पर सम्पादित होने के कारण ही इसे पूर्ववत् अनुमान कहा जाता है।

शेषवत् का अर्थ है– परिशेष यानी बचा हुआ। संभावित विषयों में से कुछ विषयों का निषेध होने पर और कुछ विषयों में प्रसंग की संभावना भी न होने से बाकी जो बच जाय, वही शेषवत् अनुमान कहलाता है। शब्द द्रव्य न होकर गुण ही है, यह शेषवत् अनुमान से सिद्ध होता है। इससे सिद्ध होता है कि सभावित इतर वस्तुओं को व्यावृत्ति द्वारा अवशिष्ट वस्तु का अनुमान ही शेषवत् अनुमान है।

वात्सायन की द्वितीय व्याख्या के अनुसार जहाँ पर साधन और साध्य का सम्बन्ध प्रत्यक्ष द्वारा गृहीत नहीं हो सकता, किन्तु किसी अन्य विषय के साथ हेतु का सादृश्य रहने से अप्रत्यक्ष साध्य का अनुमान किया जाय, उसे **सामान्यतोदृष्ट अनुमान** कहते हैं। जैसे, इच्छा आदि से आत्मा का अनुमान। इस प्रकार सामान्य सम्बन्ध के बल पर होने वाला आत्मा का अनुमान सामन्यतोदृष्ट अनुमान है।[139]

पूर्ववत्, शेषवत् और सामान्यातोदृष्ट के रूप में अनुमान का जो उपर्युक्त वर्गीकरण किया गया है, उसे योग और वेदान्त दर्शनों के अतिरिक्त प्रायः सभी दर्शनों द्वारा किसी न किसी रूप में मान्यता प्रदान की गयी है।

एक अन्य वर्गीकरण के अनुसार भारतीय दर्शन में **अनुमान के दो भेद** प्राप्त होते हैः– **1. स्वार्थानुमान** और **2. परार्थानुमान।** यह विभेद अनुमान के प्रयोजन-भेद के अनुसार किया गया है। जब अपने ज्ञान के लिए अनुमान किया जाता है, तब इसे स्वार्थानुमान कहते हैं। किन्तु जब किसी तथ्य को दूसरो के सम्मुख प्रदर्शित करने के लिए अनुमान का सहारा लिया जाता है, तब उसे परार्थनुमान कहते हैं। **नैयायिकों** के अनुसार अनुमान के द्वारा यदि दूसरों को कुछ समझाने की जरूरत हो, तो इसे पाँच स्पष्ट वाक्यों में व्यक्त करना चाहिए। इन्हें अनुमान के **पंचावयव** कहते हैं। किन्तु **मीमांसकों** एव **वेदान्तियों** का कहना है कि परार्थानुमान के लिए त्रिअवयव ही पर्याप्त होते हैं।

वैदिक दर्शनों में अनुमान का एक अन्य दृष्टिकोण से भी वर्गीकरण पाया जाता है, जिसका प्रतिनिधित्व मुख्यतः **नव्य नैयायिकों** ने किया है। इस वर्गीकरण के अनुसार भी अनुमान के तीन भेद हैं, जिन्हें स्पष्ट रूप में व्यक्त करने का श्रेय **गंगेश** को है। ये हैं–

1. केवलान्वयी,
2. केवल व्यतिरेकी और
3. अन्वयव्यतिरेकी।

अनुमान के इन भेदों का आरम्भिक प्रवर्तन नैयायिक उद्योतकर ने किया था। **उदयन** ने सहचार भेद के आधार पर इनका विश्लेषण करने का प्रयत्न किया और **गंगेश** ने व्याप्ति के आधार पर इनका निरूपण किया, जबकि **रघुनाथ शिरोमणि** ने अपने विश्लेषण में साध्य को प्रमुखता दी है। उन्होने अन्त में प्रथम दो का खण्डन करके अन्वयव्यतिरेकी नामक एक ही अनुमान माना है।

उदयन केवल एक ही प्रकार की व्याप्ति मानते है। वह है– अन्वय व्याप्ति और इसका ग्रहण अन्वय तथा व्यतिरेक सहचार द्वारा किया जाता है। इसके अनुसार जहॉ केवल अन्वय सहचार से हेतु में साध्य की अन्वय व्याप्ति का निश्चय किया जाता है, उसे केवलान्वयी, जहॉ केवल व्यतिरेक सहचार द्वारा अन्वय व्याप्ति का अवधारण हेतु में किया जाता है, उसे **केवल व्यतिरेकी** तथा जहॉ उभय सहचारो द्वारा अन्वय व्याप्ति जिस हेतु मे गृहीत की जाती है, उसे **अन्वयव्यतिरेकी** अनुमान कहा जाता है। सामान्यत· "पर्वतोवह्निमान् धूमात्" को अन्वयव्यतिरेकी अनुमान माना गया है, क्योकि प्रकृत स्थलीय हेतु धूम में, होने वाला व्याप्ति ज्ञान अन्वय सहचारजन्य भी है और धूम हेतुक व्यतिरेकी साध्यक अनुमिति का करण भी। इसलिए इस अनुमिति के कारणीभूत व्याप्ति ज्ञान को अन्वयव्यतिरेकी कहा गया है।

नव्य न्याय के जनक **आचार्य गंगेश** ने व्याप्ति स्थापना प्रणाली के प्रकार भेद के आधार पर अनुमान के तीन भेद किये है– 1. केवलान्वयी, 2. केवलव्यतिरेकी तथा 3. अन्वयव्यतिरेकी। उनके अनुसार **केवलान्वयी अनुमान** वह है जिसके साध्य तथा साधन में नियत साहचर्य देखा जाता है, अर्थात् जिसकी व्याप्ति केवल अन्वय के द्वारा स्थापित होती हैं और जिसमें व्यतिरेक का सर्वथा अभाव होता है।[140] जैसे–

सभी प्रमेय अभिधेय है,

घट प्रमेय है,

अतः घट अभिधेय है।

केवलव्यतिरेकी अनुमान उसे कहते हैं जिसमें साध्य के अभाव के साथ-साथ साधन के अभाव की व्याप्ति के ज्ञान से अनुमान होता है, साधन और साध्य की अन्वयमूलक व्याप्ति से नहीं। इसलिए इस व्याप्ति की स्थापना व्यतिरेकी प्रणाली के द्वारा ही हो सकती है, क्योंकि पक्ष के अतिरिक्त साधन का और कोई दृष्टान्त नहीं है जिसमें उनका साध्य के साथ अन्वय देखा जाय। जैसे–

अन्य भूतो से जो भिन्न नहीं है, उसमें गन्ध नहीं है।

पृथ्वी में गंध है।

अतः पृथ्वी अन्य भूतो से भिन्न है।

इस अनुमान के प्रथम वाक्य में साध्य के अभाव के साथ साधन के अभाव की व्याप्ति दिखाई जाती है। साधन गंध को पक्ष पृथ्वी के सिवा और कही देखना संभव नहीं है। इसलिए साधन और साध्य के बीच अन्वय मूलक व्याप्ति नहीं हो सकती। इससे स्पष्ट है कि यहाँ व्यतिरेक मूलक व्याप्ति पर ही अनुमान किया जा सकता है।

अन्वयव्यतिरेकी अनुमान उसे कहते हैं जिसमें साधन और साध्य का सम्बन्ध अन्वय और व्यतिरेक दोनों के ही द्वारा स्थापित होता है। इस अनुमान में व्याप्ति सम्बन्ध इस प्रकार स्थापित होता है– साधन के उपस्थित रहने पर साध्य भी उपस्थित रहता है तथा साध्य के अनुपस्थित

रहने पर साधन भी अनुपस्थित रहता है। इस प्रकार की व्याप्ति का ज्ञान अन्वय और व्यतिरेक की सम्मिलित प्रणाली पर निर्भर करता है। निम्नलिखित युग्म अनुमान द्वारा अन्वयव्यतिरेकी अनुमार का स्पष्टीकरण हो सकता है–

1. सभी धूमवान् पदार्थ वहिनमान् हैं;
   पर्वत धूमवान् है,
   अतः पर्वत वह्निमान् है।
2. सभी वहिनहीन पदार्थ धूमहीन है।
   पर्वत धूमवान् है।
   अतः पर्वत वाह्निमान् है।

अनुमान के उपर्युक्त तीन भेदों को **दीधितिकार रघुनाथ शिरोमणि** ने भी माना है, किन्तु उनका यह वर्गीकरण न तो सहचार भेद पर आधारित है और न व्याप्ति भेद पर, बल्कि साध्यभेद पर आधारित है। उनके अनुसार अत्यन्ताभाव के अप्रतियोगी साध्यक अनुमिति के करण को केवलान्वयी कहा जाता है। जैसे, "घट अभिधेय है, प्रमेय होने से।" जो अनुमिति प्रकृत हेतु में होने वाले साध्य के अन्वय सहचार से उत्पन्न न हो, उस प्रकृत हेतुक व्यतिरेकी साध्यक अनुमिति के करण को **केवल व्यतिरेकी** अनुमान कहा जाता है। जैसे, "पृथ्वी इतरभेदवती है, गन्धवती होने से।" इसी प्रकार प्रकृत हेतु में साध्य सहचार ग्रह के आधार पर होने वाले व्याप्ति निश्चय से उत्पन्न होने वाले प्रकृत हेतुक व्यतिरेकी साध्यक अनुमिति के करण को अन्वय व्यतिरेकी अनुमान कहा जाता है। जैसे, "पर्वत अग्नियुक्त है, धूमयुक्त होने से।"

दीधितिकार के उक्त विवेचन में प्रथम अनुमान के अन्दर अन्वयी साध्य और शेष दोनों मे व्यतिरेकी साध्य प्रयुक्त हुआ है। **अन्तिम दोनों में अन्तर** यही है कि द्वितीय में अन्वय सहचारभूत कोई सपक्ष नहीं रहता, जबकि तृतीय में सपक्ष विद्यमान रहता है। इस प्रकार दीधितिकार ने साध्य भेद के आधार पर केवलान्वयी, केवलव्यतिरेकी तथा अन्वयव्यतिरेकी इन तीन प्रकार के अनुमानों की चर्चा की है, किन्तु सिद्धान्त रूप से उन्होनें एक ही प्रकार का अन्वयव्यतिरेकी अनुमान ही स्वीकार किया हैं, शेष दोनों अनुमानों की आलोचना कर अर्थापत्ति को प्रमाणान्तर घोषित करने का प्रयास किया है।

सांख्य-योग, बौद्ध एवं जैन परम्परा में इन प्रकारों का कोई उल्लेख प्राप्त नहीं होता। जहाँ तक अद्वैत वेदान्त की बात है, **"खण्डनखण्डखाद्य"** तथा **"चित्सुखी"** में भी अनुमान के इन प्रकारों का कोई विवेचन प्राप्त नहीं होता। "वेदान्तपरिभाषा" तथा उसकी टीकाओं में इन भेदों का व्यापक रूप से खण्डन-मण्डन देखा जाता है।

अद्वैत वेदान्ती विशेषतः वेदान्तपरिभाषाकार अनुमान के उपर्युक्त भेदों को स्वीकार नहीं करते। **वेदान्तपरिभाषाकार** के अनुसार अनुमान **अन्वयीरूप** एक ही प्रकार का होता है, केवलान्वयी नहीं, क्योंकि वेदान्त मत में समस्त धर्म ब्रह्मवृत्ति अत्यन्ताभाव के प्रतियोगी होते हैं

इसलिए अत्यन्ताभाव के अप्रतियोगी साध्यवाले केवलान्वयी अनुमान का निर्वाह नही हो सकता।[141] लेकिन **शिखामणिकार** तथा **मणिप्रभाकार** धर्मराजाध्वरीन्द्र के केवलान्वयी लक्षण का परिष्कार करते हुए उनके लक्षण में "स्ववृत्ति विरोधी" तथा "वृत्तिमत्" दो विशेषण सन्निविष्ट करके केवलान्वयी अनुमान का समर्थन किया है। वेदान्तपरिभाषा के इन टीकाकारों के विवेचन में किसी न किसी रूप में न्याय मत-मतान्तरो को समाविष्ट कर लिया गया है। लेकिन **वेदान्तपरिभाषाकार** को न्याय मत अमान्य है। नैयायिक केवलान्वयि केवलव्यतिरेक और अन्वय व्यतिरक भेद से तीन प्रकार का लिग (हेतु) मानते है। किन्तु वेदान्तमत मे अन्वायिरूप एक ही लिंग को स्वीकार किया गया है। अन्वयिरूप का अर्थ है अन्वयमुख व्याप्ति ज्ञान रूप। केवलान्वयि लिंग का खण्डन करते हुए कहा गया है कि केवलान्वयि लिंग का साध्य अत्यन्ताभाव का अप्रतियोगी होता है। अर्थात् केवलान्वयि लिंग का साध्य कभी भी अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी नहीं होता। किन्तु वेदान्त में ऐसा कोई साध्य पदार्थ ही संभव नही है, क्योंकि **"नेह नानाऽस्ति किंचिन्"** इस श्रुति से ब्रह्मातिरिक्त समस्त वस्तुओं में ब्रह्मनिष्ठ अत्यन्ताभाव का प्रतियोगित्व रहता है। इस कारण अत्यन्ताभावाप्रतियोगिसाध्यक, ऐसे केवलान्वयि की सिद्ध नही हो पाती। इस प्रकार नैयायिकाभिमत तीनो लिगों में से प्रथम अर्थात् केवलान्वयिरूप का निराकरण कर केवलान्वयिरूप अनुमान का निराकरण वेदान्तपरिभाषाकार द्वारा किया गया है, जिसे तर्कसंगत कहा जा सकता है।

केवलान्वयी अनुमान के समान वेदान्तपरिभाषाकार को केवलव्यतिरेकी अनुमान भी मान्य नहीं है, क्योकि साध्य के अभाव में साधनाभाव निरूपित व्याप्तिज्ञान (अर्थात् व्यतिरेक व्याप्तिज्ञान) का, साधन से होने वाली साध्य की अनुमिति में, कोई उपयोग सिद्ध नहीं होता। यदि यहाँ यह आशंका की जाय कि जिस व्यक्ति को धूम आदि साधन में अन्वव्याप्तिज्ञान का निश्चय नहीं हुआ है, उसे भी व्यतिरेक व्याप्तिज्ञान से अनुमिति हो जाती है, तो इसके समाधान में यह कहा जा सकता है कि वहाँ अर्थापत्ति प्रमाण द्वारा ही वह्नि आदि का ज्ञान प्राप्त कर लिया जाता है। इसके लिए अनुमान की आवश्यकता नहीं पडती। अतः अर्थापत्ति प्रमाण द्वारा ही केवलव्यतिरेकी अनुमान को स्वतंत्र प्रमाण मानने की आवश्यकता नहीं है।[142] **इस प्रकार अद्वैत वेदान्त में केवल व्यतिरेकी अनुमान का अन्तर्भाव अर्थापत्ति प्रमाण में हो जाता है।** उल्लेख्य है कि वेदान्तपरिभाषा के विरूद्ध **"शिखामणि"** तथा **"मणिप्रमा"** में केवलान्वयी अनुमान के समान केवलव्यतिरेकी अनुमान का भी समर्थन किया गया है। वेदान्तपरिभाषा की इन टीकाओं में व्यतिरेकी अनुमान के सन्दर्भ में किसी न किसी रूप में न्याय मत को स्वीकार कर लिया गया है। अतः यह मत भी अमान्य है।

केवलान्वयी और केवलव्यतिरेकी अनुमान की भाँति वेदान्तपरिभाषाकार को अन्वयव्यतिरेकी अनुमान भी मान्य नहीं है। वेदान्तपरिभाषाकार ने जिन आधारों पर केवलव्यतिरेकी अनुमान का खण्डन किया है, उन्हीं आधारों पर अन्वयव्यतिरेकी अनुमान का भी खण्डन किया है। धर्मराजाध्वरीन्द्र के अनुसार व्यतिरेकी व्याप्ति ज्ञान अनुमिति का कारण नहीं है, इसलिए अन्वयव्यतिरेकी व्याप्ति

ज्ञान अनुमिति का कारण नहीं है। इसलिए अत्वयव्यतिरेकी अनुमान अमान्य है– **"अत एवाऽनुमानस्य नान्वयव्यतिरेकि–रूपत्वं व्यतिरेकव्याप्तिज्ञानस्यानुमित्यहेतुत्वात्।"**[143] किन्तु **शिखामणिकार** तथा **मणिप्रमाकार** न अन्वयव्यतिरेकी अनुमान को भी माना गया है, क्योंकि इनके अनुसार व्यतिरेक व्याप्ति ज्ञान को अनुमिति का कारण सिद्ध किया जा सकता है अथवा अन्वय-व्यतिरेक उभय सहचार से उत्पन्न होने वाली अन्वय व्याप्ति का ज्ञान जहाँ, अनुमित्तिकरण होता है, उसे अन्वय-व्यतिरेकी अनुमान कहा जाता है। **"अर्थदीपिका"** में भी **शिखामणिकार** तथा **मणिप्रभाकार** का समर्थन करते हुए उक्त तीनों प्रकार के अनुमान माने गये हैं। अनुमान के इस प्रकार में भी न्याय मत-मतान्तर का समावेश ऐन केन प्रकारेण हो ही गया है।

लेकिन अन्वयव्यतिरेकी अनुमान का खण्डन करते हुए **वेदान्तपरिभाषाकार** कहते हैं कि जब व्यतिरेकव्याप्तिज्ञान में अनुमिति जनकत्व नहीं है, तब नैयायिकों द्वारा मानी हुई अन्वय, व्यतिरेक-उभयरूपता अनुमान से संभव नहीं होती, क्योंकि अन्वयरूप और व्यतिरेकरूप दोनों में से एक अन्वयव्याप्तिज्ञान से ही यदि अनुमिति हो सकती है, तो व्यतिरेक व्याप्तिज्ञान को अनुमिति के प्रति हेतु मानना व्यर्थ है। व्यतिरेक के निराकरण के समय इस बात को स्पष्ट किया जा चुका है कि व्यतिरेक व्याप्तिज्ञान अनुमिति के प्रति हेतुत्व नहीं है। इस प्रकार अद्वैत वेदान्ती धर्मराजाध्वरीन्द्र यह सिद्ध करते हैं कि अन्यवियरूप एक ही अनुमान है।

वेदान्तपरिभाषाकार के अनुसार अन्वयिरूप अनुमान के दो भेद हैं– स्वार्थ और परार्थ।[144] स्वार्थानुमान स्वयं अपने लिए होता है, जबकि परार्थानुमान दूसरों के लिए। यहाँ तक वेदान्तियों की नैयायिकों से सहमति है। लेकिन जहाँ **नैयायिक** परार्थानुमान के लिए **पाँच अवयवों** को मानते हैं, वहाँ **वेदान्ती** पंचावयव के स्थान पर धर्ममीमांसकों के **तीन अवयवों** को ही स्वीकार करते हैं, क्योंकि यदि तीन अवयव-समुदाय से ही व्याप्ति और पक्षधर्मता (व्याप्ति विशिष्ट हेतु का पक्ष में रहना) का ज्ञान होता है, तो दो अतिरिक्त अवयवों को मानाना व्यर्थ है।[145] **मीमांसकों** द्वारा स्वीकृत किये गये पूर्वोवत दो पक्षों में से पहले पक्ष में उपनय और निगमन का कार्य हेतु और प्रतिज्ञा के द्वारा हो सकता है और दूसरे पक्ष में हेतु और प्रतिज्ञा का कार्य उपनय और निगमन से हो सकता है। इसलिए प्रतिज्ञा और हेतु इन दो अवयवों को मानने पर उपनय और निगमन रूप अधिक अवयवों को मानने की आवश्यकता नहीं है और उनको स्वीकार करने पर प्रतिज्ञा और हेतु रूपों की आवश्यकता नहीं रह जाती। अनुमिति ज्ञान के उपयुक्त ज्ञान को पैदा करना ही सब अवयवों का कार्य है और यह कार्य कवेल तीन अवयवों से सम्पन्न हो जाता है। इसलिए परार्थानुमान की पंचावयव परम्परा अनावश्यक है।

इस अध्याय में अनुमान प्रमाण से सम्बन्धित समग्र पक्षों को सार रूप में प्रस्तुत करते हुए **निष्कर्षतः** यह कहा जा सकता है कि भारतीय दार्शनिकों द्वारा अनुमान प्रमाण का जितना स्पष्ट और सविस्तार वर्णन किया गया है, उतना अन्य किसी प्रमाण का नहीं। **चार्वाक** के अतिरिक्त सभी भारतीय दर्शनों में इसकी वैधता एवं तार्किक महत्ता को स्वीकृत प्रदान की गयी है। न्याय दर्शन

का तो यह प्रमुख विवेच्य विषय ही रहा है। **न्याय दर्शन** मे यह दूसरे प्रमाण के रूप में प्रस्तुत किया गया है।

प्रत्यक्ष प्रमाण के पश्चात् अनुमान की प्राप्ति होती है, वह इस कारण कि यह प्रत्यक्ष प्रमाण का उपजीव्य है। कुछ स्थल ऐसे हैं, जो प्रत्यक्ष से सम्भव नहीं होते हैं। अत. ऐसे ज्ञानों की उत्पत्ति के लिए अनुमान प्रमाण को मानना आवश्यक है। परदेहवर्ती ज्ञान, अज्ञानादि कुछ ऐसे धर्म हैं जिनका प्रत्यक्ष नही हो सकता है। अतएव इनका ज्ञान अनुमान से ही संभव होने के कारण अनुमान को प्रमाण मानना आवश्यक है। अनुमान से परोक्ष विषय का ज्ञान होता है। आत्मा मन इत्यादि पदार्थो की सत्ता का बोध प्रत्यक्ष प्रमाण से सभव नही है। **अद्वैत वेदान्तियों** के अनुसार अनुमान के द्वारा ब्रह्म भिन्न समस्त प्रपच की मिथ्यात्व सिद्धि हो जाती है– **"तस्माद् ब्रह्मभिन्न निखिल प्रपंचस्य मिथ्यात्वसिद्धिः।"** वास्तव में, यदि देखा जाय तो समग्र भारतीय न्यायशस्त्र में समूची तार्किक प्रक्रिया केवल अनुमान से ही सम्बन्धित है। इसका कारण यह हैं कि जब भी हम कोई सार्वभौमिक नियम या सत्य की खोज करते हैं, तो अनुमान ही, चाहे आगमन हो या निगमन, पर निर्भर होना पड़ता है।

अधिकांशतः प्रत्यक्ष को ही अनुमान का आधार माना जाता है। परन्तु जहाँ प्रत्यक्ष द्वारा अनुमान का आधार नहीं मिलता है, वहाँ आप्त वचन द्वारा प्राप्त ज्ञान ही अनुमान का आधार होता है। इससे इतना तो सिद्ध हो ही जाता है, कि अनुमान मे एक ज्ञान की प्राप्ति के पश्चात् ही दूसरी वस्तु का ज्ञान होता है। जैसे, पर्वत पर धूम देखकर अग्नि का अनुमान करना। अनुमान में लिंग, साधन या हेतु का बडा महत्व होता है, क्योंकि इसी के आधार पर पक्ष तथा साध्य के बीच सम्बन्ध स्थापित किया जाता है। इस तरह से कहा जा सकता है कि अनुमान वह है जिसमें किसी हेतु या साधन के द्वारा किसी अन्य वस्तु का ज्ञान प्राप्त किया जाता है। हेतु या साधन को करण भी कहा जाता है। अतः कहा जा सकता है कि **अनुमिति का करण ही अनुमान प्रमाण है।** अनुमान के इस लक्षण को प्रायः सभी भारतीय दार्शनिक मानते हैं, किन्तु अनुमिति के करण, अनुमान के तार्किक आकार (अवयव), अनुमान के आधारभूत तत्वों (व्याप्ति एवं पक्षधर्मता) तथा अनुमान के भेदों आदि के बारे में अनुमानवादी भारतीय दार्शनिकों में मतभेद है।

अनुमिति के करण के सम्बन्ध में मुख्यतः चार सिद्धान्त प्रचलित हैं–1. लिंग या लिंगज्ञान, 2. लिंग परामर्श, 3. ज्ञात, ज्ञायमान या परामृश्यमान लिंग और, 4. व्याप्ति ज्ञान।

प्राचीन नैयायिक अनुमिति के प्रति लिंग (हेतु=धूमादि) या **लिंग ज्ञान** को ही अनुमिति का कारण या करण मानते हैं। **उद्योतकर, गंगेश और केशव मिश्र** जैसे नैयायिक **लिंग परामर्श** को अनुमिति का कारण मानते हैं, जबकि **अद्वैत वेदान्तियों** के अनुसार **व्याप्ति ज्ञान** अनुमिति का करण (साधन) है और संस्कार उसका (व्याप्ति ज्ञान का) अवान्तर व्यापार है। **मीमांसकों** और **कुछ नैयायिकों** ने भी व्याप्ति ज्ञान को करण माना है। किन्तु व्यापार के विषय

मे उनमे मतभेद है। मीमांसकों के अनुसार व्याप्ति स्मरण व्याप्ति ज्ञान का व्यापार है, जबकि नैयायिकों के अनुसार परामर्श व्यापार है।

लेकिन **लिंग** को अनुमिति का कारण नही माना जा सकता, क्योकि जिस स्थल में लिंग प्रत्यक्ष गम्य नही होता, वहॉ परामर्श की व्यापारता संभव नहीं होती। अर्थात् व्यापार के न होन से लिंग में करणता नही मानी जा सकती, क्योंकि व्यापारयुक्त असाधारण कारण को ही करण कहा गया है। दूसरी बात यह भी है कि धूलि-पटल में धूम का भ्रम होने से 'पर्वत वह्निमान् है,' **ऐसी अयथार्थ अनुमिति होती है। यहॉं पर लिंग के न होते हुए भी अनुमिति होती हैं।** अतः लिंग को अनुमिति का करण नहीं माना जा सकता है। इसी प्रकार मात्र **लिंगज्ञान** को भी अनुमिति का करण नहीं माना जा सकता, क्योंकि जिस व्यक्ति ने पहले कभी पाकशाला आदि में हेतु और साध्य के अविनाभाव सम्बन्ध का ग्रहण नहीं किया है अथवा जिसे उक्त सम्बन्ध गृहीत करने के बाद भी पर्वत पर धूम को देखकर अर्थात् 'पर्वत पर धूम है' इत्याकारक लिंग ज्ञान होने पर भी व्याप्ति सम्बन्ध का स्मरण न हुआ हो, उसे 'पर्वत वह्निमान है', इत्याकारक अनुमिति नहीं हो सकती। इसलिए लिंग की तरह ही **लिंगज्ञान** को भी अनुमिति का करण नहीं माना जा सकता।

इसी तरह से **लिंग परामर्श** को भी अनुमिति का करण नहीं माना जा सकता। नैयायिकों के अनुसार **तृतीय लिंगपरामर्श** ही अनुमिति के प्रतिकरण है, क्योंकि तृतीय लिंगपरामर्श के बाद ही उत्तर क्षण में अनुमिति होती है। परन्तु नैयायिकों का यह सिद्धान्त ठीक नहीं है, क्योंकि पक्षधर्मता ज्ञान 'पर्वत धूमवान है', इस प्रकार पक्ष में हेतु का ज्ञान) से महानस में गृहीत व्याप्ति का स्मरण होते ही वह्नि की अनुमति होती है। परन्तु लिंगज्ञान या पक्षधर्मता ज्ञान होकर भी यदि व्याप्ति का स्मरण न हुआ, तो अनुमिति नहीं होती। इस अन्वय-व्यतिरेक से अनुमिति में व्याप्तिज्ञान ही कारण है 'परामर्श' अनुमिति में कारण नहीं है, यह सिद्ध होता है क्योंकि **"परामर्शसत्त्वे अनुमितिः, परामर्शाभावे अनुमित्यभावः।"** अर्थात् परामर्श होने पर ही अनुमिति होती है और उसके न होने पर अनुमिति नहीं होती, इस प्रकार परामर्श के विषय में अन्वय-व्यतिरेक नही दिखाये जा सकते, क्योंकि जब पक्षधर्मता ज्ञान और व्याप्तिज्ञान के कारण ही अनुमिति होती है, तब बिना परामर्श के भी वह होती है– यह अनुभव सिद्ध है। इस कारण व्यतिरेक-व्यभिचार हो जाता है। इसलिए परामर्श को अनुमिति का कारण (सामान्य कारण) नहीं कहा जा सकता। ऐसी स्थिति में उसे करण (असाधारण कारण स्वरूप) कहना कैसे सम्भव है?

जिस प्रकार लिंग परामर्श अनुमिति के प्रति करण नहीं है, उसी प्रकार **ज्ञायमान (ज्ञात होने वाला) लिंग (हेतु)** भी अनुमिति के प्रति करण नहीं हो सकता। ज्ञान मे विषय होने वाला लिंग ही अनुमिति के प्रति करण है, ऐसा मानने पर 'पर्वतो वह्निमान्भविष्यद्धूमात्' (पर्वत वह्निमान है, क्योंकि उस पर अग्रिम क्षण में ही धूम उत्पन्न होगा) आदि स्थलों में सबको जो अनुमिति होती है वह नहीं होगी, क्योंकि उस समय वहॉं लिंग नहीं है। इसलिए वहॉं पर उसके कारणत्व का व्यभिचार होता है। अतः उसमें करणत्व तो है ही नहीं। अतः प्राचीन नैयायिकों का यह मत ठीक

नही है। इसलिए व्याप्तिज्ञान ही करण है। व्याप्तिज्ञान ही सस्कार द्वारा अनुमिति का करण बना है। 'यह धूमवान् है'– ऐसा पक्षधर्मताज्ञान होने पर और 'धूमवह्निव्याप्य है'– इस अनुभव से उत्पन्न हुए सस्कार का उद्‌बोध होने पर 'वह्निमान्' इत्याकारक अनुमिति होती है। अत· कहा जा सकता है कि व्याप्तिज्ञान ही अनुमिति का करण है।

अनुमान के तार्किक आकार के बारे में भी भारतीय दार्शनिकों में मतभेद है। यहाँ विवाद का मुख्य विषय यह है कि परार्थानुमान को कितने वाक्यों (अवयवों) द्वारा व्यक्त किया जाता है। इस सम्बन्ध में मुख्यतः **दो सिद्धान्त** विशेष रूप से प्रचलित हैं। प्रथम है **पंचावयवी परम्परा,** जिसका समर्थन न्याय-वैशेषिक, सांख्य और जैन दर्शनों में किया गया है। द्वितीय है **त्रिअवयवी,** परम्परा जिसका समर्थन विशेषत· मीमासा, अद्वैत वेदान्त और सांख्य दर्शनों में किया गया है। **बौद्धाचार्य बसुबन्धु** ने भी तीन अवयवो (प्रतिज्ञा, हेतु और दृष्टान्त) का समर्थन किया है। सम्भवत· दिङ्नाग ने भी प्रतिज्ञा या पक्षवचन का स्पष्ट खण्डन नहीं किया था। अतः कहा जा सकता है कि अनुमान की अवयत्रयी परम्परा का उन्होनें विरोध नहीं किया था। पंचावयवी परम्परा के अग्रगण्य आचार्य नैयायिको के अनुसार अनुमान के निम्नलिखित पॉच अवयव है– 1. प्रतिज्ञा, 2. हेतु, 3. उदाहरण, 4. उपनय, 5. निगमन। मीमांसकों और वेदान्तियों के अनुसार अनुमान के निम्नलिखित तीन अवयव हैं। 1. प्रतिज्ञा, 2. हेतु, 3. उदाहरण अथवा 1. उदाहरण 2. उपनय 3. निगमन।

अब यहाँ प्रश्न यह उठता है कि क्यों नैयायिक अनुमान के पाँच अवयव मानते हैं और क्यों मीमांसक अनुमान के केवल तीन ही अवयव मानते हैं? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि अनुमान के अवयवों के सन्दर्भ मे नैयायिकों और मीमांसकों की परिस्थितियाँ जिम्मेदार हैं। **नैयायिक** कहते हैं कि हम लोग चार प्रमाण मानते हैं जिनकी प्रामाणिकता सिद्ध करने हेतु उन्हें हम लोगों ने अनुमान के पॉच अवयवों में विभक्त किया है। प्रतिज्ञा में शब्द प्रमाण, हेतु में अनुमान प्रमाण उदाहरण मे प्रत्यक्ष प्रमाण, उपनय में उपमान प्रमाण समाविष्ट है। निगमन में चारों प्रमाणों का संग्रह होता है। इस प्रकार नैयायिक चारों प्रमाणों की प्रतिष्ठा सिद्ध करने हेतु अनुमान के पाँच अवयवों को मानते है।

मीमांसकों का मत है कि हमें चूँकि यहाँ केवल अनुमान प्रमाण पर विचार करना हैं, इसलिए हम लोग अनुमान के केवल तीन अवयव मानते है। इन्हीं तीन अवयवों से ही परार्थानुमान हो जाता है। अतएव मीमांसको को अनुमान के तीन से अधिक अवयवों को मानने की आवश्यकता नहीं है। मीमांसकों के इस मत का समर्थन **अद्वैत वेदान्ती** भी करते हैं। मीमांसकों और वेदान्तियो का कहना है कि यदि केवल तीन अवयवों से ही व्याप्ति और पक्षधर्मता का ज्ञान हो जाता है, तो दो अतिरिक्त अवयवो को मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। उन्हें मानने से **पुनरूक्ति दोष** की उत्पत्ति होगी। मीमांसको एवं अद्वैत वेदान्तियों का यह मत उचित प्रतीत होता है कि अनुमान के केवल तीन अवयव ही पर्याप्त हैं।

अनुमान के दो आधारभूत तत्व हैं– 1. व्याप्ति और 2. पक्षधर्मता। इनके बारे में भी दार्शनिकों मे मतभेद है। तार्किकों ने अपने-अपने दृष्टिकोणों के अनुसार व्याप्ति के रूप में साधन (हेतु) और साध्य के रूप में ऐसा सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयास किया है, जिसके द्वारा यथार्थ अनुमान निष्पन्न हो सके। प्राचीन न्याय-वैशेषिक, मीमांसा, सांख्य-योग, बौद्ध तथा जैन दार्शनिकों ने अपने-अपने लक्षणों द्वारा साधन और साध्य के यथार्थ सम्बन्ध को सूचति करने के लिए हेतु की अव्यभिचारता पर ही अधिक बल दिया है। वस्तुतः इन सभी ने व्याप्यत्व का ही परिष्कार किया है। **गंगेश** और **उनके उत्तरवर्ती आचार्यों** ने इस परिष्कार को पूर्वपक्ष में रखकर सिद्धान्त लक्षण में व्यापकत्व का भी परिष्कार किया है एवं व्याप्ति, व्याप्य और व्यापक दोनों का धर्म है, ऐसा मानते हुए उन्होंनें दोनों का समन्वय करते हुए दोनों को समान अधिकरण में गृहीत होना भी आवश्यक बतलाया है। **अद्वैत वेदान्त** के अनुसार **"समस्त साधनों के आश्रय के आश्रित के साथ हेतु का समानाधिकरण्य ही व्याप्ति है।** व्याप्ति के इस लक्षण के आधार पर अनुमान करने से वह्नि रूप असद्हेतु में व्याप्ति लक्षण की **अतिव्याप्ति** भी नहीं होगी। अतः व्याप्ति का यह अधिक तर्कसंगत लक्षण प्रतीत होता है।

व्याप्ति के लक्षण की तरह ही **व्याप्ति ग्रहण के साधन** के बारे में भारतीय दार्शनिकों में मतभेद है। व्याप्ति ग्रहण के साधन से सम्बन्धित जितने भी मत हैं, उन सब पर गम्भीरता से विचार करने पर स्पष्ट होता है कि **उदयन** तथा **कुमारिल** ने भूयोदर्शन, वाचस्पति मिश्र तथा नारायण भट्ट ने तर्कसहकृत भूयोदर्शन, जयन्त ने नियम सहचार, प्रभाकर ने सकृद सहचार दर्शन, कुछ ने प्रत्यक्ष अथवा मानस प्रत्यक्ष, बौद्धों ने तादात्म्य तथा तदुत्पत्ति, जैनों ने तर्क श्रीधर ने उपाधिविहीन भूयोदर्शन एवं तर्क की साहयता से व्यभिचार शंकाओं का निरास करते हुए सामान्यलक्षणा अलौकिक प्रत्यक्ष द्वारा व्यभिचारविहीन सहचार दर्शन को व्याप्ति ग्राहक प्रमाण गंगेश, दीधितिकार, केशवमिश्र, विश्वनाथ तथा अन्नंभट्ट आदि दार्शनिकों ने माना है।

लेकिन ऐसी व्याप्ति का ग्रहण **तर्क** से नहीं हो सकता है, क्योंकि व्याप्य के आरोप से व्यापक का आरोप करनारूप जो तर्क है, वह व्याप्ति के अधीन है। **सहचारदर्शन** से भी व्याप्ति का ग्रहण नहीं हो सकता, क्योंकि दो पदार्थों का साहचर्य एक बार या बार-बार दीखने पर भी उसका (साहचर्य का) क्वचित् व्यभिचार भी दिखाई देता है। इस शंका का समाधान "सा च" से किया गया है। व्यभिचार के अदर्शन के साथ सहचार दर्शन से उस व्याप्ति का ग्रहण किया जाता है। जैसे, धूम अग्नि का व्यभिचार दिखाई न देते हुए उनका सहचार दीखने से ही 'धूम-वह्नि-व्याप्य है', यह ज्ञान होता है। जहाँ धूम होता है, वहाँ अग्नि अवश्य ही होती है। धूम हो और अग्नि न हो, यह कभी नहीं हो सकता। इस रीति से धूम और अग्नि के व्यभिचार का अनुभव न आकर सहचार के अनुभव होने से ही धूम और अग्नि की व्याप्ति का ज्ञान हो जाता है। दो पदार्थों का नियमेन एकत्र देखना ही सहचार दर्शन है, चाहे वह अनेक बार के देखने से हुआ हो अथवा एक बार के देखने से हुआ हो। केवल व्यभिचारशून्य सहचार दर्शन की आवश्यकता है, अर्थात् जिनका

सहचार ज्ञात हुआ हो, उनकी व्याप्ति का ग्रहण होता है और जिनका सहचार ज्ञात नही हुआ हो, उनकी व्याप्ति का ग्रहण नहीं होता, इस अन्वयव्यतिरेक के द्वारा सहचारदर्शन ही व्याप्तिज्ञान मे हेतु है, यह लाघव से सिद्ध होता है। इसलिए सहचारदर्शन में ही व्याप्ति का प्रयोजकत्व है। भूयोदर्शन या सकृद्दर्शन उसमें प्रयोजक नहीं है। निष्कर्ष यह है कि अद्वैत वेदान्तियों का यह मत तर्क संगत है कि व्याप्ति की स्थापना अतीत अव्यभिचारी साहचर्य के अनुभव पर अवलम्बित **है– 'व्यभिचारादर्शनं सति सहचार दर्शनम्'**।

व्याप्ति की ही भाँति सभी अनुमानवादी भारतीय चिन्तकों ने यथार्थ अनुमान की निष्पत्ति के लिए **पक्षधर्मता** को भी आवश्यक माना है। नैयायिकों एवं मीमांसकों की भॉति अद्वैत वेदान्तियों ने भी व्याप्ति संस्कार के उद्‌बोधन के लिए पक्षधर्मता की उपयोगिता को आवश्यक माना है। इसी तरह से सभी दार्शनिको ने अनुमान में तीन पदों को आवश्यक माना है ये हैं– पक्ष, हेतु और साध्य।

अनुमान के भेदों के बारे में भी दार्शनिकों में मतभेद है। **अद्वैत वेदान्त** के अतिरिक्त अन्य वैदिक दर्शनों में अनुमान के तीन भेद माने गये हैं– केवलान्वयी, केवल व्यतिरेकी और अन्वयव्यतिरेकी। किन्तु अद्वैत वेदान्त में इन भेदों के स्थान पर अनुमान का केवल एक भेद माना गया है। वह है–अन्वयिरूप। अनुमान के भेद प्रकरण में इस बात का विस्तृत विवेचन किया जा चुका है कि केवलान्वयी, केवल व्यतिरेकी और अन्वयव्यतिरेकी के रुप में अनुमान का जो वर्गीकरण किया गया है, वह दोषपूर्ण व अतार्किक है। इस सम्बन्ध में अद्वैत वेदान्त का मत ज्यादा तर्कसंगत प्रतीत होता है।

एक अन्य दृष्टि से अनुमान का वर्गीकरण स्वार्थ और परार्थ दो रूपो में किया गया है जिसे सभी भारतीय तार्किको ने स्वीकार किया है। किन्तु परार्थानुमान को व्यक्त करने के लिए जहॉ न्यायादि अनेक दार्शनिकों ने पाँच वाक्यों को आवश्यक माना है, वहीं मीमांसकों, वेदान्तियों और बौद्ध बसुबन्धु आदि ने परार्थानुमान के लिए केवल तीन अवयवों को ही आवश्यक एवं पर्याप्त माना है जिसे तर्कसंगत कहा जा सकता है, क्योंकि यदि त्रिअवयव समुदाय से ही व्याप्ति और पक्षधर्मता का का ज्ञान हो जाता है तो दो अन्य अवयवों को मानाना व्यर्थ है–मीमांसकों व वेदान्तियों का यह कथन उचित ही है।

इस प्रकार, अनुमान प्रमाण का आद्यान्त अनुशीलन करने के उपरान्त हम निष्कर्ष के रूप में यह कह सकते हैं कि अनुमान प्रमाण के बारे में **अद्वैत वेदान्त** का मत अधिक तार्किक एवं ग्राहय है।

संदर्भ-ग्रंथ-सूचिका

1. वैशेषिक सूत्र, 9.2.4. कणाद, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, 1933।
2. वही, 3.1.14।
3. प्रशस्तपाद भाष्य, प्रशस्तपाद, निर्देशक अनुसन्धान संस्थान, वाराणसी संस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी, 1963, पृ० 289।
4. किरणावली, उदयन, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, पृ० 289।
5. न्यायभाष्य, 1 1.5, वात्स्यायन, कलकत्ता संस्कृत ग्रथमाला, ग्रन्थाक 18, कलकत्ता, 1936, पृ० 142–146।
6. न्यायवार्तिक, उद्योतकर, कलकत्ता सस्कृत ग्रन्थमाला, ग्रन्थांक 18, कलकत्ता, 1936, पृ० 134–40।
7. वही, पृ० 143।
8. न्याय मजरी, 1.101, भट्ट; जयन्त, चौखम्बा प्रकाशन वाराणसी, 1936।
9. वही, 1, पृ० 101।
10. तत्त्वचिन्तामणि, उपाध्याय ; गंगेश, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, 1917, पृ० 24।
11. तर्कभाषा मिश्र; केशव, चौखम्ब प्रकाशन, वाराणसी 1953, पृ० 71।
12. तर्कसंग्रह, अन्नंभट्ट, भण्डारकर, प्राच्यविद्या संशोधन मन्दिर पूना, 1930, पृ० 34।
13. शाबरभाष्य, शबर स्वामी, आनन्दाश्रम मुद्रणालय, पूना, 1929, पृ० 36।
14. श्लोक वार्तिक, अनुमान– 2–3, भट्ट; कुमारिल, मद्रास विश्वविद्यालय प्रकाशन, मद्रास, 1940।
15. सांख्यसूत्र, 1.100, कपिल, पं० आतुतोष विद्या भूषण तथा पं० नित्यबोध विद्यारत्न, कलकत्ता, 1935।
16. सांख्यप्रवचनभाष्य, विज्ञानभिक्षु, चौखम्बा प्रकाशन वाराणसी, 1928 पृ० 53।
17. साख्यकारिका, 5, ईश्वरकृष्ण, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणी, 1963।
18. माठरवृत्ति, माठर, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, 1963, पृ० 12–13।
19. सांख्यतत्त्वकौमुदी, मिश्र; वाचस्पति, सत्य प्रकाशन, बलरामपुर हाउस, इलाहाबाद, 1962, पृ० 38।
20. वेदान्तपरिभाषा, धर्मराजाध्वरीन्द्र, व्याख्या–मुसलगॉवकर, श्रीगजानन शास्त्री, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1983, पृ० 148।
21. वही, पृ० 161।
22. वही, पृ० 163।
23. वही, पृ० 150–51।

24. न्यायावतार, 5, दिवाकर, सिद्धसेन, श्री परमश्रुत प्रभावक मण्डल, बम्बई, 1950।

25. न्यायविनिश्चय, अकलक, भारतीय ज्ञानपीठ काशी, 1949–54, पृ० 170।

26 प्रमाण समुच्चय, दिङ्गनाग, अध्याय–2, उद्धृत न्यायवार्तिक, उद्योतकर, कलकत्ता संस्कृत ग्रन्थमाला, ग्रन्थांक 18, कलकत्ता 1936, पृ० 161।

27. वही, पृ० 163।

28. न्यायप्रवेश पजिका, गायकवाड ओरिएण्टल सीरीज, बडौदा, 1940, पृ० 42।

29. प्रमाणवार्तिक, 2–62 धर्मकीर्ति, किताब महल, इलाहाबाद, 1943।

30. मनोरथनन्दी वृत्ति, मनोरथनन्दी, किताब महल, इलाहाबाद, 1943, पृ० 134।

31. सर्वदर्शनसग्रह, माधवाचार्य, भण्डारकर प्राच्यविद्या सशोधन मन्दिर, पूना, 1951, पृ० 7–10।

32 तत्रसिद्धान्तरत्नावली, चिन्नस्वामी, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय प्रकाशन, 1944, पृ० 47।

33. वही, पृ० 426–27।

34. उद्धृत, प्रमाण मीमांसा, सिन्धी जैन ग्रन्थमाला, अहमदाबाद, 1939 पृ० 7–8।

35. न्याय मजरी, भट्ट, जयन्त, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, 1936, पृ० 110।

36. वेदान्तपरिभाषा, धर्मराजाध्वरीन्द्र, व्याख्या–मुसलगॉवकर, श्रीगजानन शास्त्री, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1983, पृ० 148।

37. न्यायदीपिका, धर्मभूषण, वीर सेवा मन्दिर, सहारनपुर, 1945, पृ० 67।

38. सिद्धान्तमुक्तावली, विश्वनाथ, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, 1951, पृ० 4।

39. तर्कभाषा, मिश्र, केशव, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, 1953, पृ० 78।

40. वही, पृ० 77–79।

41. न्यायवार्तिक, उद्योतकर, कलकत्ता संस्कृत ग्रन्थमाला, ग्रन्थांक 18 कलकत्ता, 1936, पृ० 143।

42. किरणावली, उदयन, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी,1919, पृ० 290।

43. न्यायदीपिका, रत्नप्रभाचार्य, वीर सेवा मन्दिर, सहारनपुर, 1945 पृ० 67–68।

44. वेदान्तपरिभाषा, धर्मराजाध्वरीन्द्र, व्याख्या– मुसलगॉवकर; श्री गजनानन शास्त्री, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1983, पृ० 150–51।

45. वही, पृ० 153।

46. प्रमाणवार्तिक, 3.14, धर्मकीर्ति, किताब महल, इलाहाबाद 1943।

47. न्यायविन्दु, 2.3–10, धर्मोत्तर, काशी प्रसाद जायसवाल, अनुशीलन संस्था, पटना 1955।

48. न्यायविन्दुटीका, धर्मोत्तर, काशी प्रसाद जायसवाल, अनुशीलन संस्था, पटना, 1955, पृ० 91–100।

49. प्रमाणवार्तिक, 3.1, धर्मकीर्ति, किताब महल, इलाहाबाद 1943।

50. श्लोकवार्तिक, श्लो० 3–11, भट्ट; कुमरिल, मद्रास विश्वविद्यालय प्रकाशन, मद्रास, 1940।

51. मानमेयोदय, भट्ट, नारायण, थियोसाफिकल पब्लिशिंग हाउस, अड्चार मद्रास; 1933, पृ० 58–59।

52. प्रकरणपंचिका, मिश्र, शालिकनाथ, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय मुद्रणालय, काशी, 1961 पृ० 212।

53. तर्कभाषा, मिश्र, केशव, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी 1953, पृ० 87।

54. वही, पृ० 87।

55. वही, पृ० 87।

56. वही, पृ० 87।

57. हेतुविन्दुटीका, अर्चट, गायकवाड़ ओरयिण्टल सीरीज, बड़ौदा, 1949, पृ० 205–6।

58. न्यायभाष्य, 1.1.32, मिश्र, वाचस्पति, कलकत्ता संस्कृत ग्रन्थमाला, ग्रन्थाक 18, कलकत्ता, 1936।

59. वही, 1.1.32।

60. साख्यसूत्र, 5.27, कपिल, पं० आशुतोष विद्याभूषण तथा पं० नित्यबोध विद्यारत्न, कलकत्ता, 1935।

61. प्रशस्तपादभाष्य, प्रशस्तपाद, निर्देशक अनुसन्धान संस्थान, वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, 1963, पृ० 114।

62. भारतीय न्यायशास्त्र, विजल्वान; डॉ० चक्रधर, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, ग्रन्थांक 258, लखनऊ, 1983, पृ० 201।

63. प्रमाणमीमासा, 2.1.8, हेमचन्द्र, सिन्धी जैन ग्रन्थमाला, अहमदाबाद 1939।

64. वेदान्तपरिभाषा, धर्मराजाध्वरीन्द्र, व्याख्या–मुसलगाँवकर; श्री गजानन शास्त्री, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1983, पृ० 159।

65. शास्त्रदीपिका, मिश्र; पार्थसारथि, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, 1913 पृ० 178–79

66. मानमेयोदय, भट्ट; नारायण, थियोसाफिकल पब्लिशिंग हाउस, अड्यार, मद्रास, 1933 पृ० 64–65।

67. प्रकरणपंचिका, मिश्र; शालिकनाथ, काशी हिन्दूविश्वविद्यालय मुद्रणालय, काशी, 1961, पृ0 223–25।

68. न्यायमंजरी, भाग–1, भट्ट; जयन्त, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, 1936 पृ० 103।

69. सांख्यसूत्र, 5.29, कपिल, पं० आशुतोष विद्याभूषण तथा पं० नित्यबोध विद्यारत्न, कलकत्ता, 1935।

70. सांख्यप्रवचनभाष्य, विज्ञानभिक्षु, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, 1928 पृ० 128।

71. तत्त्वचिन्तामणि, उपाध्याय; गंगेश, चौखम्बा प्रकाशन वाराणसी, 1917 पृ० 377।

72. तत्त्वप्रदीपिका, चित्सुखी, निर्णय सागर प्रेस बम्बई, 931 पृ० 384।

73. न्यायदीपिका, रत्नप्रभाचार्य, बीर सेवा मन्दिर, सहारनपुर, 1945, पृ० 196।

74. न्यायरत्नमाला, मिश्र; पार्थसारथि, चौखम्बा संस्कृत बुक डिपो, वाराणसी, 1900, पृ०326, 336 ।

75. मानमेयोदय, भट्ट, नारायण, थियोसाफिकल पब्लिशिंग हाउस, अड्यार, मद्रास, 1938, पृ० 26 ।

76. वही, पृ० 48 ।

77. तन्त्रसिद्धान्तरत्नावली, चिन्नस्वामी, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय प्रकाशन, काशी, 1944, पृ० 58 ।

78. प्रकरणपचिका, मिश्र, शालिकनाथ, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय मुद्राणालय, काशी, 1961 ।

79. वेदान्तपरिभाषा, धर्मराजाध्वरीन्द्र, व्याख्या–मुसलगॉवकर; श्री गजानन शास्त्री चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी 1983 पृ० 161 ।

80. वेदान्तपरिभाषा, धर्मराजाध्वरीन्द्र, शिखामणि तथा मणिप्रमाटीका, श्री वेंकटेश्वर छायाखाना, बम्बई, संवत् 1951, पृ० 174 ।

81 वही, पृ० 105 ।

82. योगभाष्य, व्यास, भारतीय विद्या प्रकाशन, पंचगंगाघाट वाराणसी, 1963, पृ० 11 ।

83. तत्वचिन्तामणि, उपाध्याय; गंगेश, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, 1917, पृ०649–54 ।

84 साख्यसूत्र, 5 28, कपिल, प० आशुतोष विद्याभूषण तथा पं० नित्य बोध विद्यारत्न, कलकत्ता, 1935 ।

85 किरणावली, उदयनाचार्य, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, 1919, पृ० 295–96 ।

86. श्लोकवार्तिक, अनुमान 12–13, भट्ट; कुमरिल, मद्रास विश्वविद्यालय प्रकाशन, मद्रास, 1940 ।

87. गादाधरी, भट्टाचार्य, गदाधर, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणी, 1917 पृ० 634–44 ।

88. सिद्धातमुक्तावली, पंचानन, विश्वनाथ, चौखम्बा प्रकाशन वाराणसी, 1951, पृ० 152 ।

89. तर्कसंग्रहदीपिका, अन्नभट्ट, भण्डारकर प्राच्य विद्या संशोधन मन्दिर, पूना, 1930, पृ० 38 ।

90. न्यायमंजरी, भट्ट; जयन्त चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, 1936, पृ० 1–3 ।

91. वही, पृ० 1–3 ।

92. तत्त्वचिन्तामणि, उपाध्याय; गंगेश, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, 1917, पृ० 644–45 ।

93. न्यायमंजरी, भट्ट; जयन्त, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, 1936, पृ० 121 ।

94. तत्त्वचिन्तामणि, उपाध्याय, गंगेश, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, 1917, पृ० 622 ।

95. तर्कसंग्रहदीपिका, अन्नभट्ट, भण्डारकर प्राच्यविद्या संशोधन मन्दिर, पूना, 1930, पृ० 38 ।

96. तत्त्वचिन्तामणि, उपाध्याय; गंगेश, चौखम्बा प्रकाशन वाराणसी, 1917, पृ० 770 ।

97. तर्कसंग्रहदीपिका, अन्नंभट्ट, भण्डारकर प्राच्यविद्या संशोधन मन्दिर, पूना, 1930, पृ० 38 ।

98. खण्डनखण्डखाद्य, श्री हर्ष, अच्युत ग्रंथमाला, ग्रान्थांक 1, वाराणसी, सं० 2018, पृ० 255–58 ।

99. वेदान्तपरिभाषा, धर्मराजाध्वरीन्द्र, व्याख्या–मुसलगॉवकर; श्रीगजानन शास्त्री, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1983, पृ० 161 ।

100. वेदान्तपरिभाषा, धर्मराजाध्वरीन्द्र, शिखामणिटीका, श्री वेकटेश्वर छापाखाना, बम्बई स० 1985, पृ० 176।

101. वही, शिखामणिटीका, पृ० 176।

102. वही, पृ० 64।

103 श्लोकवार्तिकतात्पर्यटीका, उम्बेक, मद्रास विश्वविद्यालय प्रकाशन, मद्रास, 1940, पृ० 308।

104. प्रकरणपचिका, मिश्र, शालिकनाथ, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, मुद्रणालय, काशी, 1969, पृ० 203।

105. न्यायविनिश्चय, 2.9, धर्मकीर्ति, काशी प्रसाद जायसवाल अनुशीलन सस्था, पटना, 1955।

106. वही, 3.31।

107 वही, 2.21, 22, 24।

108. न्यायमजरी, 1–110, भट्ट, जयन्त, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी 1939।

109. सर्वदर्शनसंग्रह, माधवाचार्य, भण्डारकर प्राच्यविद्या संशोधन मन्दिर पूना, 1951, पृ० 17–18।

110 न्यायविनिश्चय, 2.23, धर्मकीर्ति, काशी प्रसाद जायसवाल अनुशीलन सस्था, पटना, 1955।

111 न्यायमंजरी, भट्ट; जयन्त, चौखम्बा प्रकाशन वाराणसी, 1939, पृ० 104।

112. वही, 1.115।

113. वही, 1 104।

114. न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका, मिश्र, वाचस्पति, कलकत्ता संस्कृत ग्रन्थमाला, ग्रन्थांक 18, कलकत्ता, 1936 पृ० 135।

115. न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका, मिश्र; वाचस्पति, कलकत्ता संस्कृत गंन्थमाला, ग्रन्थांक 18, कलकत्ता, 1936 पृ० 291–92, 310।

116. न्यायमजरी–2, भट्ट, जयन्त, चौखम्बा प्रकाशन वाराणसी, 196, पृ० 139–40।

117. प्रशस्तपादभाष्य, प्रशस्तपाद, निर्देशक अनुसंधान संस्थान, वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, 1963, पृ० 294।

118. श्लोकवार्तिक, अनुमान, श्लोक 121–123, भट्ट; कुमरिल, मद्रास विश्वविद्यालय, प्रकाशन 1940।

119. सांख्यतत्वकौमुदी, मिश्र, वाचस्पति, सत्य प्रकाशन, बलरामपुर, हाउस, इलाहाबाद, 1962 पृ० 39।

120. न्यायायावतार, दिवाकर, सिद्धसेन, श्री परमश्रुत प्रभावक मण्डल, बम्बई, 1950 पृ० 15।

121. न्यायविनिश्चयटीका, धर्मोत्तर, काशी प्रसाद जायसवाल अनुशीलन संस्था, पटना, 1955 पृ० 234–39।

122. सांख्यतत्वकौमुदी, मिश्र; वाचस्पति, सत्य प्रकाशन बलरामपुर हाउस, इलाहाबाद, 1962, पृ० 39।

123. योगभाष्य, व्यास, भारतीय विद्याप्रकाशन, पंचगंगाघाट, वाराणसी, 1963, पृ० 11।

124. श्लोकवार्तिक, अनुमान, श्लोक 4–11, भट्ट; कुमारिल, मद्रास विश्वविद्यालय प्रकाशन, 1940।

125. साख्यसूत्र, 5–29, कपिल, पं० आशुतोष विद्याभूषण तथा प० नित्यबोध विद्यारत्न, कलकत्ता, 1935।

126 प्रमाणसमुच्चय, 1 1 1, दिङ्नाग, मैसूर विश्वविद्यालय प्रकाशन, मैसूर 1930।

127 न्यायवार्तिक, उद्योतकर, कलकत्ता सस्कृत ग्रन्थमाला, ग्रन्थाक 18, कलकत्ता, 1936 पृ० 153–54।

128. न्यायवर्तिकतात्पर्यटीका, मिश्र; वाचस्पति, कलकत्ता सस्कृत ग्रन्थमाला, ग्रन्थाक 18, कलकत्ता 1936, पृ० 154–55।

129. श्लोकवार्तिक, अनुमान, श्लोक 12–13, भट्ट, कुमारिल, मद्रास विश्वविद्यालय, मद्रास, 1940।

130 प्रशस्तपादभाष्य, प्रशस्तपाद, निर्देशक अनुसन्धान सस्थान, वाराणसी सस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी, 1963, पृ० 302–4।

131 सप्तपदार्थी, पृ० 148, महादेव केशव काले, गिरगाव, बम्बई, 1919, पृ० 148।

132 तत्त्वचिन्तामणि, उपाध्याय, गगेश, चौखम्बा प्रकाशन वाराणसी, 1917, पृ० 1079।

133 The Nyay Theory of knowledge, Chatterjee; Satis Chandra, Calcutta University Press, Culcutta, Second Edition, 1950, P 225.

134 खण्डनखण्डखाद्य, श्रीहर्ष, अच्युत ग्रन्थमाला, गन्थाक 1, वाराणसी, सवत् 2018 पृ० 286–87।

135. तत्त्वप्रदीपिका, चित्सुखाचार्य, उदासीन सस्कृत विद्यालय, काशी, 1956, पृ० 392.93।

136 वेदान्तपरिभाषा, धर्मराजाध्वरीन्द्र श्री वेंकटेश्वर छापाखाना, बम्बई, स० 1985।

137. वेदान्तपरिभाषा, धर्मराजाध्वरीन्द्र, शिखामणि टीका सहित, श्री वेंकटेश्वर छापाखाना, बम्बई, सं० 1985।

138. न्यायभाष्य, 1–15, वात्स्यायन, सस्कृत ग्रन्थमाला, ग्रन्थाक 18, कलकत्ता 1936।

139 वही, पृ० 152–157।

140 तत्त्वचिन्तामणि, उपाध्याय, गगेश, चौखम्बा प्रकाशन वाराणसी, 1917, पृ० 1353।

141 वेदान्तपरिभाषा, धर्मराजाध्वरीन्द्र, व्याख्या–मुसलगॉवकर, श्री गजानन शास्त्री, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1983, पृ० 163।

142. वेदान्तपरिभाषा, धर्मराजाध्वरीन्द्र, व्याख्या–मुसलगॉवकर, श्री गजानन शास्त्री, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1983 पृ० 164।

143. वेदान्तपरिभाषा, धर्मराजाध्वरीन्द्र, व्याख्या–मुसलगॉवकर; श्री गजानन शास्त्री, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1983 पृ० 165।

144. वेदान्तपरिभाषा, धर्मराजाध्वरीन्द्र, व्याख्या–मुसलगॉवकर, श्री गजानन शास्त्री, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1983 पृ० 166।

145. वही, पृ० 166.

• •

अध्याय : चतुर्थ

उपमान प्रमाण

उपमान प्रमाण

न्याय, पूर्व मीमासा एव अद्वैत वेदान्त दर्शन में इसे पृथक् प्रमाण की मान्यता प्रदान की गयी है। सामान्यत. उपमिति के करण को 'उपमान प्रमाण' कहते हैं। उपमिति सादृश्य ज्ञान रूप है। उपमान 'उप' और 'मान' शब्दों के योग से बना है। उप का तात्पर्य है 'सादृश्य' या 'समान' और मान का अर्थ है 'ज्ञान'। इस प्रकार, उपमान का व्युत्पत्तिमूलक अर्थ है—सादृश्य का ज्ञान जिस साधकतम् कारण से होता है, उसे उपमान प्रमाण कहते हैं। उपमान प्रमाण के स्वरूप के बारे मे इस सामान्य सहमति के अतिरिक्त उपमान को प्रमाण मानने वाले दर्शनों में उपमान के विशिष्ट लक्षण को लेकर मतभेद परिलक्षित होता है।

उपमान का लक्षण

उपमान, **नैयायिकों** के अनुसार यथार्थज्ञान का तीसरा प्रमाण है। "न्यायसार" के रचयिता **भासर्वज्ञ** (नवी शताब्दी) को छोड़कर सूत्रकार **आचार्य गौतम** से लेकर उत्तरकालीन **अन्नंभट्ट, केशवमिश्र, विश्वनाथ, गंगेश उपाध्याय** आदि नैयायिकों और उनके टीकाकारों ने भी इस प्रमाण को मान्यता प्रदान की है। **वैशेषिक दर्शन** के प्रणेता **कणाद** तथा उनके अनुयायियों ने इसे स्वतंन्त्र प्रमाण के रूप में स्वीकार नही किया अथवा अनुमान प्रमाण में ही इसे अन्तर्भूत करने का प्रयास किया है। किन्तु नव्य न्याय के उदय होने पर जब न्याय और वैशेषिक के सिद्धान्तों में समन्वय स्थापित किया गया, तब से उस परम्परा में भी इस प्रमाण को माना जाने लगा है।

न्याय दर्शन के अनुसार उपमान वह प्रमाण है जिसमे सादृश्य का बोध कराने वाले वाक्य का स्मरण करके सादृश्य वस्तु का ज्ञान होता है। अर्थात् इसमें सादृश्यता के आधार पर ज्ञान प्राप्त किया जाता है। **"न्यायसूत्र"** मे कहा गया है कि प्रसिद्ध वस्तु (जैसे गाय) के साधर्म्य से अप्रसिद्ध वस्तु (जैसे गवय) के ज्ञान को उपमिति और उसके साधन को उपमान कहा जाता है–**"प्रसिद्धसाधर्म्यात् साध्यसाधनमुपमानम्।"**[1] चूँकि साधर्म्य की मात्रा को निश्चित करना बहुत कठिन है, इसलिए **गौतम** कहते हैं कि **"उपमान का आधार साधर्म्य की मात्रा या स्तर नहीं, अपितु उसकी प्रसिद्धि है।"**[2] गौतम के कथन का विश्लेषण करते हुए **वात्स्यायन** ने कहा है कि ज्ञात वस्तु के साम्य के आधार पर ज्ञापनीय वस्तु का ज्ञान कराने वाला साधन उपमान है। उदाहाणार्थ "जिस प्रकार की गौ होती है, उसी प्रकार का गवय होता है"– इस कथन में गवय का ज्ञान कराने वाला जो साधन है, वह उपमान प्रमाण कहलाता है। इस प्रकार, उपमान के द्वारा नाम और नाम वाले पदार्थ के पारस्परिक सम्बन्ध का ज्ञान होता है और यह ज्ञान साधर्म्य के

द्वारा होता है। किन्तु **उद्योतकर** का कहना है कि उपमान का क्षेत्र और अधिकार विस्तृत है। **वात्स्यायन** के मत मे संशोधन करते हुए उद्योतकर ने कहा है कि साधर्म्य के अतिरिक्त वैधर्म्य और असाधारण धर्म के द्वारा भी उपमिति होती है। संभवतः इसी कारण उत्तरवर्ती नैयायिकों ने उपमान की परिभाषा में साधर्म्य–वैधर्म्य की अपेक्षा संज्ञासंज्ञिसम्बन्ध का उल्लेख किया है।

केशव मिश्र का कहना है कि **"अतिदेश वाक्य के अर्थ का स्मरण करने के साथ ज्ञात वस्तु (गाय) के सादृश्य से युक्त अज्ञात पिण्ड (गवय) का ज्ञान कराने वाला प्रमाण उपमान है।"** अतिदेश वाक्य का अर्थ है– समानता आदि बताने वाला वाक्य।[3] जैसे, गौ की समानता से युक्त पिण्ड के ज्ञान के पश्चात् यह पिण्ड गवय शब्द का वाच्य है– इस प्रकार की जो संज्ञा (गवय शब्द) तथा संज्ञी (गवय वस्तु) के सम्बन्ध की प्रतीति होती है, वह उपमिति यानी उपमान का फल है। उपमान की प्रक्रिया के निम्नलिखित तीन सोपान हैं, जिनमें से प्रथम दो को उपमान तथा अन्तिम को उपमिति कहा जाता है।

1. गोसदृश पशु विशेष का ज्ञान,
2 अतिदेश वाक्य के अर्थ का स्मरण और
3. गोसदृश पशु विशेष गवय शब्द का वाच्य है –इस प्रकार की प्रतीति।

लेकिन **विश्वनाथ** का मत इससे कुछ भिन्न है। विश्वनाथ के अनुसार उपमिति में सादृश्य का दर्शन करण है, अतिदेश वाक्य (जैसे–गोसदृश प्राणी गवय शब्द का वाच्यार्थ है) का स्मरण अवान्तर–व्यापार है और 'सदृश प्राणी को गवय कहना चाहिए'–यह ज्ञान फल है, न कि सम्मुख दीखने वाला पशु गवय है। विश्वनाथ का कहना है कि ऐसा न स्वीकार करने पर गवयान्तर में शक्ति का ज्ञान नहीं हो सकेगा। **अन्नंभट्ट** ने भी यही स्वीकार किया है। परन्तु सभी नैयायिक उपमान को एक स्वतन्त्र प्रमाण मानते हैं।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि जब किसी अज्ञातनामा पदार्थ में किसी ज्ञातनामा पदार्थ के सादृश्य का ज्ञान होता है और उस समय अतिदेश वाक्य अज्ञातनामा पदार्थ का नाम बताने वाले वाक्य के अर्थ का स्मरण भी हो जाता है, तब वह ज्ञान उपमान प्रमाण कहा जाता है। यानी किसी ऐसे नागरिक पुरूष, जिसने कभी नीलगाय नहीं देखा है, से किसी आरण्यक का परिचय होने पर तथा वन्य पशुओं की चर्चा में गवय की चर्चा होने पर वह नागरिक पुरूप उस आरण्यक से प्रश्न करता है कि गवय कैसा होता है? आरण्यक से उसे ज्ञात होता है कि गवय गौ के सदृश होता है। इस तरह जब कभी भी वह नागरिक पुरूष वन में जाता है और वहाँ गौ के सदृश किसी पशु को देखता है, तो उसे उस अतिदेश वाक्य का स्मरण हो जाता है कि **"गोसदृशः गवयो भवति।"** इस प्रकार इस स्मरण का सन्निधान होने पर गो सदृश पशु का ज्ञान जो तुरन्त उस पुरूष को हुआ, उसे उपमिति प्रमा का करण होने से उपमान प्रमाण कहा जाता

है, क्योकि उस ज्ञान के अनन्तर नागरिक पुरूष को इस प्रकार की प्रमा का उदय होता है कि गौ के समान दिखने वाला यह पशु पिण्ड गवय शब्द का वाच्यार्थ है, अर्थात् इसी पशु का नाम गवय है। इस प्रकार **"नीलगाय"** सज्ञि के साथ "गवय" सज्ञा के वाच्य-वाचक भाव सम्बन्ध की जो प्रमा होती है, वही उपमान का फल होता है। यह फल प्रत्यक्ष ओर अनुमान प्रमाण से असाध्य है, इसका साधक होने से ही उपमान एक अतिरिक्त प्रमाण है।

इस प्रकार की व्याख्या से **यह प्रतीत होता है कि संज्ञा और सज्ञि का सम्बन्ध ही** उपमान प्रमाण का क्षेत्र है और अप्रसिद्ध पदार्थ में प्रसिद्ध पदार्थ के सादृश्य का ज्ञान ही अतिदेश वाक्यार्थ के स्मरण के सन्निधान मे उपमान प्रमाण है। इसके अतिरिक्त **"वात्स्यायन भाष्य"** की वृत्ति को देखने पर उपमान प्रमाण का क्षेत्र और विस्तृत दिखाई पडता है, क्योंकि यहॉ अप्रसिद्धनामा पदार्थ मे प्रसिद्धनामा पदार्थ के वैसादृश्य-वैधर्म्य-ज्ञान को भी उपमान प्रमाण माना गया है। जैसे, जब किसी पुरूष को उष्ट्र शब्द का अर्थ ज्ञात नही होता और उसे अन्य पुरूष के वाक्य से यह ज्ञात होता है कि अन्य सभी पशुओ से विसदृश्य दिखने वाले पशु को उष्ट्र कहा जाता है, तो इस पूर्वश्रुत वाक्य के अर्थ का स्मरण होने से उस पुरूष को उस विसदृश पशु में उष्ट्र शब्द की वाच्यता का उपमित्यात्मक निश्चय सम्पन्न होता है। अतः इस अनुभव के आधार पर सादृश्यमान के समान वैसादृश्य ज्ञान को भी उपमान प्रमाण माना जा सकता है।

इन बातो से हमे यह ज्ञात होता है कि उपमान प्रमाण में अनेक विविधताँ भी है। उपमान केवल संज्ञा और सज्ञि के सम्बन्ध का ही निश्चय नहीं कराता है, बल्कि अन्य विषय का भी निश्चय कराता है। जैसे "मूँगे के आकार का दिखाने वाला पौधा विष दूर करने की औषधि है।" यह बात जान लेने पर जब कभी भी इस प्रकार के पौधे का साक्षात्कार होता है, तो पता चलता है कि यह वही पौधा है। इस उदाहरण से यह स्पष्ट होता है कि उपमान प्रमाण से सिर्फ संज्ञा और सज्ञि जैसे शब्द और अर्थ के सम्बन्ध का ही निश्चय नहीं होता, बल्कि विषहरण साधनत्व जैसे अन्य पदार्थ का भी निश्चय होता है। अतः उपमान प्रमाण का क्षेत्र शब्दार्थ सम्बन्ध तक ही सीमित नहीं है, बल्कि अन्य पदार्थों तक भी फैला हुआ है।

न्याय के समान **मीमांसा** और **अद्वैत वेदान्त** में भी उपमान को एक पृथक् प्रमाण माना गया है किन्तु ये दर्शन उपमान के बारे में न्याय मत को स्वीकार नहीं करते। न्याय से भिन्न मीमांसा और अद्वैत वेदान्त में सादृश्य ज्ञान के कारण को उपमान और **"गाय गवय के सदृश है–"** इस ज्ञान को उपमिति कहा गया है।

यहॉ यह उल्लेखनीय है कि सादृश्य ज्ञान की करणता को न्याय के समान मीमांसा और अद्वैत वेदान्त में भी स्वीकार की गयी है, किन्तु जहाँ **नैयायिक** संज्ञा-संधि-सम्बन्ध ज्ञान को फल

मानते हैं, वहाँ **मीमांसकों** और और **अद्वैत वेदान्तियों** के अनुसार "गाय गवय के सदृश है"– यह ज्ञान फल है। इस प्रकार मीमांसा व अद्वैत वेदान्त में न्याय द्वारा स्वीकृत उपमान का लक्षण मान्य नहीं है। **मीमांसा** के अनुसार "जैसा गौ वैसा गवय (यथा गौस्तथा गवयः) यह अतिदेश वाक्य है। इसे सुनने के बाद कोई व्यक्ति वन में जाकर गो के समान पिण्ड को देखता है, तो उसे ज्ञान होता है कि मेरी गाय इस पशु के सदृश है। यही उपमिति है, उपमान का फल है। यह ज्ञान प्रत्यक्ष और अनुमान से भिन्न है। प्रत्यक्ष के लिए ग्रामस्थ गौ के साथ अरण्यगत मनुष्य के चक्षुसन्निकर्ष की आवश्यकता है, जो ग्रामस्थ गौ के साथ दूरस्थ होने से संभव नहीं है। अनुमान के लिए अनुमापक हेतु में अनुमेय साध्य की व्याप्ति और पक्षधर्मता ज्ञान की आवश्यकता है, जो गवय में नहीं है। अतः अरण्यगत मनुष्य को ग्रामस्थ गौ में गवयसादृश्य का ज्ञान उपमान से होता है। इस प्रकार मीमांसा में उपमान को स्वतंन्त्र प्रमाण तो माना गया है जो प्रत्यक्ष और अनुमान से भिन्न है, परन्तु इसका स्वरूप न्याय से भिन्न है। मीमांसक न्याय के उपमान का खण्डन करते है।

न्यायसूत्रकार **आचार्य गौतम** ने उपमान का लक्षण इस प्रकार किया है– **"प्रसिद्ध वस्तु के साधर्म्य से साध्य की सिद्धि करने वाला उपमान प्रमाण होता है।" वात्स्यायन** ने संज्ञा-संज्ञि सम्बन्ध को उपमान प्रमाण का फल माना है। **प्राच्य तथा नव्य नैयायिकों के मत में उपमान प्रमाण को लेकर भिन्नता पायी जाती है।** प्राच्य नैयायिक आप्त पुरूष के वचन (अतिदेश वाक्य) को ही उपमिति का करण मानते है, जबकि नव्य नैयायिक अतिदेश्यावाक्यस्मृति सापेक्ष सादृश्य के इन्द्रियजन्य ज्ञान को उपमिति के करण के रूप में स्वीकार करते **हैं–"अतिदेशवाक्यार्थस्मरण सहकृत गो सादृश्यविशिष्टपिण्डज्ञानमुपमानम्।"**[4]

कुमारिल भट्ट ने उपर्युक्त दोनों प्रकार के नैयायिकों के उपमान विषयक सिद्धान्तों की आलोचना की है। प्राच्य नैयायिकों के उपमान प्रमाण को कुमारिल ने शब्द प्रमाण में ही अन्तर्भूत माना है, क्योंकि नैयायिक आप्त पुरूष के उपदेश को शब्द प्रमाण मानते है– **"आप्तोपदेशः शब्दः"** [5] तथा उपमान भी आरण्यक के "यथा गौर्गवस्यस्तथा" इस अतिदेश वाक्य के द्वारा होता है। अतः प्राचीन न्याय सम्मत उपमान को आगम प्रमाण से भिन्न नहीं माना जा सकता है। यही कारण है कि **शबरस्वामी** ने उपमान का पृथक् लक्षण प्रस्तुत किया है। अरण्यवासी पर विश्वास करने के कारण ही उस पुरूष को गवय का ज्ञान होता है, ठीक उसी प्रकार जैसे एक व्यक्ति के द्वारा दूसरे व्यक्ति से पूछने पर कि अमुक वस्तु कहाँ है? उस वस्तु का ज्ञान शब्द प्रमाण द्वारा प्राप्त होता है।[6]

नव्य नैयायिकों के अनुसार जिज्ञासु व्यक्ति "गाय के सदृश गवय होता है" इस अतिदेश वाक्य को अरण्य वासी से सुनकर अरण्य में जाता है तथा ऐसे पिण्ड का दर्शन करता है, जो गोसदृश है। उस अतिदेश वाक्य के स्मरण के साथ वह सादृश्य ज्ञान ही उपमान है। किंच, यह

सादृश्य ज्ञान इन्द्रियजन्य है, जो स्मरण के साथ अप्रसिद्ध पिण्ड (गवय) में प्रसिद्ध पिण्ड (गो) का सादृश्य उत्पन्न करता है। अतः अतिदेशवाक्य स्मृति सापेक्ष सादृश्य का इन्द्रियजन्य ज्ञान ही उपमान प्रमाण होता है तथा उपमान प्रमाण से जन्य "यह पिण्ड गवय शब्द का वाच्य है" इस प्रकार से सज्ञा–संज्ञि–सम्बन्ध का ज्ञान ही उसका फल है।

कुमारिल भट्ट ने उपर्युक्त नव्य नैयायिक मत का खण्डन किया है। उनके अनुसार न्याय का यह उपमान स्मृतिसहित सादृश्य का प्रत्यक्ष ज्ञान है जिसमें गवय का तो प्रत्यक्ष होता है तथा गवय में गो सादृश्य अतिदेशवाक्य द्वारा पूर्वकथित होने के कारण पूर्वानुभूत है, अतः वह स्मृति है। इस पर **नैयायिक** यह कह सकते है कि गवय तथा सादृश्य का ज्ञान यद्यपि प्रत्यक्ष तथा स्मृति से होता है, तथापि गोसादृश्यविशिष्ट गवय का ज्ञान न तो स्मृति से होता है और न प्रत्यक्ष से, बल्कि उपमान नामक पृथक प्रमाण से ही होता है। कुमारिल का कहना है कि यदि ऐसा है, तो इसे स्वीकार करने से पूर्व यह परीक्षा करनी चाहिए कि गोसादृश्य युक्त अर्थ का ज्ञान अतिदेश वाक्य से अधिक होता है या उतना ही होता है जितना अतिदेश वाक्य में कहा गया है। अर्थात् अतिदेश वाक्य अपेक्षा अग्रहीतग्रहिता है अथवा नहीं। यदि नहीं है, तो यह सादृश्य ज्ञान स्मृति ही है। अतः यह उपमान प्रमाण नहीं हो सकता है।

प्राभाकर भी नैयायिकों के उपमान प्रमाण के लक्षण से सहमत नहीं हैं। उनका कहना है कि नैयायिकों ने उपमान का जो लक्षण किया है,[7] उसे उपमान का निर्दुष्ट लक्षण नही कहा जा सकता[8], क्योंकि "गोसादृशो गवयः–"इत्याकारक जो प्रथम ज्ञान उत्पन्न होता है, वह तो केवल पुरूष वाक्य से जन्य होने के कारण शाब्द बोधात्मक है और वन में जाने पर गवय या गवयगत–गोसादृश्य का जो ज्ञान उत्पन्न होता है, वह प्रत्यभिज्ञा नामक प्रत्यक्ष है। गवय शब्द गवयगत वाच्यता का ज्ञान अनुमान प्रमाण है। वन में गवय को देखकर जो ज्ञान होता है– "एतत्सैव मया सा संज्ञा अवगता" वह ज्ञान भी स्मरणात्मक है। इस प्रकार नैयायिकों द्वारा प्रदत्त उपमान के लक्षण को निर्दुष्ट लक्षण नहीं कहा जा सकता है।

न्यायसम्मत उपमान के लक्षण को दोषपूर्ण बताने के वाद **विभिन्न मीमांसक आचार्यो** ने अपने–अपने ढंग से उपमान का लक्षण दिया है, जिसका विवेचन अधोवत् है।

मीमांस सूत्रकार महर्षि जैमिनि ने उपमान के विषय में कुछ भी नहीं कहा है, किन्तु **शबरस्वामी** ने मीमांसा सूत्रों के भाष्य में लिखा है **"उपमान सादृश्य है, जो उस वस्तु का ज्ञान कराता है जिसका इन्द्रिय के साथ सन्निकर्ष नहीं होता है।"**[9] उपमान की इस परिभाषा में शबर ने "उपमान' शब्द का साधन (करण) के रूप में प्रयोग किया हैं। शबर ने अन्य प्रमाणों के वर्णन स्थल पर प्रमा रूप फल को ही परिभाषित किया है, किन्तु उपमान का वर्णन करते समय उपमान प्रमाण अर्थात् साधन का लक्षण दिया है। शबर ने ज्ञान के साधन तथा प्रमारूप फल के लिए एक ही शब्द उपमान का प्रयोग किया है, जबकि न्याय सिद्धान्त में उपमान

तथा उपमिति शब्दो के द्वारा साधन तथा फल को पृथक्–पृथक् अभिहित किया गया है। शबर द्वारा दी गयी उपमान की परिभाषा उसके फल की व्याख्या नही कर पाती। अत. शबर ने उसे इस उदाहरण के द्वारा स्पष्ट करने का प्रयास किया है– जिस प्रकार गवय का प्रत्यक्ष गोस्मरण का कारण है **"यथा गवददर्शनं गोस्मरणस्य।"**[10]

यहाँ उल्लेखनीय है कि पूर्वोक्त लक्षण में तो शबर ने उपमिति का करण "सादृश्य" बताया था, किन्तु उदाहरण में "गवय–दर्शन— को करण रूप कहा है। यहाँ पर गवय–दर्शन से अक्षरशः "गवय का दर्शन" अभिप्रेत नहीं है, बल्कि "गवय–दर्शन" से "गोसादृश्यविशिष्टगवयदर्शन" अभिप्रेत है जिसे उपमिति का करण मानना चाहिए और करणरूप होने के कारण "गोसादृश्यविशिष्टगवयदर्शन" उपमान प्रमाण है। आचार्य शबर के शब्दों मे, इस उपमान प्रमाण का फल "गोस्मरण" है।

भाट्ट मीमांसक उपमान प्रमाण की प्रक्रिया के सन्दर्भ में **आचार्य शवरस्वामी** के मत से पूर्णतया सहमत नहीं हैं। इनके अनुसार उपमान प्रमाण का फल "गोस्मरण" नहीं है, बल्कि गवय के सादृश्य का ज्ञान ही फल है। उनका कहना है कि स्मरण किया जाने वाला अर्थ "गो" इन्द्रियासन्निकृष्ट है, ऐसा मानने पर तो उपमान तथा स्मरण में कोई भेद ही नहीं रह जायेगा। यही कारण है कि **कुमारिल भट्ट शाबर** मत का खण्डन करते हुए कहते हैं कि गो सादृश्यविशिष्टगवय का प्रत्यक्ष जिस गो विषयकस्मरण का ज्ञान उत्पन्ना करता है, उसी स्मरण को उपमान प्रमाण कहा गया है। किन्तु वह स्मरणात्मक होने के कारण प्रमाण नहीं हो सकता, क्योंकि यदि ऐसा स्वीकार कर लिया जाय, तो देवताओं के ध्यानात्मक स्मरण तथा इस गो–स्मरण में कोई भिन्नता नही रहेगी।

कुमारिल ने गवय सादृश्य से विशिष्ट स्मृत गो को अथवा पूर्वज्ञात अर्थ से विशिष्ट सादृश्य को उपमान का प्रमेय बताया है।[11] कोई व्यक्ति जिसने गाय को तो देखा है, किन्तु गवय को कभी नहीं देखा है, जब वह अरण्य में जाता है और गवय को देखता है, तब वह गवय के प्रत्यक्ष के द्वारा उसमे गो के समान चिहनें को पाता है। तत्पश्चात् उसे स्मरण होता है कि पूर्वदृष्ट गो इस गवय के समान है और वह इस प्रकार स्मृत गो में गवय के सादृश्य का ज्ञान प्राप्त करता है। गवय के सादृश्य से विशिष्ट स्मृत गो ही उपमान का विषय (प्रमेय) है। **कुमारिल** ने **"वा"** कहकर विकल्प के रूप में **"पूर्वज्ञात अर्थ से विशिष्ट सादृश्य"** को भी उपमान का प्रमेय माना है। "स्मृतगो गवय के सदृश्य है", यह ज्ञान ही उपमान प्रमाण का फल है।

पार्थसारथि मिश्र भी इस विषय में **कुमारिल** से साम्य रखते हैं। उन्होंने उमपान शब्द का प्रयोग "फल" बतलाने के लिये किया है और इस प्रकार उपमति के अर्थ में उपमान शब्द का प्रयोग करके उपमान की परिभाषा दी है। उनके अनुसार **"पूर्वदृष्टे स्मर्यमाणार्थे दृश्यमानार्थ सादृश्य ज्ञानमुपमानम्।"**[12] **नारायण भट्ट** ही वह प्रथम व्यक्ति हैं, जिन्होंने भाट्ट

मत के आधार पर रचित **"मानमेयोदय"** मे उपमान प्रमाण तथा उपमति को अलग-अलग स्पष्ट रूप से परिभाषित किया है। उनके अनुसार सादृश्य का ज्ञान जो गाय मे है, वह उपमिति है–

गवयस्थितसादृश्यदर्शनं करणं भवेत्।
फलं गोगत सादृश्य ज्ञानमित्यवगम्यताम् ।।[13]

प्रश्न उठता है कि उपमान तथा उपमिति दोनो ही सादृश्य ज्ञान है, तो दोनो मे अतर क्या है? इस प्रश्न का उत्तर है कि प्रथम सादृश्य ज्ञान का प्रत्यक्ष होता है, जिसे उपमान प्रमाण कहते है और द्वितीय सादृश्य ज्ञान उपमिति है जो प्रत्यक्ष द्वारा नही, बल्कि प्रत्यक्ष के बाद हुए सादृश्य ज्ञान (अय पिण्डो गो सदृशः) से उत्पन्न होता है। इस प्रकार **"अनेन सदृशी मदीया गौः"** उपमान प्रमाण का फल अर्थात् उपमिति है और इस उपमिति का कारण **"गोसादृश्य विशिष्ट गवय दर्शन"** है।

भाष्यकार शबर की शब्दावली के पर्यवसित अर्थ को ध्यान में रखते हुए **प्राभाकर मीमांसकों** ने उपमान प्रमाण की मीमांसा प्रस्तुत की है। **शालिक नाथ मिश्र** ने उपमान प्रमाण का लक्षण किया है– **"सादृश्य दर्शनोत्थं ज्ञानं सादृश्यविषयमुपमानम्।"**[14] अर्थात् सादृश्य दर्शन से सादृश्य विशिष्ट विषय का ज्ञान ही उपमान है। इस लक्षण में प्रयुक्त **"सादृश्य दर्शन"** का तात्पर्य "**गोसादृष्य विशिष्ट गवय का दर्शन"** है और **"सादृश्य विषय"** का तात्पर्य है **"गवयसादृश्यविशिष्ट गौ।"** सादृश्य दर्शन 'उपमान प्रमाण' है और सादृश्य विषय 'प्रमेय', जिसका ज्ञान उपमान प्रमाण का फल अर्थात् उपमिति है। **प्राभाकर मीमांसकों ने आचार्य शबर स्वामी के इस मत का खण्डन किया है कि गोसादृश्यविशिष्ट गवय का प्रत्यक्ष स्मृत गो का कारण है।** इनके अनुसार स्मृत गो उपमान प्रमाण का फल नहीं हो सकता है। गोसादृश्यविशिष्ट गवय दर्शन से केवल पूर्व ज्ञात गाय के सादृश्य का ज्ञान होता है। कुछ लोगो (प्रतिपक्षियो) का आक्षेप है कि प्राभाकर जब सादृश्य को प्रमेय नहीं मानते हैं, तो उपमान प्रमाण का प्रमेय अन्य कोई पदार्थ नही हो सकता है। प्राभाकर मीमासक इस आपत्ति का खण्डन करते हुऐ कहते है कि गोसादृश्यविशिष्ट गवय अर्थात् गाय में गवय का सादृश्य वह पदार्थ है, जिसका ज्ञान पहले प्रत्यक्षादि प्रमाणो से नहीं हुआ है, क्योकि जिस समय गाय का प्रत्यक्ष ज्ञान हुआ था, उस समय गवय का प्रत्यक्ष नहीं हुआ था, जिसके फलस्वरूप सादृश्यता का भी प्रत्यक्ष ज्ञान नही हुआ था । जिसका पहले प्रत्यक्ष ज्ञान नही हुआ है, वह कैसे स्मरण का विषय बन सकता है? इस प्रकार, गाय मे गवय के सादृश्य दर्शन से गवयगत सादृश्यविशिष्ट गाय का ज्ञान होता है, **जिसे उपमिति कहते हैं।**[15]

अद्वैत वेदान्त में भी उपमान को एक स्वतंत्र प्रमाण माना गया है। उपमिति को परिभाषित करते हुए **आनन्दपूर्ण** ने कहा है कि सन्निकृष्ट वस्तु से असन्निकृष्ट वस्तु की सादृश्य बुद्धि

उपमिति है"।[16] आनन्दपूर्ण ने उपमान की प्रक्रिया को परिभाषित करते हुए कहा है कि उपमान के द्वारा होने वाला ज्ञान इस प्रकार होगा–गवय सादृश्य विशिष्ट गो ज्ञान ही उपमिति है"[17]– उपमान को निरूपित करते हुए **वेदान्तपरिभाषाकार** ने लिखा है कि सादृश्य प्रमा के करण को उपमान कहते है–**सादृश्य प्रमाकरणमुपमानम्**"।[18] अर्थात् उस सादश्य प्रमा का करण उपमान है, जिससे सादृश्य मूलक उपमिति ज्ञान होता है। आनन्दपूर्ण एक उदाहरण के द्वारा उपमान की प्रक्रिया को स्पष्ट करते है– नगर में जिस पुरूष ने गो पिण्ड को देखा है, बाद मे वह जंगल मे गया और वहॉ पर गवयपिण्ड के साथ इन्द्रिय–सन्निकर्ष होने पर "यह पिण्ड गो के सदृश है",–ऐसा प्रतीति हुई। इसके बाद इसके जैसी मेरी गाय है–ऐसा निश्चय हुआ। यहाँ पर गवय में रहने वाला गो के सादृश्य का ज्ञान करण है एव "गो" मे रहने वाला गवय के सादृश्य का ज्ञान (उपमति रूप) फल है। "इसके जैसी मेरी गाय है", इस ज्ञान को उपमिति प्रमा कहा गया है। इसका उत्पादक प्रथम सादृश्य ज्ञान है, अतः "अय पशुः गो सदृशः" यह उपमान प्रमाण है। ऐसे द्वितीय उपमिति रूप ज्ञान का जनक प्रत्यक्ष प्रमाण को नहीं मान सकते, क्योंकि गो पिण्ड के साथ उस समय इन्द्रिय सन्निकर्ष नही है, फिर भी "अनेन सदृशी मदीया गौः" ऐसा निश्चित ज्ञान हो रहा है। अतः इसका उत्पादक प्रत्याक्षादि से भिन्न उपमान प्रमाण को ही मानना पडेगा। इन्द्रियसन्निकर्ष के विना उत्पन्न होने वाला ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं कहा जा सकता। अतः उसका करण भी प्रत्यक्ष प्रमाण से भिन्न सादृश्य ज्ञान रूप उपमान प्रमाण माना गया है।

यद्यपि सादृश्य से सादृश्य ज्ञान अनुव्यवसाय भी उत्पन्न होता है और उपमिति ज्ञान भी उत्पन्न होता है, फिर भी उपमति ज्ञान में सादृश्य ज्ञान करण होने से कारण है और अनुव्यवसाय का सादृश्य ज्ञान व्यवसाय होने से कारण है। अतः उपमिति के लक्षण की सादृश्य ज्ञान के अनुव्यवसाय आदि में अतिव्याप्ति नहीं है। उपमिति का करण सादृश्य ज्ञान है। उसमें "करण" का लक्षण "असाधारण कारणत्व" ही माना गया है "व्यापरवत् असाधारण कारण" नहीं माना गया है, क्योकि गवयनिष्ठ "गो" के सादृश्य ज्ञान रूप उपमान को उपमिति उत्पन्न करने में व्यापार का अभाव है। अतः यह कहा गया है कि नगर मे जिसने गोपिण्ड को देखा, कभी जंगल में जाने पर उसे गवय पिण्ड दिखाई दिया। गवय पिण्ड के साथ इन्द्रिय सन्निकर्ष होते ही "यह पिण्ड गो सदृश है" ऐसा ज्ञान हुआ। तदनन्तर ही "इसके समान मेरी गाय हैं" ऐसा निश्चय हो गया । उपमान और उपमिति के बीच में किसी व्यापार का उल्लेख नहीं किया गया है। तात्पर्य यह है कि गवय पिण्ड में गो का सादृश्य ज्ञान होने पर इसके समान ही मेरी गो है ऐसी उपमिति नहीं होती। अतः अन्वयव्यतिरेक आधार पर गवयनिष्ठ गो सादृश्य ज्ञान को ही करण मानना चाहिए।

वास्तव में, यह पिण्ड गो सदृश है– ऐसा गवय में गो सादृश्य का ज्ञान होते ही सादृश्य–ज्ञान से पहले देखी हुई गाय का संस्कार उत्पन्न हो जाता है। अतः अनुमान में जैसे व्याप्ति जन्य

संस्कार व्यापार जान पडता था, वैसे ही यहाँ भी सादृश्य ज्ञान जनित उत्पन्न सस्कार को व्यापार समझना चाहिए। **अद्वैत वेदान्त का उमान सम्बन्धी मत कुमारिल भट्ट जैसा** है। कुमारिल के अनुसार– उपमिति (उपमान का फल) के लिए दो विकल्प बताये जा सकते है––

1 सादृश्य और

2 सादृश्य विशिष्ट पिण्ड।[19]

आनन्दपूर्ण ने उपर्युक्त दोनो ही विकल्पों को स्वीकार कर लिया है, जबकि **धर्मराजाध्वरीन्द्र** केवल सादृश्य ज्ञान को ही उपमिति स्वीकार करते हैं। उपमान की इस मानोवैज्ञानिक प्रक्रिया के **चार स्तर** है– 1. **सबसे पहले** गवय में सादृश्य के अवयवों का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। **दूसरे स्तर पर** सादृश्य के द्वारा गाँव में पहले देखी गई गाय का स्मरण होता है। **तीसरे स्तर पर** प्रत्यक्ष गवय गाय के जैसी है ऐसा ज्ञान उत्पन्न होता है। और **अन्त में**, निष्कर्ष रूप से यह ज्ञात होता है कि पहले देखी गयी गाय वर्तमान मे देखी जा रही गवय के सदृश्य है। दूसरे शब्दो मे पूर्वदृष्ट गाय प्रत्यक्ष गवय के सादृश्य से विशिष्ट है।[20]

उपमान का प्रामाण्य

चार्वाक, जैन, बौद्ध, साख्य–योग एवं वैशेषिक दर्शनो में उपमान को स्वतन्त्र प्रमाण नही माना गया है। **चार्वाक** उपमान प्रमाण का अन्तर्भाव अनुमान प्रमाण में करते हैं। उनके अनुसार उपमान अनुमान का ही एक रूप है और अनुमान का प्रमाणत्व किसी भी प्रकार से सिद्ध नही किया जा सकता, क्योंकि अनुमान का आधार व्याप्ति है जिसकी स्थापना किसी भी प्रकार से नहीं की जा सकती है। इसलिए अनुमान पर आधारित उपमान को प्रमाण नहीं माना जा सकता है।

जैन आचार्य अकलंकदेव, प्रभाचन्द्र वेदराजसूरि और **यशोविजय** आदि ने **उपमान को प्रत्याभिज्ञा में अन्तर्भूत** किया है। सभी उत्तरवर्ती जैनाचार्यो ने इन्हीं का अनुगमन किया है।[21] विशिष्टाद्वैत के समर्थक **मेघनाद सूरी** ने भी उपमान को प्रत्याभिज्ञा में अन्तर्भावित किया है। **जैन** दार्शनिको के अनुसार उपमान का जो उद्देश्य नैयायिकों ने बताया है, वह प्रत्यभिज्ञा के द्वारा पूरा हो सकता है। इस प्रक्रिया मे ज्ञान के एक से ज्यादा साधनों का तत्त्व विद्यमान है। प्रत्याभिज्ञा का उदाहरण है–"यह वही बर्तन है", यह ज्ञान बर्तन के पूर्व ज्ञान पर आधारित है। इसी प्रकार उपमान में भी जो वस्तु जानी जा रही है, वह पहले से ही जंगल के व्यक्ति द्वारा बताये जाने पर पहले से ही ज्ञात है, इसलिए उपमान में कोई भी तत्त्व ऐसा नहीं है जो उपमान को प्रत्याभिज्ञा से पृथक् कर सके।[22] विशिष्टाद्वैत के अनुयायी **मेघनाद सूरि** ने उदयन के विचार को बताते हुए कहा है कि उनके द्वारा बताया गया उपमान प्रत्याभिज्ञा है, या फिर हमें इस प्रकार के ज्ञान के लिए कि **"यह वही देवदत्त है"** एक अतिरिक्त प्रमाण की आवश्यकता होगी।[23]

किन्तु, **नैयायिक** उपर्युक्त आपत्तियो का खण्डन करते हुए कहते है कि उपरोक्त मत को स्वीकार नही किया जा सकता। सबसे पहले जैन आचार्यो की यह पूर्व मान्यता अस्वीकार्य है कि संज्ञा–सज्ञी सम्बन्ध आप्तवाक्य (विश्वसनीय व्यक्ति के कथन) से ही जाना जा सकता है। यह कहना भी असत्य है कि सज्ञा–सज्ञी सम्बन्ध बाद मे देखा जाता है। दूसरे, प्रत्याभिज्ञा मे सज्ञा–सज्ञी सम्बन्ध नही हो सकता, क्योकि सज्ञा–संज्ञी सम्बन्ध इन्द्रियो से परे है। यह भी तर्क नही किया जा सकता कि नैयायिको को इस प्रकार की स्थिति के लिए कि "यह वही देवदत्त है", कोई और प्रमाण स्वीकार करना पडेगा, क्योकि नैयायिको ने इन प्रकार के उदाहरणो को प्रत्यक्ष मे जोड दिया है।

नैयायिको के अनुसार उपमान को प्रत्यभिज्ञा मे अन्तर्भावित करना गलत होगा, क्योकि इसमे ज्ञान के दो साधनो (प्रमाणो) के तत्त्व है, फिर भी इसकी स्वतंन्त्र सत्ता को अस्वीकार नही किया जा सकता क्योकि इसमें प्रत्यक्ष और शब्द प्रमाण के तत्त्व होते हुए भी इसके फल (उपमिति) की पूरी व्याख्या सिर्फ इन दोनो प्रमाणो से नहीं हो सकती।[24] इसलिए उपमान को प्रत्याभिज्ञा में अन्तर्भावित करना सभव नही है।

बौद्ध और **सांख्य दर्शन** में उपमान का अन्तर्भाव प्रत्यक्ष मे किया गया है। इसलिए इन दर्शनो में उपमान को पृथक् प्रमाण नहीं माना गया है। इनके अनुसार उपमान का फल सादृश्य–प्रतीति है और यह सादृश्य प्रतीति प्रत्यक्ष प्रमाण से भी हो सकती है। बौद्ध दार्शनिको का कहना है कि नागरिक को ज्ञान होता है कि दृश्यमान पशु गोसदृश है। यह ज्ञान सादृश्य–विशिष्ट वस्तु का ज्ञान है। यह साक्षात् ज्ञान है कि नील गाय के साथ चक्षु का सन्निकर्ष होता है, तभी हमें प्रत्यक्ष होता है कि नील गाय गोसदृश है।

किन्तु **न्याय दर्शन** में उपमान का प्रत्यक्ष मे अन्तर्भाव मान्य नहीं है। नैयायिकों का कहना है कि सादृश्य का ज्ञान दो वस्तुओं में होता है। यहॉ सादृश्य केवल एक वस्तु मे ही दिखाई पडता है। प्रत्यक्ष तो केवल गवय का हो रहा है, गाय का नहीं। अतः सादृश्य प्रतीति प्रत्यक्ष का विषय नहीं है। पुनः, न्याय का कहना है कि उपमान में गवय का प्रत्यक्ष तो हो रहा है, परन्तु यह प्रत्यक्ष अतिदेश वाक्य के स्मरण पर आधारित है और अतिदेश वाक्य का ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं है। इसलिए उपमान का अन्तर्भाव प्रत्यक्ष में संभव नहीं है।

मीमांसा और **अद्वैत** वेदान्त दर्शन में भी उपमान का अन्तर्भाव प्रत्यक्ष में किये जाने का विरोध किया गया है। **वेदान्तपरिभाषाकार धर्मराजाध्वरीन्द्र** का कहना है कि सांख्य के कथनानुसार यद्यपि सादृश्य सर्वत्र एक सा ही है, तथापि उसके धर्मी और प्रतियोगी सर्वत्र भिन्न–भिन्न होते है। इसलिए तत्तद् विशेष–व्यक्ति में रहने वाला सादृश्य भिन्न होता है, यह मानना ही पडेगा। **इसीलिए गवय का प्रत्यक्ष होने कारण उसके साथ चक्षु का सन्निकर्ष होता है,** अतः 'तद्गत–सादृश्य प्रत्यक्ष' भासित होता है। परन्तु गोव्यक्ति वहाँ पर उस समय समीप नहीं होने से उसके साथ

इन्द्रिय सन्निकर्ष नही रहता। इसलिए गोनिष्ठ सादृश्य, प्रत्यक्ष का विषय नही हो सकता है। इसलिए "सादृश्य का प्रत्यक्ष मे अन्तर्भाव होता है", **यह सांख्य मत** युक्ति तथा अनुभव के विरूद्ध होने से सर्वथा उपेक्षणीय है।[25]

यहाँ **वैशेषिक दार्शनिकों** की ओर से यह कहा जा सकता है कि प्रत्यक्ष मे उपमान का अन्तर्भाव न होने पर भी अनुमान मे उसका अन्तर्भाव हो सकता है। वैशेषिक उपमान का अनुमान मे अन्तर्भाव करने के लिए निम्नलिखित अनुमान का प्रयोग करके सञ्ज्ञा–सञ्ज्ञी सम्बन्ध की स्थापना करते है––

"गो सदृश प्राणी को गवय कहते हैं" अथवा गवयत्व विशिष्ट धर्मी गवय पद वाच्य है, गो सदृश होने से, अथवा गवय शब्द गवयत्वविशिष्ट व्यक्ति का वाचक है। लक्षणा आदि अन्य व्यापार के न होते हुए भी नील गाय के लिए इस शब्द का प्रयोग होने से, अन्य व्यापारो के अभाव में जो शब्द विद्वानो द्वारा जिस अर्थ मे प्रयुक्त होता है, वह उस अर्थ का वाचक होता है, गौ पिण्ड के वाचक गौ के समान। इस प्रकार, वैशेषिक मतानुसार अनुमान प्रमाण से ही सञ्ज्ञा–संज्ञी सम्बन्ध की प्रतीति हो सकती है। उसके लिए पृथक् प्रमाण की आवश्यकता नही है।

किन्तु **न्याय, मीमांसा एवं अद्वैत वेदान्त** के अनुसार अनुमान में भी उपमान का अन्तर्भाव नहीं किया जा सकता। न्यायाचार्यो का कहना है कि अनुमान के लिए व्याप्ति की आवश्यकता होती है, जबकि उपमान मे व्याप्ति संभव ही नहीं है। साध्य और हेतु अर्थात् ज्ञातव्य और ज्ञात के साहचर्य का दर्शन तो प्रमाता को पहले कभी हुआ ही नहीं, जिससे कि व्याप्ति सम्बन्ध की स्थापना की जा सके। उदाहारणार्थ, गवय ज्ञातव्य है या साध्य, तथा गौ का साधर्म्य ज्ञात हेतु है, इसमे जहाँ–जहाँ गौ सादृश्य है, वहाँ–वहाँ नीलगाय है, इस प्रकार के नियत साहचर्य का ज्ञान यदि कही सपक्ष दृष्टान्त मे प्रमाता को हुआ हो, तो प्रत्यक्ष प्रतीयमान पशु में गो–सादृश्यरूप हेतु को देखकर "यह नीलगाय है" इस प्रकार की अनुमिति प्राप्त हो सकती है। परन्तु उसे उक्त व्याप्ति का निश्चय कही और कभी भी हुआ ही नही। ऐसी स्थिति मे अनुमति कैसे हो सकती है? अतएव "गवय" गवयपदवाच्य **गौ–सदृश होने से यह अनुमान असिद्ध है।**

इसके उत्तर वैशेषिक यह कह सकते हैं कि हम अनुमान का प्रयोग उपर्युक्त प्रकार से न करके निम्न लिखित प्रकार से करते है––

1. मेरी गाय इस गवय जैसी है,
2 क्योकि उसमे एतद्गवयनिष्ठ सादृश्य का प्रतियोगित्व है।
3. जो पदार्थ, जिस पदार्थगत सादृश्य का प्रतियोगी होता है, वह पदार्थ उस पदार्थ के सदृश रहता है। जैसे, चैत्र मैत्र मे रहने वाले अपने सादृश्य का प्रतियोगी (आधेय) है, इसलिए वह मैत्र सदृश है। अर्थात् मैत्र व्यक्ति यदि चैत्र व्यक्ति जैसा है, तो चैत्र भी मैत्र जैसा अवश्य होगा। ऐसा अनुमान करने पर कोई दोष नहीं आने पाता। इसलिए अनुमान से ही उपमान चरितार्थ हो जाता है।

किन्तु, वैशेषिकों का यह मत उचित नहीं है, क्योकि इस अनुम्मान में किसी प्रकार का दोष न होने पर भी प्रत्येक सादृश्य प्रमा के समय ऐसा अनुमान किया ही जाय, यह कोई नियम नही है। बिना अनुमान के भी **"अनने सदृशी मदीया गौः"** ऐसी अबाधित प्रतीति होती है[26]। इसलिए जहॉ पर साध्य (वह्नि आदि) प्रत्यक्ष है, वहॉ पर भी हम पर्वतो वह्निमान धूमात् अनुमान करते हैं, परन्तु उतने से ही प्रत्यक्ष प्रमाण की व्यर्थता जैसे सिद्ध नहीं होती (अनुमान से प्रत्यक्ष अगतार्थ है), वैसे ही अनुमान से यद्यपि उक्त सादृश्य ज्ञान सिद्ध होने पर भी उपमिति प्रमा का पृथक् अनुभव होने से उपमान–प्रमाण, अनुमान से चरितार्थ नही हो सकता।[27] इसके अतिरिक्त इस सादृश्य ज्ञान के अनन्तर **"अहम् अनुमिनोमि"** अर्थात् मै गवय–सादृश्य का अनुमान करता हूँ–यह अनुव्यवसाय नही होता। किन्तु **"उपमिनोमिं"** अर्थात् मैं उपमान से जानता हूँ–यह अनुव्यवसाय होता है। इससे भी "गोनिष्ठ सादृश्यज्ञान" अनुमित्यात्मक न होकर उपमित्यात्मक है, यह सिद्ध होता है । अतः उपमान एक स्वतन्त्र व पृथक प्रमाण है, यह अवश्य स्वीकार करना चाहिए।[28]

कुछ विद्वान उपमान का अन्तर्भाव शब्द प्रमाण में करते हैं। इनमें नैयायिक **भासर्वज्ञ** का नाम प्रमुख है[29]। किन्तु अन्य नैयायिकों ने उपमान प्रमाण का शब्द प्रमाण मे अन्तर्भाव किये जाने का खण्डन किया है। इनके अनुसार उपमान का अन्तर्भाव शब्द प्रमाण में नही किया जा सकता, क्योकि शब्द प्रमाण मे विषय के प्रत्यक्ष की आवश्यकता नही पडती, जबकि उपमिति के लिए गवय नाम पिण्ड का प्रत्यक्ष दर्शन आवश्यक है। इसके साथ ही गाय के धर्मो तथा अतिदेश वाक्य का स्मरण और गाय तथा गवय के धर्मो मे समानता का ज्ञान भी अपेक्षित होता है। **जयन्त भट्ट** ने यह स्पष्ट किया है कि सामग्री भेद और फलभेद से प्रमाण भेद होता है और उपमान तथा शब्द प्रमाण की सामग्री ओर फल अलग–अलग है–

"सामग्री भेदात् फलभेदाच्च प्रमाण प्रमाणभेदः।
अन्ये एव च सामग्रीफले शब्दोपमानयोः ।।"[30]

इससे स्पष्ट होता है कि उपमान का अन्तर्भाव प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द या प्रत्यभिज्ञा आदि में नहीं किया जा सकता। इसीलिए **नैयायिकों**, **मीमांसकों** एवं **अद्वैत वेदान्तियो** ने उपमान को एक स्वतंन्त्र प्रमाण के रूप में मान्यता प्रदान की है।

उपमान की प्रक्रिया

उपमानवादी विभिन्न दर्शनों में उपमान की प्रक्रिया के बारे में मतभेद है। **न्याय दर्शन** के अनुसार उपमान की प्रक्रिया इस प्रकार बताई जा सकती है कि किसी मनुष्य ने यह जानना चाहा कि "गवय" शब्द का क्या अर्थ होता है? या नीलगाय क्या होती है? संयोगवशात् उसने किसी आरण्यक से सुना कि गवय गौ के समान होती है (गो सदृशो गवयः)। तदनन्तर जब

कभी वह पुरूष वन मे गया और उस वाक्यार्थ को स्मरण करते हुए उसने एक ऐसे पशु को देखा जो कि गौ के सदृश था, तब उसे यह निश्चय हो गया कि यही नीलगाय (गवय) है। इस प्रक्रिया मे गो सादृश्यविशिष्टपिण्डदर्शन रूप जो करण है, वह **"उपमान"** प्रमाण और "गाय के समान नीलगाय होती है", इस अतिदेश वाक्यार्थ का स्मरण **अवान्तर व्यापार** कहलाता है।

यहॉ गोसादृश्यविशिष्टपिण्ड संज्ञी और "गवय" यह उसकी संज्ञा है। इसी संज्ञा–सज्ञि के सम्बन्ध ज्ञान (गवये गवय पदवाच्य.) को **उपमिति प्रमा** कहा जाता है। यह उपमिति केवल सादृश्य के आधार पर नही, बल्कि वैधर्म्य के आधार पर भी होती है। उदाहरणार्थ, "जलादि से विरूद्ध धर्मवाली पृथ्वी," यह ज्ञान होने पर गन्धरहित पाषाण को भी देखकर उसे जल, तेज आदि के द्रव्यो के धर्मों से रहित देखकर "यह पृथ्वी है", यह ज्ञान उस पुरूष को प्राप्त हो जाता है। साधर्म्य और वैधर्म्य के अतिरिक्त असाधारण धर्म के द्वारा भी उपमिति उत्पन्न हो जाती है। जैसे– "पॉच अंगुलियो से युक्त, चार पैर और लम्बी नासिका से युक्त मुखवाला काले लम्बे बालो से युक्त शरीर वाला मासाहारी वन्य पशु भालू कहा जाता है।" इस ज्ञान के रहने पर कभी वन मे उपर्युक्त सभी गुणों से युक्त पशु को देखकर उसे "यहाँ भालू है" यह ज्ञान हो जाता है। इसी कारण **उत्तरवर्ती नैयायिकों** ने नाम और नाम वाले के सम्वन्ध–ज्ञान को उपमिति बताकर उसके करण के **तीन भेद** माने है––

1 सादृश्य विशिष्ट पिण्ड दर्शन,

2 वैधर्म्य विशिष्ट पिण्ड दर्शन और

3 असाधारण धर्म विशिष्ट पिण्ड दर्शन ।

सादृश्य विशिष्ट पिण्ड दर्शन को साधर्म्य उपमान, वैधर्म्य विशिष्ट पिण्ड दर्शन को वैधर्म्य उपमान तथा असाधारण धर्म विशिष्ट पिण्ड दर्शन को आसाधरण उपमान के नाम से जाना जाता है। इन तीना का विवेचन इस प्रकार है––

जब किसी प्रसिद्ध वस्तु की साधर्म्य या समानता के आधार पर किसी अज्ञात् वस्तु की उपमा देकर उसका ज्ञान प्राप्त किया जाय, तो उसे **साधर्म्य उपमान** या **सादृश्यविशिष्टपिण्ड ज्ञान** कहते हैं। जैसे, गाय के समान दिखाई देने वाले जानवर गवय होते हैं।

जब किसी पूर्व ज्ञात वस्तु की असमानता (असादृश्य) या विधर्मता के आधार पर किसी वस्तु की वस्तुवाचकता का ज्ञान प्राप्त हो, तो उसे **वैधर्म्य उपमान** या **वैधर्म्यविशिष्टपिण्डज्ञान** कहते है। जैसे, इस उत्सुकता पर कि ऊँट कैसा होता है? किसी आप्त पुरूष ने बताया कि ऊँट होता है घोडे के ही समान, परन्तु उसकी पीठ घोड़े जैसी समतल न होकर कूबड़युक्त होती है, गर्दन छोटी न होकर लम्बी होती है । यह सुनने के बाद कालान्तर में ऊँट देखकर घोडे से

विलक्षण धर्मो से विशिष्ट पिण्ड वाक्यार्थ के स्मरण से उसने समझ लिया कि यही ऊँट है। इस प्रकार के ज्ञान को वैधर्म्य उपमान ज्ञान या वैधर्म्यविशिष्ट पिण्डज्ञान कहते हैं।

जब किसी वस्तु की वस्तु–वाचकता का ज्ञान उस वस्तु की विचित्रता, विलक्षणता विशेषता आदि के आधार पर हो, तो उसे **असाधारण धर्म उपमान** या **असाधारण धर्मविशिष्टपिण्डज्ञान** कहते हैं। जैसे, किसी ने पूछा कि गैंडा कैसा होता है? इस पर किसी ज्ञाता ने बताया कि जिसकी नासिका पर सींग हो तथा हाथी के आकार का हो, वही गैडा है। यहाँ नासिका पर सींग होना असाधारण धर्म उपमान है, क्योंकि ऐसा गैड़ा को ही होता है, अन्य किसी पशु को नहीं । अतः यह असाधारण धर्मविशिष्टपिण्डज्ञान या आसाधरण उपमान है।

इस प्रकार, ऊपर की पक्तियों में हमने यह देखा कि संज्ञा–संज्ञि सम्बन्ध ज्ञान रूप उपमिति के प्रति सादृश्यादि धर्मविशिष्ट पिण्ड–ज्ञान करण होता है। किन्तु **आचार्य विश्वनाथ** का मत इससे भिन्न है। यहाँ पर उन्होंने सादृश्य ज्ञान के स्थान पर **"सादृश्य दर्शन"** को उपमिति का करण माना है। उनके अनुसार **"सादृश्यदर्शन"** उपमिति का करण है, **"अतिदेश वाक्यार्थ का स्मरण"** उसका अवान्तर व्यापार है और **"नील गाय पशु को नील गाय कहते हैं"**, यह ज्ञान उसका फल (उपमिति) है।[31] उनका कहना है कि–"पुरोदृश्यमान गौ, सदृशविशिष्ट पिण्ड ही नीलगाय है।" इस प्रकार के ज्ञान को उपमिति नहीं कहते हैं, अपितु "नीलगाय का वाचक नीलगाय पद है" इस प्रकार का ज्ञान उपमिति (फल) होता है। ऐसा मानने पर कालान्तर में अन्य नीलगाय को देखकर "यह नीलगाय है", इस प्रतीति को प्रत्यक्ष न मानकर सर्वत्र उपमिति ही माननी पड़ेगी। अतः सर्वत्र नीलगाय के दर्शन होने पर अतिदेश वाक्यार्थ स्मरण और सादृश्य ज्ञान आदि नहीं हुआ करता है। "नीलकाय का वाचक नीलगाय पद है", इस ज्ञान को ही उपमिति मानना अधिक उपयुक्त है। "यह नील गाय है"– इस ज्ञान को उपमिति (उपमान प्रमाण का फल) मानना ठीक नहीं है। उपमान की प्रक्रिया के सम्बन्ध में **मीमांसकों** और **अद्वैत वेदान्तियों** का दृष्टिकोण न्याय से कुछ भिन्न है। उन्होंने सादृश्य ज्ञान के करण को उपमान प्रमाण मानते हुए "गाय गवय के सदृश है"–इस ज्ञान को उपमिति कहा है।

इस प्रकार स्पष्ट होता है कि सादृश्य ज्ञान की करणता को न्याय के समान मीमांसा एवं वेदान्त में भी स्वीकार किया गया है, किन्तु फल के बारे में दोनों में मतभेद है। जहाँ **नैयायिक संज्ञा–संज्ञि सम्बन्ध ज्ञान को फल मानते हैं, वहाँ मीमांसक एवं वेदान्ती "गाय गवय के सदृश है" इस ज्ञान को फल मानते हैं।** यहाँ सादृश्य के बारे में **प्रभाकर** एवं **कुमारिल** के मातें के अन्तर का उल्लेख करना आवश्यक प्रतीत होता है। **दोनों में प्रमुख अंतर यह है कि कुमारिल सादृश्य को गुण मानते हैं, जबकि प्रभाकर उसको एक पृथक पदार्थ मानते हैं।**

मीमांसकों और अद्वैत वेदान्तियों के अनुसार उपमिति–प्रक्रिया इस प्रकार है कि वन मे गये हुए पुरूष को **अतिदेश वाक्यार्थ** स्मरण के बिना भी गो सदृश पशु–पिण्ड का दर्शन होता है। उसके पश्चात "इस पशु के समान ही मेरी गौ है" यह निश्चयात्मक ज्ञान उसे प्राप्त होता है। इन दोनों सादृश्य ज्ञानों में अन्वय–व्यतिरेक के आधार पर गवय में प्रतीत होने वाला गो सादृश्य ज्ञान (यह गवय गौ के समान है) गोनिष्ठ गवयसादृश्य ज्ञान (इसके समान मेरी गाय है) के प्रति करण है।

इस प्रकार हम देखते है कि जहॉ न्याय के अनुसार उपमान प्रमाण वस्तुबोधक न होकर शक्तिग्राहक है, गवय पद की एक विशिष्ट पशु में शक्ति ग्रहण कराना ही उसका प्रयोजन है, वहॉ मीमासक एव अद्वैत वेदान्ती सम्बन्ध–ज्ञान को नही, बल्कि सादृश्य ज्ञान को ही उपमान प्रमाण का फल अर्थात् उपमिति मानते हैं। उपमान प्रमाण और उपमितिरूप प्रमा दोनों ही, उनके अनुसार सादृश्य ज्ञान है। फल और करण के मध्य में व्यापार कल्पना को भी वे आवश्यक नहीं मानते। इस प्रकार दोनो दर्शनों मे सादृश्य–ज्ञान को उपमान प्रमाण मानने में मतैक्य होते हुए भी उसके फल और व्यापार कल्पना के सम्बन्ध में मतभेद दृष्टिगत होता है। **मीमांसक और अद्वैत वेदान्ती सादृश्य पदार्थ के ग्रहण के लिए उपमान प्रमाण स्वीकार करते हैं, जबकि नैयायिक शक्तिग्रहण के लिए।**

उपमिति का करण

उपमिति एव उपमान के स्वरूप तथा उपमान की प्रक्रिया के उपर्युक्त विवेचन से यह भी स्पष्ट होता है कि उपमिति के करण के बारे में भी उपमान समर्थक दर्शनों में मतभेद पाया जाता है। इतना ही नहीं, एक ही दर्शन के विभिन्न सम्प्रदायों में भी मतभेद देखने को मिलता है जिसका विवेचन अधोवत् रूप में किया जा रहा है—

न्याय दर्शन में उपमिति के करण एवं उनकी संख्या को लेकर प्राच्य एवं नव्य नैयायिकों में मतभेद है। **प्राच्य नैयायिक** गोसादृश्य विशिष्ट ज्ञान को उपमिति का करण मानते हैं एवं "संज्ञा–संज्ञि–सम्बन्ध–ज्ञान" को उसका फल तथा अतिदेश वाक्यार्थ का स्मरण उसका व्यापार मानते हैं, जबकि **नव्य नैयायिकों** ने साधर्म्य, वैधर्म्य एवं असाधारण धर्म के आधार पर **उपमिति के तीन कारण** माने है। ये हैं– **1. सादृश्यविशिष्ट पिण्ड दर्शन, 2. वैधर्म्य विशिष्ट पिण्डदर्शन एवं 3. असाधारण धर्म विशिष्ट पिण्ड दर्शन। आचार्य विश्वनाथ** के अनुसार सादृश्य ज्ञान के स्थान पर "सादृश्य दर्शन" उपमिति का करण है और नीलगाय का वाचक "नीलगाय" पद उसका फल है एवं "अतिदेश वाक्यार्थ स्मरण" अवान्तर व्यापार है।

मीमांसाकों में उपमिति के करणत्व को लेकर मतभेद है। **आचार्य शबर स्वामी** ने उपमान प्रमाण के लक्षण में उपमान और उपमिति का स्पष्ट उल्लेख नहीं किया है, परन्तु उदाहरण

के माध्यम से उन्होंने उपमिति एवं उसके करणत्व का स्पष्ट रूप से प्रतिपादन करने का थोडा प्रयास अवश्य किया है। उनके अनुसार गोसादृश्यविशिष्ट गवय का दर्शन उपमान प्रमाण अर्थात उपमिति का करण है और "गो स्मरण" उसका फल अर्थात उपमिति है। परन्तु **भाट्ट एवं प्राभाकर मीमांसक** आचार्य शबर के उपर्युक्त मत से पूर्णतया सहमत नहीं हैं। इनके अनुसार "गोसादृश्य विशिष्ट गवय दर्शन" उपमिति का करण है और "गवयसादृश्यज्ञान" अर्थात "अनेने सदृशी मदीया गौः" उसका फल है। अद्वैत वेदान्त का मत इस सन्दर्भ में कुमारिल भट्ट जैसा है।

सादृश्यानुमान एवं उपमान

अब तक के विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि उपमान प्रमाण द्वारा सादृश्य का ज्ञान होता है। **न्याय, मीमांसा** एवं **अद्वैत वेदान्त** सभी में यह माना गया है कि **उपमान सादृश्य ज्ञान का करण** है। लेकिन यहाँ प्रश्न यह उठता है कि सादृश्य क्या है? सादृश्यानुमान तथा उपमान में कोई अंतर है या नही? **न्याय मत** में सादृश्य द्रव्यादि से भिन्न कुछ नहीं है। **कुमारिल भट्ट** ने सादृश्य को गुण माना है, जबकि **प्रभाकर** इसे स्वतंत्र पदार्थ के रूप में स्वीकार करते हैं। जो भी हो, इतना तो निश्चित है कि उपमान में सादृश्य पाया जाता है। सादृश्यानुमान में भी सादृश्य पाया जाता है। इसलिये कुछ लोग दोनों को एक मान लेते हैं। किन्तु ऐसा नहीं है। अगली पंक्तियों में इन दोनों का तुलनात्मक अध्ययन किया गया है—

सादृश्यानुमान	उपमान
1. सादृश्यानुमान मे समानता के आधार पर नयी समानता का अनुमान किया जाता है।	1. उपमान में समानता के आधार पर अज्ञात वस्तु की वस्तु वाचकता का ज्ञान प्राप्त किया जाता है।
2. सादृश्यानुमान उपसंहार से सिद्ध नहीं होता।	2. उपसंहार से उपमान सिद्ध होता है।
3. इसका आधार सादृश्य या समानता मात्र है।	3. इसमें वस्तु वाचकता के लिये समानताओं के अतिरिक्त विषमता एवं विलक्षणता का भी महत्व है।
4. इसमें वस्तु के किसी भाग या गुण का ही विशेष ज्ञान प्राप्त होता है।	4. इसमें वस्तु के सम्पूर्ण रूप का ज्ञान प्राप्त होता है ।
5. इसमें संभाव्यता का बोध होता है।	5. इसमें उपस्थिति होने से पूर्ण ज्ञान होता है।

इस प्रकार उपर्युक्त तुलनात्मक अध्ययन से स्पष्ट है कि लक्ष्य, अर्थ और क्षेत्र तीनो ही में सादृशनुमान एवं उपमान में अन्तर होने के कारण दोनों को एक मानना भ्रमपूर्ण है।

न्याय, मीमांसा एव अद्वैत वेदान्त में उपमान के विशिष्ट **प्रयोजन** प्रतिपादित किये गये है। **नैयायिकों** का कथन है कि किसी आरण्यक से यह सुनकर कि "गवय गोसादृश्य होता है", जब नागरिक आरण्य मे जाता है, तो गवय के साथ उसका इन्द्रिय सन्निकर्ष होने पर यह पता चलता है कि यह गोसादृश्य है, ऐसा स्मरण होता है और इसके पश्चात जो ज्ञान होता है कि यह गवय पशु "गवय" शब्द का वाच्यार्थ है, यही उपमिति ज्ञान कहा जाता है। अतः नैययिकों के मत में उपमान वस्तु बोधक न होकर शक्तिग्राहक है। "गवय" पद की एक विशिष्ट पशु में शक्ति है, इस प्रकार का ज्ञान कराना ही उपमान का प्रयोजन है।

परन्तु **मीमांसकों ख अद्वैत वेदान्तियों** के मत में उपमान का यह प्रयोजन नहीं है। **इनके मत में इस गवय जैसी ही मेरी गौ है, यह ज्ञान ही उपमान का फल या उपमिति है।** अनुभव से भी ऐसा प्रतीत होता है कि इस पशु जैसी मेरी गाय है। अतः "गोसदृशोगवयः" इस अतिदेश वाक्य के स्मृतरूप व्यापार की कल्पना अनुभव के विरूद्ध है। लेकिन **नैयायिक** इस प्रकार के उपमिति ज्ञान को नही मानते कि "यही व्यक्ति गवय पद का वाच्य है" बल्कि ये बताते हैं कि "गवय गवय पद का वाच्य है", इस प्रकार के ज्ञान को उपमान का फल कहा जाता है। परन्तु यदि गो, गवय, गव आदि सभी सामने उपस्थित हों, तो प्रश्न उठता है कि वहाँ इनमें से गवय पद का वाच्य कौन सा है? इस विषय में यदि यह कहा जाय कि गवय, गवय पद का वाच्य है, तो यह ठीक नहीं होगा। इसलिए **वेदान्तियों** ने कहा है कि यही कहना पडेगा कि "यह व्यक्ति गवय पद का वाच्य है" और ऐसा मानने पर उपमान को शक्तिग्राहक नहीं कहा जा सकता, क्योकि उपमान एक ही गवय की शक्ति को दिखा सकेगा अन्य गवय की शक्ति को नहीं। इसलिए वेदोन्तियों के अनुसार अनुभव के अनुरूप ही उपमिति को स्वीकार करना चाहिए। अद्वैत वेदान्तियों का यह मत अधिक तर्कसगत प्रतीत होता है।

इस प्रकार हम देखते है कि उपमान प्रमाण के बारे में अनेक विवाद देखने को मिलते हैं जिनका विवेचन करने का एक प्रयास इस अध्याय में किया गया है। इनमें से सर्वप्रथम विवाद उपमान के **प्रामाण्य** को लेकर है। जहॉ **न्याय मीमांसा**, एवं अद्वैत वेदान्त दर्शन उपमान को एक पृथक् प्रमाण की मान्यता देते हैं, वहाँ **बौद्ध, जैन, वैशेषिक एवं सांख्य–योग** इसे स्वतंत्रता प्रमाण के रूप में नही मानते। **चार्वाक** प्रत्यक्ष के अतिरिक्त अन्य किसी प्रमाण को नहीं मानते, इसलिए उपमान के बारे में वे विचार ही नहीं करते। बौद्ध आचार्य दिङ्नाग उपमान को प्रत्यक्ष से भिन्न नहीं मानते हैं। **जैन** उपमान का आन्तर्भाव प्रत्याभिज्ञा में करते हैं। **वैशेषिक** उपमान को अनुमान के अर्न्तगत ही समाविष्ट मानते हैं। **नैयायिक भासर्वज्ञ** इसे शब्द से भिन्न नहीं मानते

है तथा **सांख्य** के मतानुसार उपमान शब्द पूर्वक प्रत्यक्ष के अतिरिक्त और कुछ नही है। किन्तु नैयायिक, मीमांसक और अद्वैत वेदान्ती अपने–अपने ढंग और अपने –अपने तर्कों से उपमान के प्रामाण्य का प्रतिपादन करते हैं और यह सिद्ध करते हैं कि उपमान का अन्तर्भाव प्रत्यक्ष, अनुमान या शब्द में नही हो सकता है, क्योंकि उपमान एक एक स्वतंन्त्र प्रमाण है । उपमानवादी इन दर्शनों का समर्थन करते हुए कहा जा सकता है कि निर्विवाद रूप से उपमान को एक प्रमाण माना चाहिए, क्योंकि इस प्रमाण से जो ज्ञान प्राप्त होता है, उसे प्रत्यक्ष, अनुमान या शब्द प्रमाण से प्राप्त नहीं किया जा सकता। इसका सम्यक् विवेचन इस अध्याय के प्रारम्भ में किया गया है। **"न्यायसिद्धान्तमुक्तावली"** में बड़े ही तर्कपूर्ण ढंग से उपमान का प्रामाण्य प्रतिपादित किया गया है। वस्तुतः उपमान को एक स्वतन्त्र प्रमाण मानना उचित ही है।

साधारणतः उपमिति के करण को उपमान कहते है। उपमान शब्द का व्युत्पत्तिमूलक अर्थ है– सादृश्य का ज्ञान जिस साधन से हो उसे उपमान प्रमाण कहते है। उपमान प्रमाण के स्वरूप के बारे में इस सामान्य सहमति के बाद इसके समर्थक दर्शनों में उपमिति प्रमा, प्रक्रिया व इसके करण, के बारे में मतभेत है। यह मतभेद विशेषरूप से न्याय व अन्य उपमानवादी दर्शनों के बीच दिखाई देता है।

न्याय दर्शन के अनुसार सादृश्य ज्ञान कराने वाला प्रमाण उपमान है तथा संज्ञा–सज्ञि सम्बन्ध उपमान प्रमाण का क्षेत्र है। न्याय दार्शनिकों के अनुसार संज्ञा–संज्ञि या नाम–नामी की प्रतीति उपमिति है। गोसदृश पशु विशेष गवय शब्द का वाच्य है– इस प्रकार की प्रतीति उपमिति है। **मीमांसाक** व **वेदान्ती** सादृश्य ज्ञान के कारण को तो उपमान मानते हैं, लेकिन उपमिति को वे अन्य रूप मे परिभाषित करते हैं। उनके अनुसार "गवय गाय के सदृश है" यह ज्ञान उपमिति नही है, बल्कि "गाय गवय के सदृश है" यह ज्ञान उपमिति है।

इससे स्पष्ट होता है कि सादृश्य ज्ञान की करणता को न्याय के समान मीमांसा व अद्वैत वेदान्त में भी माना गया है, लेकिन जहाँ नैयायिक संज्ञा–संज्ञि सम्बन्ध ज्ञान को उपमिति या फल मानते है, वहाँ मीमांसा व अद्वैत वेदान्त के मतानुसार "गाय गवय के सदृश है" यह ज्ञान फल है या उपमिति है। मीमांसकों के अनुसार जैसा गौ तथा गवय (यथा गौस्तथागवय) इस अतिदेश वाक्य को सुनने के बाद कोई व्यक्ति वन में जाकर जब गो के समान पिण्ड को देखता है तो उसे ज्ञान होता है कि मेरी गाय इस पशु (गवय) के सदृश है– यही उपमिति (उपमान का फल) है।

प्राच्य तथा नव्य नैयायिकों के मतों में उपमान प्रमाण को लेकर भिन्नता पायी जाती है। **प्राच्य नैयायिक** आप्त पुरूष के वचन (अतिदेश वाक्य) को ही उपमिति का करण मानते हैं, जबकि **नव्य नैयायिक** अतिदेशवाक्य स्मृतिसापेक्ष सादृश्य के इन्द्रिय जन्य ज्ञान को ही उपमिति के करण के रूप में स्वीकार करते है। किन्तु मीमांसको ने न्याय दर्शन के दोनों सम्प्रदायों के

उपर्युक्त मतों का खण्डन किया है। **मीमांसक कुमारिल** का कहना है कि प्राच्य नैयायिको का उपमान प्रमाण शब्द प्रमाण में अन्तर्भूत किया जा सकता है, क्योंकि नैयायिक आप्त पुरूष के उपदेश को शब्द प्रमाण मानते हैं–**"आप्तोपदेशः शब्दः"**[32] तथा उनमान भी आरण्यक के "यथागौर्गवयस्तथा" इस अतिदेश वाक्य के द्वारा होता है। अतः प्राचीन न्याय सम्मत उपमान को आगम से भिन्न नही माना जा सकता है।

कुमारिल ने उपमान विषयक नव्य नैयायिकों के मतों का खण्डन करते हुए कहा है कि नव्य न्याय का उपमान स्मृति सहित सादृश्य का प्रत्यक्ष ज्ञान है जिसमें गाय का तो प्रत्यक्ष होता है तथा गवय में गोसादृश्य अतिदेशवाक्य द्वारा पूर्व कथित होने के कारण पूर्वानुभूत है, अतः वह स्मृति है।

लेकिन **नव्य नैयायिक** कुमारिल के इस आक्षेप को अस्वीकार करते हैं और प्रत्युत्तर में कहते हैं कि गवय तथा सादृश्य का ज्ञान यद्यपि प्रत्यक्ष तथा स्मृति से, होता है, तथापि गो सादृश्यविशिष्ट गवय का ज्ञान न तो स्मृति से होता है और न प्रत्यक्ष से बल्कि उपमान नामक पृथक् प्रमाण से ही होता है।

लेकिन नव्य नैयायिकों के इस मत के विरूद्ध **कुमारिल** का कहना है कि यदि ऐसा है, तो इसे स्वीकार करने से पूर्व यह परीक्षा करनी चाहिए कि गोसादृश्ययुक्त अर्थ का ज्ञान अतिदेश वाक्य से अधिक होता है या उतना ही होता है जितना अतिदेश वाक्य में कहा गया है। अर्थात् अतिदेशवाक्य अपेक्षा अगृहीतग्राहिता है अथवा नहीं। यदि नहीं है, तो यह सादृश्य ज्ञान स्मृति ही है। अतः यह उपमान प्रमाण नहीं हो सकता।

प्रामाकर मीमांसकों ने भी नैयायिकों के उपमान प्रमाण के लक्षण का खण्डन करते हुए कहा है कि नैयायिकों का उपमान लक्षण[33] निर्दुष्ट लक्षण नहीं है,[34] क्योंकि "गोसदृशो गवयः" इस प्रकार का जो प्रथम ज्ञान उत्पन्न होता है, वह तो केवल पुरूष वाक्य से जनित होने के कारण शाब्द बोधत्मक है और वन में जाने पर गवय या गवयगत–गोसादृश्य का जो ज्ञान उत्पन्न होता है, वह प्रत्यभिज्ञा नामक प्रत्यक्ष है। गवय शब्द गवयगत वाच्यता का ज्ञान अनुमान प्रमाण है। वन में गवय को देखकर जो ज्ञान होता है– "एवत्सैव मया सा संज्ञा अवगता" यह ज्ञान भी स्मरणात्मक है। अतः नैयायिकों के उपमान लक्षण को निर्दुष्ट नहीं कहा जा सकता है।

भाट्टमीमांसकों में आचार्य शबर स्वमी ने उदाहरण के माध्यम से उपमिति एवं उसने कारणत्व को परिभाषित करने का प्रयास किया है। उनके अनुसार गोसादृश्यविशिष्ट गवय का दर्शन उपमान प्रमाण अर्थात् उपमिति है।

परन्तु शबर स्वामी का उपर्युक्त मत तर्कसंगत नहीं है। भाट्ट मीमांसकों के अनुसार उपमान प्रमाण फल का गो स्मरण नहीं है, बल्कि गवय के सादृश्य का ज्ञान ही फल है। **कुमरिल** का कहना है कि स्मरण किया जाने वाला अर्थ गो इन्द्रियासन्निकृष्ट है, ऐसा मानने पर तो उपमान

और स्मरण में कोई भेद ही नहीं रह जायेगा। शबर स्वामी के विरूद्ध **कुमरिल** के इस आक्षेप का समर्थन प्राभाकर मीमांसक भी करते है। भाट्ट एवं प्राभाकर मीमासकों के अनुसार "गोसादृश्यविशिष्ट गवय दर्शन उपमिति का करण है और गवयसादृश्यज्ञान अर्थात् 'अनेक सदृशी मदीया गौः' (इसी के समान मेरी गाय है) उसका फल है। अन्तर केवल इतना है कि कुमरिल गो स्मरण के ज्ञान को उपमिति मानते हैं जबकि प्राभाकर ने पूर्व ज्ञात गाय के सादृश्य के ज्ञान को उपमिति कहा है।

अद्वैत वेदान्त के अनुसार सादृश्य प्रमा को उपमिति तथा उसके करण, असाधारण कारण को उपमान प्रमाण कहते है। नगर में गाय को देखा व्यक्ति अरण्य में जाकर गवय पशु को देखता है। तदनन्तर उसे यह प्राणी गाय जैसा है, इस प्रकार गवय में गाय का सादृश्य ज्ञान होता है। यही उपमान है। इसके अनन्तर ही 'मेरी गाय इस पशु जैसी ही है', इस प्रकार होने वाली सादृश्य प्रमा को ही उपमिति कहते हैं अर्थात् उपमानरूप सादृश्यज्ञान और उपमितिरूप सादृश्य प्रमा के मध्य में अन्य कोई व्यापार विद्यमान नहीं रहता। उसे व्यापार घटित मानने की यहाँ आवश्यकता भी नहीं है।

उल्लेखनीय है कि सादृश्य ज्ञान को **अद्वैत वेदान्त** में प्रमाण और प्रमा भी कहा गया है। लेकिन दोनों के सादृश्यज्ञान–रूप होने पर भी उनमें भेद है। प्रमाणरूप सादृश्यज्ञान में गवय को "गो" की उपमा दी गयी है। अर्थात् इस ज्ञान में "गो" उपमान और "गवय" उपमेय है और प्रमारूप सादृश्यज्ञान में "गो" को "गवय" की उपमा दी गयी है। अर्थात् इस ज्ञान में "गवय" उपमान और "गो" उपमेय है। यही दोनों में भेद है। इनमें प्रथम सादृश्यज्ञान द्वितीय सादृश्यज्ञान का जनक (कारण) है और द्वितीय सादृश्य ज्ञान उसका फल (कार्य) है। इस प्रकार उनमें जन्य जनक भाव है। इस सादृश्य ज्ञान की उत्पत्ति इन्द्रियादिकों से नहीं होती। अतः उपमान एक पृथक् प्रमाण सिद्ध होता है।

अद्वैत वेदान्तियों के अनुसार न्याय का उपमान सम्बन्धी विचार अमान्य ठहराया जा सकता है। अद्वैत वेदान्तियों का कहना है कि यदि न्याय के उपमान विचार को स्वीकार कर लिया जाय, तो हमारे लिए यह दिखाना आवश्यक हो जायेगा कि उपमान से हमें जो ज्ञान प्राप्त होता है, वह ज्ञान प्राप्ति के अन्य मान्य साधनों जैसे– शब्द, अनुमान आदि से प्राप्त नहीं किया जा सकता है। लेकिन प्रश्न यह है कि नैयायिकों के अनुसार सोचने से भी हमें किस प्रकार की सूचना प्राप्त होती है। क्या यह वह ज्ञान है जिसमें गवय शब्द उन विषयों के समूह को इंगित करता है जो गाय के सदृश हैं? या क्या यह वह ज्ञान है जिससे पता चलता है कि गवय शब्द सामान्य गवयत्व को प्रदर्शित करता है? यदि प्रथम को मान लिया जाय तो हम यह पाते है कि यह सूचना हमें पहले से ही एक व्यक्ति के शब्द से प्राप्त है जो बताता है कि गवय किसके सदृश है? इस प्रकार न्याय के उपमान का अन्तर्भाव शब्द प्रमाण में हो जाता है। यदि दूसरे को माना जाय, तो हम पाते हैं

कि यह ज्ञान इस प्रकार के अनुमान से निगमित किया जा सकता है कि गवय शब्द गवयत्व गुणार्थ को प्राप्त है, क्योकि यह जार, कपडा आदि की भॉति एक ऐसा शब्द है जो गुणार्थ रखते हैं। इस प्रकार न्याय के उपमान का अन्तर्भाव अनुमान प्रमाण मे भी किया जा सकता है। इससे हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि वह वस्तु जिसे नैयायिक उपमान प्रमाण के द्वारा प्राप्त करना चाहते है, उसे हम सरलता से या तो अनुमान के द्वारा या शब्द प्रमाण से प्राप्त कर सकते है।[35]

इस प्रकर **वेदान्ती** अपने सिद्धान्तों के विरूद्ध उठायी गई अनेक आपत्तियों का निराकरण करते है और उसके समानान्तर ही **नैयायिकों** द्वारा विकसित सिद्धान्तों का भी खण्डन कर देते हैं। उपमिति और उसके करण (उपमान) के बारे में अद्वैत वेदान्त का मत अधिक तर्कसंगत प्रतीत होता है।

इसी प्रकार, उपमान की प्रक्रिया में अवान्तर व्यापार के बारे में भी मतभेद हैं। **मीमांसा दर्शन** में उपमान की प्रक्रिया में अवान्तर व्यापार का कोई उल्लेख नहीं मिलता है। **अद्वैत वेदान्त** मे भी उपमानरूप सादृश्यज्ञान और उपमितिरूप सादृश्यप्रमा के बीच अन्य कोई व्यापार नहीं माना गया है। **नैयायिक,** इसके विपरीत, अवान्तर व्यापार को मानते हैं। नैयायिकों के अनुसार किसी आरण्यक व्यक्ति से "गवय गो सदृश होता है" सुनकर अरण्य में गये हुए शहरी व्यक्ति का "गवय" के साथ इन्द्रिय सन्निकर्ष होने पर "यह गोसदृश है" ऐसा गोसादृश्य ज्ञान होता है । तदनन्तर आरण्यक व्यक्ति के बताये हुए "गवय, गोसदृश होता है," वाक्यार्थ का स्मरण होता है। इसके पश्चात् "अय गवयपदवाच्य"=यह गवय पशु "गवय" शब्द का वाच्य अर्थ है– यह ज्ञान होना ही उपमिति है। इनके मत में उपमान प्रमाण वस्तुबोधक न होकर शक्ति ग्राहक है। "गवय" पद की एक विशिष्ट पशु में शक्ति है, इस प्रकार का ज्ञान कराना ही उपमान का प्रयोजन है।

परन्तु **अद्वैत वेदान्तियों** के मत में उपमान का यह प्रयोजन नहीं है। उनके मत में "अनने सदृशी मदीया गौः" (इस गवय जैसी ही मेरी गौ है)– यह ज्ञान होना ही उपमान का फल (उपमिति) है। अनुभव भी 'इस पशु जैसी मेरी गाय है' ऐसा ही होता है । अतः "गोसदृशो गवयः" इस अतिदेशवाक्य के स्मृतिरूप व्यापार की कल्पना करने के पश्चात उससे "गवय, गवय शब्द का वाच्य है" ज्ञान की कल्पना करना, यह सब अनुभव के विरूद्ध है।

नैयायिक 'यह व्यक्ति गवयपद का वाच्य है' इस प्रकार के उपमिति को ज्ञान नहीं मानते, किन्तु 'गवय, गवयपद का वाच्य है' इस प्रकार के ज्ञान को उपमान का फल (उपमिति) बताते हैं।

परन्तु जहाँ पर गो, गवय, गज, अज आदि सामने स्थित हों, तो वहाँ पर 'इनमें से गवय पद का वाच्य कौन सा है? इस प्रकार किसी के प्रश्न कर देने पर उसे "गवय, गवयपद का वाच्य है", यह उत्तर देना हास्यास्पद होगा। वहाँ तो "यह व्यक्ति गवय पद का वाच्य है" यही उत्तर देना चाहिए और ऐसा मानने पर उपमान को शक्तिग्राहक नहीं कहा जा सकता है क्योंकि एक गवय की शक्ति को तो वह दिखा सकेगा, किन्तु अन्य गवय में उस शक्ति का ज्ञान कराने में

उसका उपयोग नही होगा । इसलिए अनुभव के अनुरूप ही उपमिति को स्वीकार करना चाहिए । इस प्रकार उपमान की प्रक्रिया व प्रयोजन के बीरे में भी वेदान्त मत अधिक तर्क संगत है।

मानव जीवन में उपमान प्रमाण की प्रासंगिकता असंदिग्ध है। व्यावहारिक जीवन में या विलक्षणता के आधार पर किसी संज्ञा विशेष से किन–किन वस्तुओं का बोध हो सकता है, इसका ज्ञान व्यावहारिक जीवन में उपयोगी है और यह ज्ञान उपमान प्रमाण से होता है। पारिभाषिक नामों की वस्तु–वाचकता का ज्ञान दिलाना तो इसका स्वाभाविक धर्म है। साहित्य में सौन्दर्यबोध के लिए उपमान का ही आश्रय लिया जाता है। आयुर्वेद में भी उपमान का महत्वपूर्ण स्थान है। **वात्स्यायन** ने स्वयं इस बात का उल्लेख किया है कि पूर्वपरिचित वस्तुओं के सादृश्य के आधर पर अनेक अपरिचित औषधियों का ज्ञान होता है। जैसे मूँग के आकार में दीखने वाला पौधा विष दूर करने की औषधि है, ऐसा सुनने के बाद जब मनुष्य जंगल में जाकर मूँग के आकार वाला कोई पौधा देखता है, तब उसे अतिदेश वाक्य का स्मरण होने पर यह निश्चय होता है कि मूँग के आकार वाला यह पौधा विष को दूर करने वाला है।

मीमांसको द्वारा प्रतिपादित उपमान प्रमाण का भी अपना विशेष महत्व है। उनके अनुसार अरण्यगत नागरिक को ग्रामस्थ गाय में गवय के सादृश्य का ज्ञान उपमान प्रमाण से ही हो सकता है, अन्य किसी प्रमाण से नहीं ।

अद्वैत वेदान्त में उपमान की उपयोगिता को प्रतिपादित करते हुए कहा गया है कि अद्वैत स्वरूप ब्रह्म के साक्षात्कार होने तक मुमुक्षु को चित्त शुद्धि के लिए वेदोक्त कर्म के अनुष्ठान की आवश्यकता होती है। कर्मानुष्ठान को याग सम्बन्धी "प्रकृतिवद् विकृतिः कर्त्तव्या" प्रकृतिभूत दर्श–पौर्णमासादि के समान विकृतिभूत सौर्ययागादिकों का अनुष्ठान करना चाहिए। इस प्रकृति–विकृतिभाव के ज्ञान की अपेक्षा होती है और वह ज्ञान सादृश्यमूलक होने से उपमान प्रमाण के अधीन है। अतः इस ज्ञान को करा देना ही उपमान का उपयोग है। इस प्रकार मीमांसकों, वेदान्तियों और नैयायिकों का यह कथन सत्य है कि उपमान की अपनी निजी उपयोगिता है, क्योंकि अन्य प्रमाण से उसकां कार्य नहीं चलाया जा सकता है।

संदर्भ-ग्रंथ-सूचिका

1. न्यायसूत्र, 1.1.6, गौतम, कलकत्ता सस्कृत ग्रन्थमाला, ग्रन्थाक 18, कलकत्ता, 1936।
2. वही, 2.1.44
3. तर्कभाषा मिश्र, केशव, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, 1953, पृ० 119।
4 तर्कभाषा, मिश्र, केशव, चौखम्बा प्रकाशन वाराणसी, 1953, पृ० 106।
5 न्यायसूत्र, 1.1 7, गौतम, कलकत्ता सस्कृत ग्रन्थमाला, ग्रन्थाक 18, कलकत्ता, 1936।
6 श्लोकवार्तिक, उपमान, 1–3, भट्ट, कुमारिल, मद्रास विश्वविद्यालय प्रकाशन, मद्रास, 1940।
7. न्यायसूत्र, 1 1.6, गौतम, कलकत्ता सस्कृत ग्रन्थमाला, ग्रन्थाक 18, कलकत्ता 1936।
8 प्रकरणपचिका, मिश्र, प्रभाकर, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय मुद्रणालय, काशी, 1961 पृ० 271।
9 शाबरभाष्य, शबर स्वामी, आनन्दाश्रम मुद्रणालय, पूना, 1929, पृ० 30।
10. वही, पृ० 30।
11. श्लाकवार्तिक, भट्ट; कुमारिल, उपमान–37, मद्रास विश्वविद्यालय प्रकाशन, मद्रास, 1940, पृ० 500।
12. शास्त्रदीपिका, मिश्र, पार्थसारथी, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, 1933, पृ० 140।
13. मानमेयोदय, भट्ट, नारायण, थियोसाफिकल पब्लिशि हाउस, अडयार, मद्रास, 1933, पृ० 110।
14. प्रकरणपचिका, मिश्र, शालिकनाथ, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, मुद्रणालय, काशी, 1961, पृ० 267।
15. वृहती, एव ऋजुविमला, मिश्र, प्रभाकर, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, 1929, पृ० 109।
16 न्याय चन्द्रिका, आननदपूर्ण, गवर्नमेण्ट ओरिएण्टल मैनुस्क्रिप्ट्स लाइब्रेरी, मद्रास 1959, पृ० 279।
17. वही, पृ० 279।
18. वेदान्तपरिभाषा, धर्मराजाध्वरीन्द्र व्याख्या–मुसलगॉवकर, श्रीगजानन शास्त्री, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, 1983, पृ० 179।
19. श्लोकवार्तिक, भट्ट; कुमारिल, मद्रास विश्वविद्यालय प्रकाशन, मद्रास, 1940, पृ० 540।
20. *Upmana in Indian Philosophy, Belvalkar; S.K., Eastern Book Linkers, Jawahar Nagar, Delhi, 1980, P-99.*
21. प्रमेयकमलमार्तण्ड, प्रभाचन्द्र, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, द्वितीय संस्करण 1941, पृ० 345।
22. वही पृष्ट० 345।
23. नयद्युमणि सम्पा० कृष्णयामुनाचार्य, गवर्नमेन्ट ओरिएटल मैनुस्क्रिप्ट्स लाइब्रेरी मद्रास, 1956, पृ० 215।

24. *The Nyay Theory of knowledge, Chatterjee; S.C., Calcutta University Calcutta, 1978, P-305.*
25. *वेदान्तपरिभाषा, धर्मराजाध्वरीन्द्र, व्याख्या मुसलगॉवकर, श्री गजानन शास्त्री, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1983, पृ० 184।*
26. *वही, पृ० 185।*
27. *वही।*
28. *वही, पृ० 186।*
29. *न्यायसार पर न्याय भूषण, सम्पा० शास्त्री; पण्डितराज एस० सुब्रहमण्यम्, गवर्नमेण्ट ओरिएंटल मैनुस्क्रिप्ट्स लाइब्रेरी, मद्रास, 1961, पृ० 417।*
30. *न्यायमजरी, 1.30, भट्ट, जयन्त, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, 1936।*
31. *न्यायसिद्धान्तमुक्तावली, विश्वनाथ, व्याख्या–शास्त्री; गजानन चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, द्वितीय सस्करण, 1984, पृ० 352।*
32. *न्यायसूत्र, 1.1.7, गौतम, कलकत्ता सस्कृत ग्रन्थमाला, ग्रन्थाक 18, कलकत्ता 1936।*
33. *न्यायसूत्र, 1.1.6, गौतम, कलकत्ता सस्कृत ग्रन्थमाला, ग्रन्थाक 18, कलकत्ता 1936।*
34. *प्रकरणपचिका, मिश्र, शालिकनाथ, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, मुद्रणालय, काशी, 1961, पृ० 271।*
35. *The six ways of knowing, Datta; D. M. Calcutta University Press Calcutta, Second Edition, PP- 149-150.*

● ●

अध्याय : पंचम

शब्द प्रमाण

शब्द प्रमाण

सम्पूर्ण भारतीय दार्शनिक वाङ्मय मे चार्वाक, बौद्ध और वैशेषिक दर्शन के अतिरिक्त अन्य सभी दर्शनों में शब्द का पृथक् प्रामाण्य स्वीकार किया गया है। व्युत्पत्तिपरक दृष्टि से **'शब्द'** का अर्थ ध्वनि (शब्दयति) होता है। सामान्यतः शब्द और पद को पर्यायवाची माना जाता है। अनेक दार्शनिकों ने शब्द को अर्थ का अवबोधक माना है–" **शपत्यर्थम् आह्वयति, प्रत्याययति, शप्यते येन शपनमात्रं वा शब्दः।** " वैयाकरण आचार्यों ने सुप् तिङ्न्त विभक्ति युक्त शब्द को पद कहा है। **'शब्द'** भी ज्ञान के अन्य साधनों की भाँति ज्ञान प्राप्ति का एक यथार्थ और प्रामाणिक साधन है। प्रस्तुत अध्याय में शब्द का यही पक्ष विवेचन का केन्द्र बिन्दु है। सामान्यतः ऐसे पदों के समूह को वाक्य कहते है जो उच्चरित, परस्पर साकांक्ष, परस्पर–अन्वययोग्य अर्थों के प्रतिपादक तथा सन्निहित होते है। यथार्थ उपदेश करने वाले व्यक्ति के द्वारा प्रयुक्त होने पर ऐसे ही वाक्य शब्द प्रमाण कहे जाते हैं– **"आप्त वाक्यं शब्दः, आप्तस्तु यथाभूतस्यार्थस्योपदेष्टा पुरुषः। वाक्यं त्वाकांक्षायोग्यतासन्निधिमतां पदानां समूहः।"**[1] अन्य प्रमाणों के समान शब्द प्रमाण के लक्षण के बारे में भी विभिन्न मत पाये जाते हैं।

शब्द का लक्षण

जैन दर्शन में श्रुत ज्ञान या शाब्दज्ञान को आगम कहा गया है। **उमास्वामी** के अनुसार यथार्थ का अभिधान ही शब्द है –**"यथार्थाभिधानं शब्दः।"**[2] **सिद्धसेन दिवाकर, माणिक्यनन्दी, देवसूरि, चन्द्रप्रभा, यशोविजय** आदि ने शब्द प्रमाण के लक्षण में **'आत्म'** शब्द का भी समावेश किया है।[3] जैनो के अनुसार आगम के दो रुप हैं– 1. आलौकिक अर्थात् तीर्थंकरों के कथन, और 2. लौकिक अर्थात् रागद्वेषरहित व्यक्तियों के वचन। जैनों के अनुसार अर्हत् (तीर्थंकरों) के कथन ही प्रमाण हैं।

न्याय दर्शन में शब्द का विवेचन चतुर्थ प्रमाण के रुप में किया गया है। **न्यायसूत्रकार** के अनुसार आप्तोपदेश ही शब्द है।इसका अर्थ यह है कि सभी व्यक्तियों के उपदेश शब्द प्रमाण नहीं माने जा सकते। केवल आप्त या यथार्थवादी व्यक्तियों के वचन ही शब्द प्रमाण माने जाते है। आप्त पुरुष वह है जो कर्त्तव्यनिष्ठ, राग–द्वेष से परे तथा सज्जनों के द्वारा सम्मानित है। **वात्स्यायन** के अनुसार स्वयं वस्तुओं का साक्षात्कार करने वाला पुरुष ही आप्त है–**"आप्तः खलु साक्षात् कृतधर्मा।" अन्नं भट्ट** ने "तर्क संग्रह" में लिखा है– **"आप्तस्तु यथार्थ वक्ता।"** अर्थात् यथार्थ वक्ता ही आप्त पुरुष है। इस प्रकार प्राचीन नैयायिकों ने आप्त के उपदेश को ही शब्द प्रमाण माना है।

शब्द प्रमाण के बारे मे **नव्य नैयायिकों** का मत अपने पूर्ववर्ती आचार्यों से किंचित् भिन्न है। **गंगेश उपाध्याय** तथा उनके अनुयायियों ने आप्तता के विचार को अस्वाभाविक मानकर छोड दिया है। इनके अनुसार वाक्यार्थ ज्ञान ही शब्द प्रमाण है। वाक्यार्थ ज्ञान का अर्थ है –'वाक्य के अन्तर्गत पद समूह का स्मरणात्मक ज्ञान।' **केशव मिश्र** तथा **अन्नं भट्ट** जैसे परवर्ती न्यायाचार्यो ने भी शब्द प्रमाण की परम्परागत परिभाषा में कुछ परिवर्तन करते हुए **'उपदेश'** के स्थान पर 'वाक्य' का प्रयोग करके आप्तवाक्य को शब्द प्रमाण माना है।[4] नैयायिकों के अनुसार शब्द प्रमाण होने के लिए वाक्य का अर्थपूर्ण एवं विशेष ढग से क्रमबद्ध होना आवश्यक है। **प्राचीन नैयायिकों** के अनुसार अर्थपूर्ण वाक्य के लिए आकांक्षा, योग्यता एवं सन्निधि की आवश्यकता होती है, जबकि **नव्य नैयायिक** उसके लिए तात्पर्य ज्ञान को भी आवश्यक मानते हैं।

शब्द प्रमाण की परिभाषा के सन्दर्भ में **सांख्यो** व **नैयायिकों** में कोई महत्वपूर्ण अंतर नही है। लेकिन दोनों दर्शनों में **'आप्त'** शब्द की व्याख्या को लेकर कुछ मतभेद है। **महर्षि कपिल** के अनुसार 'आप्तोपदेश' शब्द है, लेकिन आप्त का अर्थ है आप्ति से युक्त और आप्ति का अर्थ है– योग्यता। उपदेश का अर्थ है– यथाभूत पदार्थ का निर्दोष कथन। इस प्रकार सुदृढ़ प्रमाणों के द्वारा पदार्थ का अवधारण (निश्चयात्मक ज्ञान) करने वाला आप्त कहा जाता है और जब वह अपने अनुभव के अनुसार किसी पदार्थ के वास्तविक स्वरुप का वर्णन करता है, तो उस समय के उसके कथन को शब्द प्रमाण कहते हैं।

ईश्वरकृष्ण के अनुसार विश्वसनीय वचन ही आप्त वाक्य है – **"आप्तश्रुतिराप्तवचनं तु:।"**[5] इसकी व्याख्या करते हुए **वाचस्पति मिश्र** ने कहा कि **'आप्त'** शब्द का अर्थ है– प्राप्त या युक्त (यथार्थ)। इस प्रकार जो श्रुति आप्ता है ,वह आप्तश्रुति है। श्रुति का अर्थ है– वाक्य से उत्पन्न वाक्यार्थ ज्ञान। **जयमंगलाकार** ने आप्त का लक्षण निर्धारित करते हुए लिखा है–

"स्वकर्मण्यभियुक्तो यो रागद्वेष विवर्जितः।
निर्वैरः पूजितः सद्भिराप्तो ज्ञेयः एतादृशः।"

वाचस्पति मिश्र के अनुसार जिन वचनों की युक्तता प्रमाण संगत और वेद, स्मृति आदि के अनुरुप नहीं है, उनको कहने वाले (बौद्धभिक्षु आदि) आप्त नहीं माने जा सकते। संक्षेप में, सांख्याचार्यों के अनुसार आप्त व्यक्ति का उपदेश ही सन्दर्भगत विषय में शब्द प्रमाण है।

योग दर्शन में शब्द के लिए आगम शब्द का प्रयोग किया गया है। **"व्यासभाष्य"** (1.1. 7) में लिखित है कि अपने बोध का सम्प्रेषण करने के लिए तत्वज्ञानी अर्थात् यथार्थदृष्टा आप्त पुरुषों द्वारा शब्द के माध्यम से जो उपदेश किया जाता है, वह आगम प्रमाण है– **स्वबोधसंक्रान्तये शब्देनोपदिश्यते शब्दात्तदर्थविषयावृत्तिः श्रोतुरागमः।"**

'मीमांसासूत्र' के प्रणेता **महर्षि जैमिनि** ने प्रत्यक्ष के अतिरिक्त अन्य किसी प्रमाण का लक्षण निर्दृष्ट नहीं किया है। लेकिन परवर्ती आचार्यों ने अपने–अपने ढंग से शब्द–प्रमाण का लक्षण दिया है।

भाष्यकार शबर स्वामी के अनुसार वर्ण ही शब्द है। उनके शब्द हैं–**'अथ गौरित्यत्र कः शब्दः? गकारौकार विसर्जनीया इति भगवानुपवर्षः।'**[6] अर्थात् अकारादि वर्ण ही शब्द हैं। भाष्यकार के अनुसार लोक में वक्ता के कण्ठ–तालु आदि स्थानों से समुद्भूत नाद के द्वारा अभिव्यंज्य तथा श्रोता के श्रोतेन्द्रिय से सुने जाने वाले तत्त्व को ही शब्द कहा जाता है। वर्णों के अतिरिक्त अन्य किसी तत्त्व को शब्द स्वीकार नहीं किया जा सकता। अर्थबोधकता से जनित संस्कारों से संवलित अन्तिम वर्ण ही प्रत्यायक (अर्थबोधक) होता है।[7] भाष्यकार ने वर्णसमूहात्मक आगम अथवा शास्त्र के प्रामाण्य का निरुपण किया है। उनके अनुसार शास्त्र वह प्रमाण है जिससे शब्द ज्ञान के बाद इन्द्रिय से असम्बद्ध पदार्थ (जैसे–धर्माधर्म) का विशेष ज्ञान होता है।[8] यहाँ पर भाष्यकार ने शास्त्र रुप शब्द प्रमाण विशेष का ही वर्णन किया है।

भाष्यकार शबर के ऊपर प्रायः यह आक्षेप लगाया जाता है कि उन्होंने शब्द–प्रमाण सामान्य का लक्षण न करके अपने मत को दोषयुक्त बना दिया है, क्योंकि सामान्य को समझे बिना विशेष को नहीं समझा जा सकता।

'शाबरभाष्य' में शब्द प्रमाण की जिस चर्चा का आरम्भ हुआ, उसका विधिवत् विश्लेषण भाट्ट मीमांसकों के ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। **कुमारिल भट्ट** के अनुसार प्रकृत में उपयोगी होने के कारण जिसे शास्त्र कहा जाता है, वही शब्द प्रमाण है। भाष्यकार सम्मत **'विज्ञात'** शब्द की व्याख्या करते हुए कुमारिल भट्ट कहते हैं कि **'विज्ञात'** शब्द के द्वारा पदार्थ का अभिधान करते हुए जो असन्निकृष्ट (इन्द्रिय से असम्बद्ध) वाक्यार्थविषयक ज्ञान होता है, उसे शब्द प्रमाण कहते हैं– **"विज्ञाताच्छब्दात् पदार्थाभिधानद्वारेण यत् वाक्यार्थ विज्ञानम्, तच्छब्दं नाम प्रमाणम्।"**[9] लोक सिद्ध होने के कारण प्रत्यक्ष की तरह उसकी भी परीक्षा करने की आवश्यकता नहीं है। **नैयायिक** शब्दबोध के प्रति ज्ञायमान पद अथवा पद–ज्ञान को करण मानते हैं, परन्तु **भाट्ट मीमांसक** पदों के द्वारा पदार्थों का स्मरण होने पर जो वाक्यार्थ ज्ञान होता है, उसे ही शब्द प्रमाण कहते हैं। **नारायण भट्ट** ने भी इसी मत का समर्थन किया है।[10] **पार्थसारथि मिश्र** ने उपर्युक्त कथन में यह भी जोडा कि इस प्रमाण के द्वारा जो ज्ञान हो, वह **'नवीन'** होना चाहिए।

प्रभाकर मिश्र शब्द के स्वरुप के संदर्भ में भाष्यकार शबर के मत का ही समर्थन करते हैं। उनके अनुसार शब्द उन अक्षरों से भिन्न नहीं हैं जिनसे यह बना है। अक्षरों का प्रत्यक्ष श्रवणेन्द्रिय द्वारा होता है और वह क्रम जिनसे यह प्रत्यक्ष होता है, यह निर्णय करता है कि किन शब्दों का बोध हुआ? प्रत्येक अक्षर का प्रत्यक्ष ज्ञान प्रकट होते ही विलुप्त हो जाता है और पीछे एक संस्कार छोड़ जाता है। भिन्न–भिन्न अक्षरों द्वारा छोड़े हुए संस्कार अंतिम अक्षर के संस्कार

के साथ सयुक्त होकर पूर्ण शब्द के विचार को उत्पन्न करते है, क्योकि शब्द की क्षमता अक्षरो की भिन्न–भिन्न क्षमताओ से उत्पन्न होती है। इसलिए अक्षरो की क्षमताओं को शाब्दिक बोध का सीधा कारण बताया गया है। शब्दार्थ का बोध इन्द्रिय के द्वारा प्राप्त नहीं होता। इन्द्रियाँ अक्षरो को प्रस्तुत करती है, जिनमे अक्षरो से बने हुए शब्द द्वारा प्रकट की गई वस्तु का बोध कराने वाली शक्ति रहती है। इस प्रकार प्रभाकर के मत में अक्षर शाब्दिक बोध के साधन है। शब्दो मे अर्थद्योतन की नैसर्गिक शक्ति रहती है, जिसके द्वारा वे (शब्द) पदार्थो को प्रकट करते है।

प्राभाकर लौकिक या पौरुषेय शाब्दबोध को प्रमाणत्व प्रदान नहीं करते।[11] वे केवल वैदिक शबद को ही प्रमाण मानते हैं। उनका अभिमत है कि लौकिक या पौरुषेय शाब्दबोध का अन्तर्भाव अनुमान मे हो जाता है, क्योकि पुरुष वचन केवल वक्ता पुरुष के अभिप्राय का अनुमान कराते है, स्वयं वाक्यार्थ का बोध नहीं कराते। पुरुष वचनों की बोधिकता शक्ति व्यभिचार शंका से कुठित हो जाती है, क्योंकि अधिकतर पुरुष वचन असत्य होते है। अतः अवैदिक वाक्यों में प्रामाण्य को स्वीकार नही किया जा सकता।

किन्तु **भाट्ट मीमांसक** लौकिक शब्द के प्रामाण्य के विषय में प्राभाकर मत की आलोचना करते है। उनके अनुसार वक्ता के बुद्धि की सिद्धि अनुमान से किसी भी प्रकार से नहीं हो सकती। इसलिए असिद्ध वक्तृबुद्धि रुप हेतु से श्रोता में शब्दार्थ विषयक अनुमिति नही की जा सकती। वक्तृबुद्धि और अर्थतत्त्व ये दोनों विशेष हैं। अतः इनका ग्रहण अनुमान द्वारा संभव नहीं है। इसलिए पौरुषेय वाक्य (लौकिक शब्द) को अनुमान में अन्तर्भूत नहीं किया जा सकता। वैदिक शब्द के समान ही लौकिक शब्द भी प्रमाण हैं।

अद्वैत वेदान्त मे शब्द प्रमाण का विवेचन उपमान प्रमाण के पश्चात् किया गया है। अद्वैत वेदान्तियों ने **'यस्य'** इत्यादि वाक्य से शब्द प्रमाण का लक्षण बताया है। उनके अनुसार जिसका पदार्थ संसर्ग, किसी भी अन्य प्रमाण से बाधित नहीं होता ऐसे और वक्ता के तात्पर्यविषयीभूत, संसर्ग के बोधक वाक्य को ही शब्द प्रमाण कहते है। वाक्यजन्य ज्ञान में आकांक्षा, योग्यता, आसत्ति और तात्पर्य ज्ञान– ये चार कारण होते हैं– **"यस्य वाक्यस्य तात्पर्यविषयीभूत संसर्गो मानान्तरेण न बाध्यते, तत् वाक्यं प्रमाणम्। वाक्यजन्यज्ञाने च आकाङ्क्षायोग्यताऽऽसत्तयस्तात्पर्यज्ञानं चेति चत्वारि कारणानि।"**[12] शब्द के लक्षण में अद्वैत वेदान्तानुसार **"वाक्यस्य"** की आवश्यकता इसलिए होती है कि शब्द–प्रमाण से जिस अर्थ का हमें ज्ञान होता है, वही अर्थ अन्य प्रामाणों से भी सिद्ध होता है। इसलिए अन्य प्रमाणों को भी शब्द या आगम कहना पड़ेगा। इसके निवारणार्थ शब्द–लक्षण में 'वाक्यस्य' का समावेश किया गया है। **अद्वैत वेदान्त** द्वारा निर्धारित शब्द प्रमाण का यह लक्षण अधिक तार्किक है।

शब्द का प्रामाण्य

नास्तिक दर्शनों में **चार्वाक** और **बौद्ध** तथा आस्तिक दर्शनों में **वैशेषिक** शब्द के स्वतन्त्र प्रामाण्य का निषेध करते हैं। **चार्वाक शब्द** को पृथक् प्रमाण नहीं मानते हैं। उनके अनुसार शब्द

किसी ऐसे अर्थ में प्रमाण नहीं होता है जो प्रत्यक्षसिद्ध न हो। इस कारण मूलभूत प्रमाण केवल प्रत्यक्ष है। चार्वाक शब्द को प्रत्यक्षगृहीत अर्थ का अनुवादक मात्र मानते हैं। इसलिए उनका पृथक् प्रामाण्य असिद्ध है।

शब्द–प्रामाण्य के बारे में चार्वाक मत निर्दोष नहीं है। **न्याय दार्शनिकों** के अनुसार शब्द–बोध प्रत्यक्ष मूलक होने के कारण यथार्थ हैं। अपने प्रतिपक्षियों के मतों का खण्डन करने के लिए चार्वाक भी उनके शब्दों से ही उनके विचारों का ज्ञान प्राप्त करते हैं। इसलिए चार्वाक मत में भी शब्द प्रमाण मान्य हो जाता है।

बौद्ध दार्शनिक शब्द प्रमाण का अन्तर्भाव अनुमान मे करते हैं। उनके अनुसार केवल दो ही प्रकार की वस्तुएँ है– विशेष और सामान्य। स्वलक्षण विशेष है। इसका ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण से होता है। सामान्य बुद्धि द्वारा कल्पित है। अतः उसका ज्ञान अनुमान से होता है। इन दोनों के अतिरिक्त कोई तीसरा प्रमेय नहीं है। इसलिए किसी तीसरे प्रमाण को मानने की आवश्यकता नही है। **दिङ्नाग** आदि बौद्ध दार्शनिकों का कहना है कि सम्पूर्ण वचनों द्वारा वक्ता की विवक्षा का अनुमान होता है। इसलिए शब्द अनुमान से पृथक् सिद्ध नहीं होता है।

बौद्धों की भाँति **वैशेषिक आचार्य** भी शब्द के पृथक् प्रामाण्य का निषेध करते हैं। लेकिन दोनों में प्रमुख अंतर यह है कि बौद्ध शब्द का सम्बन्ध वक्तुरिच्छा रूप विविक्षा से मानकर उसे अनुमान से पृथक् मानते हैं, जबकि वैशेषिक शब्द का साहचर्य सम्बन्ध स्वीकार करते हुए उसे अनुमान में अर्न्तभूत कर देते हैं। वैशेषिकों के अनुसार जिस प्रकार अनुमान में ज्ञात लिंग के आधार पर अज्ञात लिंगी का ज्ञान प्राप्त होता है, उसी प्रकार शब्द प्रमाण में भी प्रत्यक्ष शब्द के माध्यम से अप्रत्यक्ष वस्तु का ज्ञान प्राप्त किया जाता है। यहाँ शब्द लिंग और वस्तु लिंगी है। जिस प्रकार अनुमान में लिंग और लिंगी के बीच व्याप्ति सम्बन्ध आवश्यक है, उसी प्रकार शब्द प्रमाण के लिए वाचक और वस्तु के बीच व्याप्ति सम्बन्ध का होना आवश्यक है। इस प्रकार शब्द– ज्ञान और अनुमान– ज्ञान प्राप्त करने की विधि समान होने के कारण शब्द अनुमान में अन्तर्भूत हो जाता है।

शब्द प्रामाण्यवादी सभी दार्शनिक शब्द प्रमाण का अनुमान में अन्तर्भाव किये जाने का विरोध करते हैं। बौद्धों के विरुद्ध **कुमारिल भट्ट** का कहना है कि शब्द का अन्तर्भाव अनुमान में करने पर लिंग–दर्शन के अभाव में स्वर्गादि अनेक अर्थों की सिद्धि नहीं हो सकेगी, क्योंकि इनकी सिद्धि में कोई लिग द्रष्टव्य नहीं है। अतः इनकी सिद्धि केवल शब्द प्रमाण से ही हो सकती है। **अद्वैत वेदान्तियों** का भी यही मत है।

कुमरिल बौद्ध का मत विरोध करते हुए यह भी कहते हैं कि शब्द का अनुमान में अन्तर्भाव इसलिए भी नहीं किया जा सकता कि विषयभेद के आधार पर दोनों पृथक्–पृथक् हैं। धर्म विशिष्ट धर्मी स्वरुप 'विशेष' ही अनुमान का विषय कहा गया है,[13] जबकि शब्द प्रमाण का विषय सामान्य

होता है। पुनश्च, अनुमान प्रमाण से विशेष्य का ज्ञान पहले होता है और विशेषण का बाद में, जबकि शब्द प्रमाण स्थल मे इसके विपरीत होता है। इस कारण भी दोनों की स्वतन्त्रता सिद्ध होती है।[14] तीसरी बात यह है कि पक्षता का अभाव होने से भी शब्द का अनुमान से अभेद नही हो सकता।

वैशेषिको के उपर्युक्त मत का खण्डन करते हुए **न्याय दार्शनिक** कहते है कि वैशेषिक मत व्याप्ति के गलत अर्थ पर आधारित है। अनुमान में लिग और लिंगी के बीच स्थित व्याप्ति सम्बन्ध वास्तविक या स्वाभाविक सहचार का सम्बन्ध है। जैसे, धूम एवं वह्नि का सम्बन्ध। किन्तु शब्द ज्ञान में शब्द (वाचक) अर्थ (वाच्य)के मध्य स्वाभाविक सहयोग का सम्बन्ध नहीं पाया जाता। जहॉ–जहाँ शब्द रहते है, वहॉ इनसे सूचित पदार्थों का रहना आवश्यक नहीं है। इससे सिद्ध होता है कि शब्द और इससे सूचित अर्थ के बीच स्वाभाविक सहचार का सम्बन्ध नहीं रहता। इसलिए शब्द ज्ञान मे व्याप्ति का अभाव रहता है, जबकि अनुमिति के लिए व्याप्ति का होना आवश्यक है। **जैनाचार्य यशोविजय** का भी कहना है कि आगम व्याप्ति–निरपेक्ष होने के कारण अनुमान में अन्तर्भूत नहीं होता– **"न च व्याप्ति ग्रहणवलेनार्थप्रतिपादकत्वात् धूमवदस्य अनुमानेऽन्तर्भावः।"**[15] सांख्य दर्शन के प्रख्यात ग्रन्थ **"सांख्यतत्वकौमुदी", एवं "माठरवृत्ति"** मे भी इसी मत का समर्थन किया गया है। माठर का कथन है – **"आगमो हि आप्तवचनम् आप्तं दोषक्षयाद् विदुः। क्षीणदोषोऽनृतं वाक्यं न ब्रूयात हेत्वसंभवात्।"**

धर्मराजाध्वरीन्द्र का कहना है कि शब्द प्रमाण का पूर्ण ज्ञान आकांक्षा, योग्यता, आसत्ति और तात्पर्यज्ञान की सहायता से होता है[16] और वहाँ अनुमान का अनुभव हमें नहीं होता। इससे भी अनुमान प्रामाण से पृथक् शब्द प्रमाण का अस्तित्त्व सिद्ध होता है।

शब्दार्थ विचार

शब्द प्रमाण के विवेचन के सन्दर्भ में एक प्रमुख प्रश्न यह उठता है कि शब्द का अर्थ क्या है? शब्दार्थ विचारणा में शब्द प्रमाणवादी दार्शनिकों ने विभिन्न सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। ये हैं– 1. व्यक्तिवाद, 2. आकृतिवाद, 3. अपोहवाद, 4. स्फोटवाद, 5. जात्याकृतिव्यक्तिवाद (जातविशिष्ट व्यक्तिवाद) 6. जातिवाद।

सांख्य दार्शनिकों के अनुसार **विशिष्ट व्यक्ति** ही शब्द है। जब कोई व्यक्ति कहता है कि 'गाय लाओ' तो इससे 'गाय' व्यक्ति का ही बोध होता है। 'गाय' शब्द से जाति को अभिप्रेत मानने पर भी जाति के अन्तर्गत व्यक्ति की ही सत्ता को मानना पड़ेगा, अन्यथा व्यक्ति का बोध असंभव हो जायेगा। लिंग, वचन और कारकादि व्यक्ति की ही विशेषता बताते हैं। पुनश्च, सूर्य, चन्द्रादि बहुत से ऐसे पदार्थ भी हैं जिनकी जाति नहीं होती है। इससे सिद्ध होता है कि व्यक्ति ही शब्द का संकेतित अर्थ है।

सांख्यों का उपर्युक्त मत अस्वीकार्य है, क्योकि व्यक्ति अनन्त है। अतः व्यक्ति को शब्द का अर्थ मानने पर अनन्त व्यक्तियो के ज्ञान के लिए अनन्त शब्दों की कल्पना करनी पड़ेगी, जो महान गौरव होगा। आनन्त्य दोष का वारण करने केलिए यदि किसी एक व्यक्ति में शब्द की शक्ति को माना जाय, तो अन्य व्यक्ति का ज्ञान असंभव हो जायेगा। ऐसी स्थिति में व्यभिचार दोष होगा। अतः व्यक्ति को शब्द का अर्थ नहीं माना जा सकता है।[17]

जैन दार्शनिकों के अनुसार शब्द का संकेतित अर्थ व्यक्ति या अन्य कुछ न होकर केवल **आकृति** है। जब हम 'गौ' शब्द को सुनते हैं, तो हमें किसी विशेष गाय का ज्ञान न होकर गाय की आकृति का ही ज्ञान होता है। इससे स्पष्ट होता है कि शब्द का संकेतित अर्थ आकृति है।

व्यक्तिवाद की भाँति आकृतिवाद भी दोषपूर्ण है। इसके विरुद्ध मुख्य आपत्ति यह है कि वस्तुओं की आकृति देश, कालानुसार बदलती रहती है। आकार एक सा होने पर भी कई बार पदार्थ एक जैसा नहीं होता। कई बार इसकी विरोधी स्थिति भी दिखाई देती है। पुनश्च, आकृति को स्थानान्तरित नहीं किया जा सकता। अतः आकृति को शब्द का अर्थ नहीं माना जा सकता है।

बौद्ध दार्शनिकों के अनुसार शब्द का अर्थ **अपोहात्मक** है। अपोह का तात्पर्य है–"अतद्व्यावृत्ति" अर्थात् तद्भिन्नभेद। अपोह से अन्य की व्यावृत्ति करके ही अर्थज्ञान होता है। जैसे, 'गाय' शब्द से गाय पशु का ज्ञान 'अगो' (जो गाय नहीं है, जैसे अश्वादि) के निषेध से होता है। अतः बौद्धों के मत में शब्द का अर्थ निषेधात्मक है। शब्द वस्तु की सत्ता का नहीं, प्रत्युत् तद्भिन्न से उसकी व्यावृत्ति का ज्ञान कराते हैं। बौद्धों का यही सिद्धान्त अपोहवाद कहा जाता है।

बौद्धेतर सभी दार्शनिकों ने बौद्ध अपोहवाद का खण्डन किया है। **कुमारिल भट्ट** का प्रश्न है कि अपोह एक है या अनेक? यदि अनन्त गौओं के ज्ञान के लिए एक ही अपोह माना जाय, तो यह मान्यता जाति से भिन्न न होकर जाति सदृश ही हो जायेगी और यदि अनेक अपोह माने जाँय, तो अनन्त पिण्डों में अनन्त अपोह मानना पड़ेगा और ऐसा मानने पर आनन्त्य दोष की उत्पत्ति होगी। **नैयायिकों** का कहना है कि मुख्य (तद्) को समझे बिना तदितर (अतद्) का प्रतिषेध भी नही किया जा सकता। 'गौ' को समझे बिना 'अगौ' का ज्ञान नहीं हो सकता।

अपोहवाद को मानने पर एक कठिनाई सामने यह आती है कि अपोह का विषय 'गौ' है या ' 'अगौ'? यदि 'गौ' है तो 'गौ' का अर्थ 'गो भिन्न' नहीं समझा जा सकता और यदि 'अगौ' है, तो उसका अर्थ 'गाय' कैसे माना जा सकता है? एक बार जब 'गौ' शब्द अन्य की व्यावृत्ति में चरितार्थ हो गया, तो फिर उससे गाय का ग्रहण नहीं हो सकता है।

पुनश्च, बहुत सारे शब्द ऐसे है जिनका अर्थ अपोह के द्वारा व्यक्त नहीं हो सकता। जैसे. 'सर्व'। इन्हीं कठिनाइयों के कारण बौद्धेतर दार्शनिकों ने अपोहवाद को अस्वीकार कर दिया।

सामान्यतः वर्णों के समुदाय को शब्द कहते हैं किन्तु **वैयाकरणों** के अनुसार जिन वर्णों को हम अपने कानों से सुनते हैं, वे वर्ण न होकर ध्वनि मात्र हैं। वर्ण तो क्रमोत्पन्न और क्षणिक होते हैं। अतः उनका समुदाय एक स्थान और एक काल में समान नहीं हो सकता। इसलिए वर्णों

के समुदाय को शब्द नही माना जा सकता। वस्तुत शब्द वह है जो वर्णो के माध्यम से अभिव्यक्त होता है। यह **स्फोट रूप** है। स्फोट ही अर्थ निरूपित शक्ति का आश्रय है। व्युत्पत्ति की दृष्टि से स्फोट का अर्थ है–**"स्फुट्यते अभिव्यंज्यते वर्णैरिति स्फोटः।"** अर्थात् जो वर्णों से अभिव्यंज्य होकर अर्थ प्रतीति का जनक होता है, वह स्फोट कहलाता है। उक्तं च–**"वर्णाभिव्यंज्यत्वे सति अर्थ प्रतीतिजनकत्वं स्फोटत्वम्।"** शब्द के अवयवीभूत वर्ण स्फोट शब्द को अभिव्यक्त करते हैं और उसी से अर्थ की प्रतीति होती है। इसी प्रकार वाक्यार्थ बोध के लिए वाक्य.स्फोट को माना गया है। भत्तृहरि के अनुसार शब्द में दो तत्त्व हैं– **ध्वनि** और **स्फोट**। ध्वनि शब्द का निमित्त कारण है और स्फोट अर्थ का–

"द्वावुपादानशब्देषु शब्दौ शब्दविदो विदुः।
एको निमित्तं शब्दानामपरोऽर्थे प्रयुज्यते।[18]

योग दर्शन के अतिरिक्त अन्य किसी भी दर्शन में स्फोट का समर्थन नहीं किया गया है। इस सिद्धान्त के सर्वाधिक आलोचक न्याय-वैशेषिक दार्शनिक रहे हैं। **नैयायिकों** के अनुसार सभी वर्णो का एक ज्ञान उत्पन्न होता है और वही स्फोट का पूर्ण अभिव्यजक है। अतः जब अनेक वर्णों का एक ज्ञान हो सकता है, तो उसी से अर्थ का ज्ञान भी हो सकता है। इसलिए स्फोट की कल्पना निरर्थक है।[19] **जयन्त भट्ट** का कहना है कि स्फोट न तो प्रत्यक्षगम्य है और न अनुमानगम्य ही। अतः यह अमान्य है।[20]

सांख्य दार्शनिको का कहना है कि यदि आनुपूर्वीविशिष्ट वर्णसमुदाय से ही अखण्ड स्फोट की अभिव्यक्ति होती है, तो फिर वर्णसमुदाय से ही अर्थबोध हो जाना चाहिए, व्यर्थ में ही स्फोट की कल्पना क्यों की जाय? **जैन दार्शनिकों** का भी कहना है कि पूर्व वर्णों के नाश से विशिष्ट अंतिम वर्ण से ही अर्थ का बोध हो जाता है। अतः स्फोट की कल्पना अनावाश्यक है। "स्यादवाद रत्नाकर" में **वादिदेवसूरि** ने स्फोटवाद की विस्तृत आलोचना की है।

भाट्ट मीमांसकों ने भी वर्णों में ही वाचकता को स्वीकार करके स्फोटवाद का खण्डन किया है। इनका मत है कि जैसे एकत्रित पदों में वाक्यार्थ रहता है, ठीक उसी प्रकार एकत्रित वर्णों में पदार्थ रहता है। अतएव शब्दों में वर्णो को और वाक्य में पदों को सार्थक मानना चाहिए। **शंकराचार्य** भी स्फोट को आवश्यक नहीं मानते हैं। उनका कहना हैं कि **"शब्द के अवयवभूत वर्ण ही निश्चित अर्थ के साथ सम्बद्ध होते हैं और वर्णों की संहति का उस निश्चित अर्थ के साथ सम्बन्ध नित्य होता है।"** इससे स्पष्ट होता है कि स्फोटवाद भी तर्कसंगत सिद्धान्त नहीं है।

न्याय दार्शनिकों के अनुसार व्यक्ति, आकृति और जाति तीनों शब्दार्थ हैं। इसे **जात्याकृतिव्यक्तिवाद** कहते हैं। शब्द का उच्चारण करने पर श्रोता को तीनों अर्थो में शब्द की

शक्ति का पता चलता है। जैसे, 'गो' शब्द का उच्चारण होने पर श्रोता को एक गाय (व्यक्ति), एक विशेष आकार (गवाकृति) और एक जाति (गोत्व) का बोध होता हैं। लेकिन आकृति के अर्थ को लेकर प्राचीन न्याय और नव्य न्याय में कुछ मतभेद है। **प्राचीन न्याय** के अनुसार **'आकृति'** **शब्द** का अर्थ आकार-अवयव **संस्थान है,** परन्तु **नव्य न्याय** के अनुसार 'आकृति' **शब्द** से जाति और व्यक्ति के सम्बन्ध का ग्रहण होता है। इस प्रकार जहाँ प्राचीन नैयायिक यह मानते हैं कि जाति, आकार और व्यक्ति शब्दार्थ हैं, वहाँ नव्य नैयायिकों का मत है कि जाति, व्यक्ति और उन दोनों का समवाय सम्बन्ध शब्दार्थ है।

न्याय दार्शनिकों के अनुसार उपर्युक्त तीनों में से प्रसंगानुसार एक प्रधान हो जाता है और शेष दो गौण हो जाते हैं।[21] जहाँ क्रिया अथवा भेद की विवक्षा होती है, वहाँ शब्द का प्रधान अर्थ व्यक्ति होता है और आकृति एवं जाति गौण हो जाते हैं।[22] किन्तु जहॉ पर भिन्न रूप में विवक्षा न होकर सामान्य की विवक्षा हो, वहाँ शब्द का अर्थ जाति होगा। इसी प्रकार, जहाँ आकृति की प्रधानता जान पडती हो, वहाँ शब्द का अर्थ आकृति होगा। जाति और व्यक्ति में प्रधानता और अप्रधानता का निर्णय वक्ता की इच्छा पर निर्भर होता है।

नव्य नैयायिकों मे मुख्य रूप से **जगदीश** का मत है कि शब्द का अर्थ **जातिविशिष्ट व्यक्ति** है। इनके अनुसार शब्द का संकेत न केवल व्यक्तिविशेष में है और न केवल सामान्य (जाति) में है, बल्कि शब्द का अर्थ जाति से विशिष्ट व्यक्ति है। अर्थात् जाति से ही व्यक्ति विशेष का अर्थ ज्ञात हो जाता है। इस सिद्धान्त के आधार पर नव्य नैयायिकों ने व्यक्ति को ही शब्दार्थ मानने वालों का खण्डन आनन्त्य दोष के आधार पर कर दिया।

मीमांसकों और **अद्वैत वेदान्तियों** के अनुसार **नैयायिकों** का यह मत गौरवग्रस्त होने से उपेक्षणीय है कि शब्द का अर्थ जातिविशिष्ट व्यक्ति है, क्योंकि सिद्धान्त है कि **"विशिष्ट बुद्धौ विशेषण ज्ञानं कारणं"**, ऐसी परिस्थिति में नैयायिकों की दृष्टि से व्यक्ति का विशेषण जाति है। अतः सर्वप्रथम जाति का ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक होगा। प्रश्न उठता है कि यह किस शब्द से होगा? वह जिस शब्द से होगा, वह विशेषण कहने में उपेक्षणीय हो जायेगा, क्योंकि सिद्धान्त है कि **"विशेष्यं नामिधा गच्छेत् क्षीणशक्ति विशेषणे।"** अभिधा शक्ति की शक्ति विशेषण को कहने में क्षीण हो जाती है, वह विशेष्य तक पहुँच नहीं सकती। इसलिए 'गो' शब्द गोत्व के प्रतिपादन में उपक्षीण होकर 'गो' व्यक्ति के कहने में सर्वथा असमर्थ होगी। यदि यह आग्रह हो कि उसी से विशेष्य का काम चल जायेगा, तो यह भी सिद्धान्त के विरूद्ध होगा, क्योंकि यह सिद्धान्त है कि "शब्दबुद्धिकर्मणां विरम्य व्यापाराभावात्।" अतः उस विशेष्य ज्ञान के लिए अन्य शक्ति की कल्पना करनी पड़ेगी जो गौरव पराहत होगा। इसलिए जाति विशिष्ट व्यक्ति शब्द का अर्थ नहीं है।

शब्दार्थ के बारे मे उपर्युक्त सभी मतो का प्रत्याख्यान करके **मीमांसा** एव **अद्वैत वेदान्त** के आचार्यो ने यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया कि जाति ही शब्द का अर्थ है। यही **जातिवाद** है। इसके अनुसार शब्द की शक्ति केवल जाति में है। **कुमारिल भट्ट** का स्पष्ट कथन है कि शब्द का सकेतित अर्थ जाति है। जैसे, जब कोई व्यक्ति एक बार **'गो'** शब्द का अर्थ जान लेता है, तो पुनः वैसे ही पशु को देखकर समझ जाता है कि वह गाय है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि **'गो'** शब्द की शक्ति गोत्व जाति में है।

उपर्युक्त मत के विरूद्ध सर्वप्रथम आक्षेप यह लगाया जाता है कि लिग, वचन आदि की संगति व्यक्ति के साथ बैठती है। क्रिया का स्वाभाविक सम्बन्ध भी द्रव्य (व्यक्ति) के साथ रहता है। इसलिए शब्द का अर्थ जाति नही हो सकता।

व्यक्ति से भिन्न जाति की प्रमाण सत्ता के विरूद्ध बौद्धों का आक्षेप है कि 'गो' शब्द का अर्थ गोत्व नही हो सकता, क्योंकि वह 'गो' व्यक्ति से भिन्न है, इसमे कोई प्रमाण नहीं है। अत जातिवाद का सिद्धान्त अमान्य है।

नैयायिकों का कहना हैं कि प्रत्यक्ष परिच्छेद में **"जातित्वोपाधित्वपरिभाषायाः सकलप्रमाणागोचरतयाः"** आदि कहकर वेदान्त मत मे जाति और उपाधि का खण्डन किया गया है और यहाँ पदों की शक्ति **'सकलप्रामाणागोचर'** ऐसी जाति में है– ऐसा कहा जा रहा है। यह कैसे सभव है? वेदान्तियों के मत में यदि जाति पदार्थ ही नहीं है, तो वे उसमें शक्ति कैसे मान सकेंगे?

मीमांसकों और **अद्वैत वेदान्तियों** के अनुसार जातिवाद के विरूद्ध उपर्युक्त आक्षेप ठीक नहीं है। व्यक्ति अनन्त हैं। अतः व्यक्ति को शब्द का अर्थ मान लेने पर अनन्त शब्दों की कल्पना करनी पडेगी। इसमें गौरव है। अतः लाघव के लिए जाति में ही शक्ति स्वीकार करना उचित है। जाति व्यक्ति के बिना नही रह सकती, इसलिए वाक्यार्थ बोध के लिए व्यक्ति का आक्षेप कर लिया जाता है –

"जातिमेवाकृतिं प्राहुर्व्यक्तिसक्रियते यथा।
सामान्यं तच्च पिण्डानामेकबुद्धिनिबन्धनामिति।।"[23]

जाति एक और नित्य है। अतः इसके मानने पर अनेक जातियों की कल्पना भी नहीं करनी पड़ेगी। अद्वैत वेदान्तियो का भी यही मत है –

"तच्च जातेरेव न व्यक्तेः, व्यक्तीनामानन्त्येन गुरूत्वात्।
कथं तर्हि गवादि–पदाद् व्यक्तिभानमिति चेत्,
जातेर्व्यक्तिसमान – संवित्संवेद्य त्वादिति ब्रूमः ।।[24]

जाति में जाति की कल्पना करके जातिवाद की आलोचना करना भी उचित नहीं है, क्योंकि सामान्य अथवा जाति की जाति मानना अनौचित्यपूर्ण है।

जाति के विरूद्ध बौद्धो का आक्षेप भी ठीक नही है। **शबर स्वामी** ने बौद्ध मत का दृढता से खण्डन करते हुए कहा है कि जाति मे प्रत्यक्ष ही प्रमाण है। इसलिए प्रत्यक्ष सिद्ध जाति ही शब्द का अर्थ है और इसीलिए **'श्येनचिति चिन्वीत'** इस वैदिक वाक्य की संगति हो सकती है, अन्यथा व्यक्ति को शब्दार्थ मानने पर व्यक्ति के नष्ट हो जाने पर चयन क्रिया सर्वथा असंभव हो जायेगी। इसलिए 'जाति' या 'आकृति' ही शब्द का अर्थ है जैसा कि **मीमांसासूत्रकार** ने कहा है– **"आकृतिस्तु कियार्थत्वात्।"**[25] **अद्वैत वेदान्त** में भी इसी मत का समर्थन किया गया है।

जाति के सन्दर्भ में नैयायिकों का आक्षेप भी ठीक नहीं है, क्योंकि वेदान्तियों ने जाति का खण्डन न करके नैयायिकों की इस परिभाषा का ही खण्डन किया है कि **"जाति अतिरिक्त पदार्थ है"** और इस मत को सुस्थापित किया है कि **"जाति स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है।"** अतः यहाँ शब्द को 'घटात्वादि' आकृतियों का ही वाचक समझना चाहिए। **शंकराचार्य** ने भी "शारीरकभाष्य" (अ० 1.3.27) में **"आकृतिभिश्च शब्दानां सम्बन्धो न व्यक्तिभिः"** इत्यादि कहकर जाति शब्द के स्थान पर **'आकृति'** शब्द की ही योजना की है। अतः नैयायिक जिस अनुगत धर्म को जाति कहते हैं, वह जाति शब्द अनुगत धर्मरूप अर्थ में ही यहाँ प्रयुक्त है। अतः जाति को शब्द का अर्थ मानने मे कोई विरोध नहीं है।

यहाँ एक प्रश्न यह उठता है कि यदि हम यह मान लें कि शब्द का अर्थ जाति है और शक्ति जाति में है, तो फिर व्यक्ति का बोध कैसे होता है? इसके उत्तर में **आचार्य कुमारिल भट्ट** का कहना है कि शब्द से केवल जाति का बोध होता है और जाति के द्वारा व्यक्ति का बोध अनुमान (आक्षेप) की पद्धति से अविनाभाव सम्बन्ध के कारण हो जाता है। **प्रभाकर मिश्र** का कहना है कि शब्द की शक्ति तो जाति में है, परन्तु शब्द सुनने के बाद **'तुल्यवितिवेद्यता'** के आधार पर जातिबोधक सामग्री से ही व्यक्तिबोध भी हो जाता है। **मण्डन मिश्र** के अनुसार शब्द शक्ति से जाति का बोध होता है और व्यक्ति का बोध लक्षणा से होता है। **आचार्य श्रीकर** के अनुसार शब्द शक्ति से जाति का बोध होता है, परन्तु व्यक्ति का बोध अर्थापत्ति से होता है। **वेदान्तपरिभाषाकार** प्राभाकर मत एवं आचार्य श्रीकर के मतों में विद्यमान दोषों को वेदान्तपरिभाषा[26] में उल्लिखित करके यह सिद्ध करते हैं कि लक्षण से ही व्यक्ति का बोध होता है।[27] उनके मत को मान लेने से पाभाकर मिश्र व आचार्य श्रीकर के सिद्धान्तों में विद्यमान दोषों का सहजरूपेण वारण हो जाता है। अतः अद्वैत वेदान्त का मत निर्दोष होने से स्वीकार्य है।

शब्दार्थ का यह विवेचन अभिधा (शक्ति) की दृष्टि से ही किया गया है। अभिधा शब्द की मुख्य वृत्ति है। सामान्य परिस्थिति में शक्ति या अभिधा से ही अर्थबोध होता है, परन्तु विशेष परिस्थिति में **लक्षणा** एवं **व्यंजना** से भी अर्थबोध होता है। अभिधा के अतिरिक्त शेष दोनों का विवेचन यहाँ प्रासंगिक नहीं है। इसलिए उनका विवेचन नहीं किया जा रहा है।

शब्दार्थ सम्बन्ध

शब्दार्थ से जुडा हुआ एक प्रश्न यह है कि शब्द और अर्थ के बीच क्या कोई सम्बन्ध है? यदि है तो उसका स्वरूप क्या है? इन प्रश्नो का विविध दर्शनों में विभिन्न प्रकार से विवेचन किया गया है।

बौद्ध दार्शनिको के अनुसार शब्द और अर्थ के बीच कोई निश्चित सम्बन्ध नहीं है। इसलिए यह सम्बन्ध नित्य भी नहीं है। **विज्ञानवादी बौद्ध दार्शनिकों** के अनुसार जगत् में वाह्य वस्तु की सत्ता ही नही है। अत. सम्बन्धी (वाह्य वस्तु) के अभाव में न तो सम्बन्ध का प्रश्न उठता है और न ही यह सम्बन्ध नित्य हो सकता है। **वाह्यार्थवादी वैभाषिक** और **सौत्रान्तिक** स्वलक्षण और सामान्यलक्षण नामक विषय को मानते है। इनमें से सामान्य लक्षण जो शब्द का वाच्यार्थ माना जाता है, अपोहात्मक है। अर्थात् शब्द का अर्थ अपोह विधि से व्यक्त होता है और चूँकि अपोह कोई सम्बन्ध नहीं है, इसलिए शब्द और अर्थ के बीच कोई निश्चित और नित्य सम्बन्ध नहीं हो सकता। अपोह सिद्धान्त के दोषपूर्ण होने से बौद्धों का यह मत भी निर्दोष नहीं है।

जैनाचार्यों ने शब्द और अर्थ के बीच विद्यमान सम्बन्ध को स्वाभाविक और सामयिक दोनों माना है – **"सहजयोग्यतासंकेतवशाद्धि शब्दादयो वस्तु प्रतिपत्तिहेतवः।"**[28] संकेत से ही शब्द वस्तु के ज्ञान के साधन होते है। परन्तु जैन दार्शनिक शब्द और अर्थ के बीच स्वाभाविक सम्बन्ध को मानते हुए भी नित्य सम्बन्ध नहीं मानते,[29] क्योंकि वे शब्द अर्थ में समवाय, संयोग आदि सम्बन्ध को नहीं मानते हैं। इस प्रकार जैनों का मत व्याकरण व न्याय के मिश्रण पर आधारित है।

सांख्य योग दार्शनिकों के अनुसार शब्द और अर्थ में वाच्य–वाचकभाव पर आधारित सांकेतिक सम्बन्ध है और यह सम्बन्ध नित्य है। जब शब्द और अर्थ के सम्बन्ध पर विचार किया जाता है, तब अर्थ से अभिप्राय वस्तु से न होकर अर्थ के शब्दमय रूप से होता है। शब्द और अर्थ में वाच्य–वाचकभाव सम्बन्ध माना गया है– **"वाच्यवाचकभावः सम्बन्धः शब्दार्थयोः।"**[30] इन दार्शनिकों के अनुसार यह सम्बन्ध नित्य है। **व्यास, वाचस्पति मिश्र** आदि के अनुसार व्यक्तियों को अपने सम्बन्ध का बोध रहता है, किन्तु दूसरे व्यक्ति को इस सम्बन्ध का ज्ञान शब्द अथवा पद प्रयोग द्वारा ही कराया जाता है। इस प्रकार के शब्द प्रयोग से सम्बन्ध की उत्पत्ति नहीं, प्रत्युत् अभिव्यक्ति होती है। अतः शब्दार्थ सम्बन्ध नित्य संकेतद्योत्य है। **वाचस्पति मिश्र** ने शब्दार्थ सम्बन्ध को काल नित्य बताते हुए कहा है कि पूर्व सर्ग में जो शब्द जिस अर्थ का अभिधायक था, वर्तमान काल मे वह उसी अर्थ का वाचक होता है–**"तेन पूर्वसम्बन्धानुसारेण संकेतः क्रियते भगवतेति।....... यद्यपि सह शक्त्या प्रधानसाम्यमुपगतः शब्दस्तथापि पुनराविर्भवैस्तच्छक्तियुक्त एवाविर्भवति।"**[31]

न्याय दार्शनिकों के अनुसार शब्द और अर्थ के बीच सामयिक (साकेतिक) सम्बन्ध है[32] और यह सम्बन्ध अनित्य है। 'इस शब्द से इस अर्थ को समझना' अथवा 'अमुक शब्द अमुक अर्थ का बोधन करे'– इस प्रकार की इच्छा, इस नियम पर आधारित सम्बन्ध को सामयिक सम्बन्ध कहा जाता है। सामयिक सम्बन्ध के ज्ञान से, शब्द श्रवण करने के उपरान्त, अर्थ बोध होता है और जिस व्यक्ति को संकेत का ज्ञान नही है, उसे शब्द श्रवण होने पर भी अर्थ का बोध नहीं होता। यह संकेत ज्ञान अलौकिक पुरूषों (देवताओं व महर्षियों) को अपरोक्षानुभति से तथा लौकिक पुरूषों को व्याकरणशास्त्र या वृद्धव्यवहार द्वारा होता है। अतः स्पष्ट है कि शब्द और अर्थ में स्वाभाविक सम्बन्ध नही है, अपितु इच्छा–प्रसूत होने के कारण देशकालानुसार सामयिक और अनित्य सम्बन्ध है। इस मत का समर्थन **वाचस्पति मिश्र,**[33] **जयन्त भट्ट, विश्वनाथ पंचानन,**[34] **गंगेश उपाध्याय**[35] आदि न्यायाचार्यो ने भी किया है।

वैशेषिक दर्शन मे शब्द के पृथक् प्रमाणत्व का निषेध करके शब्द का अन्तर्भाव अनुमान प्रमाण में किया गया है। वैशेषिकों के अनुसार शब्द से अर्थ का अनुमान होता है। इसलिए शब्द और अर्थ में अनुमान की भाँति व्याप्ति सम्बन्ध नहीं है।[36] इसलिए यह सम्बन्ध सामयिक तथा अनित्य है। वैशेषिको का यह मत आंशिक भिन्नता रखते हुए भी न्याय मत के सदृश है।

महाभाष्यकार पतंजलि, कैयट तथा **भर्त्तृहरि** आदि **वैयाकरणों** के अनुसार शब्द और अर्थ के बीच स्वाभाविक सम्बन्ध है और यह सम्बन्ध नित्य है। **कैयट** के अनुसार अर्थ का बोध कराने की योग्यता शब्द में स्वाभाविक रूप से रहती है। ज्यों ही शब्द का उच्चारण किया जाता है, त्यों ही अर्थ की उपस्थिति हो जाती है। इसके अतिरिक्त, अभिधेय वस्तु के अनित्य होने पर भी उससे शब्द का सम्बन्ध नित्य ही होता है, क्योंकि अर्थ को व्यक्त करने की योग्यता शब्द में होती है और वह नित्य है।

भर्त्तृहरि के अनुसार शब्द से तीन तत्त्वों की प्रतीति होती है। जैसे, 'गो' शब्द के उच्चारण से 1. गो शब्द के स्वरूप का ज्ञान, 2. बाह्यार्थ (गाय नामक पशु) का बोध और 3. वक्ता के अभिप्राय का ज्ञान–

"ज्ञानं प्रयोक्तुर्वाह्योऽर्थः स्वरूपं च प्रतीयते।
शब्दैरुच्चरितैस्तेषां सम्बन्धः समवस्थितः।।"

भर्त्तृहरि का कथन है कि यदि उपर्युक्त तीनों में वास्तविक सम्बन्ध न माना जाय, तो तीनों का साथ-साथ बोध भी नहीं हो सकता। अतः तीनों में स्वाभाविक और नित्य सम्बन्ध मानना आवश्यक है। **हेलाराज** के भी अनुसार शब्द में अर्थबोधक शक्ति अनादि काल से है।

मीमांसासूत्रकार **महर्षि जैमिनि** के अनुसार शब्द और अर्थ का सम्बन्ध किसी कर्त्ता या वक्ता के द्वारा न होकर स्वतः नैसर्गिक एवं नित्य है–**"औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धः।"**[37] इसीलिए शब्द का अर्थ के साथ लौकिक शब्दार्थों की तरह संकेतग्रह की संभावना नहीं है। भाष्यकार **शबर स्वामी** का भी कहना है कि शब्द, अर्थ एवं उनका सम्बन्ध नित्य है तथा वाच्यवाचकभाव पर आधारित है –

"वाच्यवाचक सम्बन्धनित्यता या प्रसाधिता।
शब्दनित्यता सा स्यात् तेन सन्नित्यतोच्यते।।"[38]

कुमारिल भट्ट के अनुसार शब्द और अर्थ के बीच औत्सर्गिक (नैसर्गिक) सम्बन्ध है और यह सम्बन्ध नित्य है। **प्राभाकर** ने इसट परम्परा का भी समावेश किया है।

अद्वैत वेदान्त दर्शन मे भी पूर्व मीमासा के मत का समर्थन करते हुए कहा गया है कि शब्द, अर्थ तथा उनके बीच का सम्बन्ध नित्य है।

उर्ध्व विवेचन से यह स्पस्ट होता है कि शब्दार्थ सम्बन्ध के बारे में मुख्यतः दो मत हैं। एक मतानुसार शब्दार्थ सम्बन्ध नित्य है, जबकि दूसरे के अनुसार यह सम्बन्ध अनित्य है। किन्तु गम्भीरतापूर्वक विचार करने से यह सम्बन्ध नित्य ही सिद्ध होता है। इसकी नित्यता को प्रमाणो, युक्तियो एवं लोकानुभव से सिद्ध किया जा सकता है। **कुमारिल** के अनुसार यह प्रमाणों से सिद्ध हो जाता है– **"सम्बन्धावगमश्च प्रमाणत्रयसम्पाद्यः"**[39] अन्य **मीमांसकों** ने इस सम्बन्ध की नित्यता को युक्तियों से सिद्ध किया है। **पतंजलि** के अनुसार इस सम्बन्ध की नित्यता लोक व्यवहार से भी प्रमाणित होती है –**"सिद्धेशब्दार्थसम्बन्धे। नित्योह्यर्थवतामर्थैरभिसम्बन्धः अभिधानं पुनः स्वाभाविकम्।"**[40]

नैयायिकों का कहना है कि यदि शब्दार्थ सम्बन्ध को नित्य माना जाय, तो किसी व्यक्ति को प्रथम बार ही उसका ज्ञान हे जाना चाहिए। लेकिन ऐसा हमेशा नहीं होता। इससे सिद्ध होता है कि यह सम्बन्ध नित्य नहीं है। इसके विरूद्ध कहा जा सकता है कि शब्द और अर्थ के बीच के सम्बन्ध को यदि कोई व्यक्ति पहली बार में नहीं जान जाता, तो मात्र इस कारण सम्बन्ध का अभाव नहीं माना जा सकता। प्रकाशाभाव में यदि आँख किसी वस्तु को न देख पाये, तो इससे यह सिद्ध नहीं होता कि आँख देख ही नहीं सकती। इसी प्रकार शब्द से शक्ति–ग्रह के अभाव में प्रथम बार अर्थ ज्ञात नही होता, तो इसका अर्थ यह नहीं है कि शब्द और अर्थ में कोई सम्बन्ध ही नही है। शब्दार्थ के बीच यदि सम्बन्ध को न माना जाय तो **'गाय लाओ'** कहने पर गाय का लाना संभव नहीं होगा।[41] वस्तुतः, शब्द की उत्पत्ति नही होती, बल्कि अभिव्यक्ति होती है। शब्द के अन्दर अभिव्यक्ति का गुण उसके अपने स्वभाव से है। शब्द तथा उनसे निर्दिष्ट शब्दार्थ (पदार्थ) दोनों नित्य हैं और अज्ञातकाल से मनुष्य उन्हीं शब्दार्थों के लिए उन्हीं शब्दों का प्रयोग करते आये हैं। इससे भी सिद्ध होता है कि शब्दार्थ सम्बन्ध नित्य है।

वाक्य का स्वरूप

शब्द के स्वरूप, शब्दार्थ तथा शब्दार्थ सम्बन्ध का विवेचन करने के पश्चात् शब्द प्रमाण के सन्दर्भ में वाक्य के स्वरूप तथा वाक्यार्थबोध की पद्धति के बारे में विचार करना आवश्यक प्रतीत होता है। सामान्यतः शब्दों के समूह को वाक्य कहा जाता है। वक्ता अपने अभिप्राय को

श्रोता तक पहुँचाने हेतु इस समूहभूत वाक्य का प्रयोग करता है। शब्दो के समूह (वाक्य) मिलकर एक पूर्ण अर्थ का अभिधान करते हैं। किन्तु पदों का प्रत्येक समूह वाक्य नहीं कहा जा सकता है। एक विशेष स्थिति में उच्चरित होने पर ही सार्थक पदों का समूह वाक्य कहा जाता है। वाक्य–ज्ञान के लिए वाक्यगत पदों में परस्पर आकांक्षा, योग्यतादि का होना आवश्यक है। वाक्यजन्य ज्ञान में ये ही कारण है। **न्याय दर्शन** मे वाक्य मे अर्थबोधकता को सिद्ध करते हुए आकांक्षा, योग्यता एवं सन्निधि से समन्वित पदों के समूह को वाक्य कहा गया है– **"वाक्यंत्वाकांक्षायोग्यतासन्निधिमतां पदानां समूहः।"**[42] **मीमांसकों** के अनुसार वाक्य वह है जिसमें विभिन्न शब्द निश्चित सान्निध्य में रहते हैं तथा अर्थ की अभिव्यक्ति करने में समर्थ होते हैं। मीमांसक योग्य वाक्य रचना मे आकांक्षा, योग्यता, सन्निधि (आसत्ति) को कारण मानते हुए कहते है कि आकांक्षा, योग्यता व आसत्ति के कारण परस्पर समन्वित पदों का समूह वाक्य है– **"वाक्यं आकांक्षा योग्यता सन्निधिवशात् स्वार्थं प्रतिपादयति।"** कुछ मीमांसक ऐसे पदों के समूह को वाक्य की संज्ञा प्रदान करते हैं जो कर्त्ता, कर्म व क्रिया से सम्बद्ध होते हैं– **"वाक्यं कर्तृकर्मक्रिया पद समूहः।"** "**न्याय दार्शनिक** वाक्य को क्रिया प्रधान तो मानते हैं, परन्तु साथ ही वे क्रियावाचक शब्द के न होने पर भी शक्त पदों के साथ रहने मात्र से भी अर्थबोध मानते हैं। जैसे, **"त्रिभुवन तिलको भूपतिः"**, इस वाक्य में वे दोनों प्रकार के वाक्यों की स्वतंत्र सत्ता मानते हैं। **जैनाचार्य यशोविजय** के अनुसार परस्पर साकांक्ष पदों का समुदाय ही वाक्य है– **"अन्योऽन्यापेक्षणां पदानां समुदायो वाक्यम्।"**[43]

वैयाकरण आचार्य पतांजलि ने प्राचीन आचार्यों के विभिन्न लक्षणों का संग्रह करते हुए वाक्य के चार लक्षण दिये हैं–[44]

1. **"आख्यातं साव्ययकारकविशेषणं वाक्यं।"** आर्थात् वाक्य में क्रिया हो और उसके साथ अव्यय, कारक, विशेषण में से एक या सभी हों।
2. **"सक्रियाविशेषणं च।"**
3. **"आख्यातं सविशेषणं।"** अर्थात् उस क्रिया को वाक्य कहते हैं जिसके साथ विशेषण हो।
4. **"एक तिङ्।"** अर्थात् एक तिङन्त को वाक्य कहते हैं। जैसे, ब्रूहि।

वाक्य के स्वरूप के बारे में उर्ध्व विवेचन से स्पष्ट होता है कि अधिकांश भारतीय दर्शनों में आकांक्षा योग्यता व आसत्ति से युक्त पदों के समूह को वाक्य कहा गया है और इन्हें ही वाक्य गठन का आधारभूत तत्त्व माना गया है। किन्तु नव्य न्याय और अद्वैत वेदान्त में उपर्युक्त के अतिरिक्त तात्पर्य ज्ञान को भी वाक्यार्थ–बोध में प्रमुख कारण माना गया है– **"वाक्यजन्यज्ञाने च आकांक्षायोग्यताऽऽसत्तयस्तात्पर्यज्ञानं चेति चत्वारि कारणानि।"**[45]

यहाँ विचारणीय प्रश्न यह है कि तात्पर्य ज्ञान को वाक्य ज्ञान का कारण माना जाय या

न माना जाय? लेकिन इससे पूर्व तात्पर्य का अर्थ निश्चित करना आवश्यक है। **नैयायिकों** के अनुसार **"वक्तुरिच्छा तु तात्पर्यम्।"** अर्थात् वक्ता की इच्छा ही तात्पर्य है। लेकिन नैयायिको द्वारा तात्पर्य का निर्धारित उपर्युक्त लक्षण निर्दुष्ट नहीं है, क्योंकि इस लक्षण को मान लेने पर संस्कृत भाषानभिज्ञ व्यक्ति द्वारा कहे गये वेदवाक्य के अर्थ का ज्ञान ही नहीं हो सकेगा, क्योंकि वक्ता अव्युत्पन्न है। इस कारण **'मेरे द्वारा कहे गये इस वेदवाक्य से श्रोता को अमुक अर्थ की प्रतीति हो'** ऐसी इच्छा से वह वेदवाक्य उसके द्वारा कहा जाना संभव ही नहीं है। इसके अतिरिक्त, वक्ता को अर्थ ज्ञान हो, चाहे न हो, किन्तु उसके द्वारा **'अग्निमीले'** अक्षरो का उच्चारण होते ही सुनने वाले व्युत्पन्न व्यक्ति को तत्काल 'मैं अग्नि की स्तुति करता हूँ', इस अर्थ की प्रतीति होती दिखाई देती है। अतः न्याय द्वारा निर्धारित तात्पर्य का लक्षण अमान्य है। तो प्रश्न है कि तात्पर्य का लक्षण क्या है?

अद्वैत वेदान्त के अनुसार पदार्थो के ससर्ग का अनुभव उत्पन्न करने की वाक्य में योग्यता का होना ही तात्पर्य है– **"तत्प्रतीति–जनन–योग्यत्वं तात्पर्यम्।"**[46] जैसे, 'घर में घट है', इस वाक्य के कहे जाने पर, वक्ता को उस वाक्य के अर्थ का ज्ञान हो या न हो, किन्तु उस वाक्य मे गृह और घट के आधाराधेयभावरुप सम्बन्ध का ज्ञान करा देने की योग्यता रहती है। इस कारण श्रोता को विवक्षित अर्थ का बोध होता है। अर्थात् वाक्य में गृह और घट के आधाराधेयभावरूप सम्बन्ध का ज्ञान करा देने की जो योग्यता रहती है, उसका ज्ञान ही तात्पर्य ज्ञान है। इस तात्पर्य ज्ञान से ही सर्वत्र शाब्दबोध होता है। यह तात्पर्य निश्चय (यह वाक्य इसी अर्थ का बोधक है– यह निश्चय) वाक्यार्थ प्रतीति के अन्वय–व्यतिरेक से ही होता है। इससे सिद्ध होता है कि बिना तात्पर्य ज्ञान के वाक्यर्थबोध नहीं हो सकता है। वाक्य ज्ञान के लिए वाक्य में पदार्थों के संसर्ग का अनुभव उत्पन्न करने की योग्यता का होना आवश्यक है और यह बिना तात्पर्यज्ञान के संभव नहीं है। अतः तात्पर्य ज्ञान को वाक्यार्थबोध का कारण मानना आवश्यक है। वाक्यार्थज्ञान में जहाँ वाक्य के अर्थ को लेकर संशय की उत्पत्ति होती है, उसकी निवृत्ति भी तात्पर्यज्ञान से ही होती है।[47]

नव्य नैयायिक भी वाक्यार्थ बोध के लिए तात्पर्यज्ञान को आवश्यक मानते हैं। उनका कहना है कि विभिन्न स्थानों में एक ही पद के कई अर्थ हो सकते हैं। किसी विशेष स्थान पर वक्ता के कथन का क्या अर्थ होगा, यह जानने के लिए तात्पर्यज्ञान आवश्यक है। जैसे, यदि किसी व्यक्ति से कहा जाय कि **'सैंधव'** लाओ, तो वह मुश्किल में पड़ जायेगा कि वह नमक लाये या घोडा लाये, क्योंकि सैंधव के दोनों ही अर्थ होते हैं। किन्तु यदि हम वक्ता के तात्पर्य (अभिप्राय) की सहायता लें तो फिर हम समझ सकते हैं कि वह क्या चाहता है। इससे सिद्ध होता है कि वाक्यार्थ बोध के लिए तात्पर्यज्ञान आवश्यक है।

वाक्यार्थबोध की विधियाँ

वाक्यार्थबोध के प्रसग में मुख्यत. चार मत दृष्टिगोचर होते है। पहला मत **वैयाकरणों** का है। इसके अनुसार वाक्य ही वाक्यार्थ का बोधक होता है। इस वाक्यार्थ में धात्वर्थ को ही मुख्य विशेष्य माना जाता है और पदार्थ उसी में विशेषण के रुप में प्रतीत होते हैं।

किन्तु वैयाकरणों का मत उचित प्रतीत नहीं होता, क्योंकि वाक्य निरवयव होते हैं और वाक्यार्थ भी निरवयव होता है। किसी समय वाक्य का एक देश विस्मृत हो जाने पर भी वाक्यार्थ निकल आता है, यह सभी का अनुभव है। किन्तु वैयाकरणों के मत को मान लेने पर उस अनुभव का अपलाप करना पडेगा। किञ्च, वैयाकरणों के मतानुसार कर्मानुष्ठान में किये जाने वाले ऊह, बाध आदि पदार्थो का बाध करना पडेगा। इसलिए वैयाकरण मत उपेक्षणीय है।

दूसरा मत **तार्किकों** का है। इस मत के अनुसार प्रथमान्त पद से उपस्थापित अर्थ को विशेष्य माना जाता है और पदार्थ उसी में विशेषणरुप से प्रतीत होते है। किन्तु तार्किकों का मत भी विचार की कसौटी पर खरा नहीं उतरता। तार्किकों का नियम सर्वत्र एक सा नहीं है। **गदाधर भट्टाचार्य** ने "व्युत्पत्तिवाद" मे कहा है कि 'भूतल घटो नास्ति' इत्यादि स्थलो में तार्किकों का नियम लागू नहीं होता। अतः यह नियम सीमित है। अन्य दार्शनिकों ने तो इनके नियम को विचार की कोटि में स्थान ही नहीं दिया है। यही बात **मधुसूदन सरस्वती** ने **'अद्वैतसिद्धि'** के "अखण्डार्थवाद" में कही है। इसलिए तार्किकों का मत भी ठीक नहीं है।

तीसरा मत **प्राभाकर मीमांसकों** का है जो **अन्विताभिधानवाद** के नाम से प्रसिद्ध है। इस मत के अनुसार वाक्य तो पद समुदाय रुप है, अर्थात् पद ही वाक्य है और पदार्थ ही वाक्यार्थ है। अभिप्राय यह है कि पद अन्वित अर्थ को बताता है। अर्थात् वह पद अन्वय को भी कहता है और पदार्थ को भी बताता है–

"सकलपदान्तरपूर्तावितरपदार्थैः समन्वितं स्वार्थम्।
सर्वपदानि वदन्तीत्यन्येषामन्विताभिधानतम् ॥"[48]

अर्थात् अन्वित अर्थ को बताने वाले पद ही अन्वय को भी बताते हैं, क्योंकि पद की अन्वय तथा अर्थ में शक्ति है। इस मत में ऐसा कार्य-कारण भाव सिद्ध होता है कि तदर्थ विषयक शब्दबोध के प्रति उस पद मे रहने वाली जो शक्ति है, उसके ज्ञान के अधीन तदर्थ विषयक उपस्थिति कारण होती है– **"तद्विषयक शाब्दबोधत्वेन तत् पदनिष्ठशक्तिग्रहाधीन तद्विषयक उपस्थितिकारणम्।"** अर्थात् **"तद्विषयक शाब्दबोधत्वेन तद् पदनिष्ठशक्तिग्रहाधीन तद्विषयकोपस्थितित्वेन कार्यकारणभावः।"** यह प्राभाकर मीमांसकों का मत है। उनका कथन है कि –

"पदार्थानेव वाक्यार्थमिथ संगतिशालिनः।
आचक्षते विधीयन्ते पदैस्ते च तथाविधाः॥"[49]

प्राभाकर मीमासकों का अन्विताभिधानवाद भी सन्तोषजनक नहीं है। इस मत मे पदो की अन्वय तथा अर्थ में दो शक्तियाँ माननी पडती है। इसलिए गौरव प्रतीत होता है और लाक्षणिक स्थल में अन्विताभिधान का होना संभव नही है। सूत्र, भाष्य आदि से भी इसका विरोध है। इस कारण भी यह मत ग्राह्य नही है। **पार्थसारथि मिश्र** ने इस मत का विशद रुप से खण्डन किया है।

इसके अतिरिक्त अन्विताभिधानवाद में निम्नलिखित दोष सहजतया देखे जा सकते हैं–

1. पदों का स्वतन्त्र अर्थ स्वीकार न करने से किसी पद से जाति, द्रव्य, गुण, क्रिया आदि अर्थो का ज्ञान संभव नहीं है, जबकि यह बात अव्यावहारिक है।[50]

2. पद से अन्वित पदार्थो का अभिधान स्वीकार करने पर वाक्य के प्रथम पद से शेष पदार्थों द्वारा अन्वित पदार्थो का अभिधान स्वीकार करना होगा। ऐसी स्थिति में वाक्य के प्रथम पद से ही वाक्यार्थ ज्ञान होना चाहिए और शेष पद निरर्थक होने चाहिए।

3. यदि प्राभाकर यह स्वीकार करें कि एक पद अन्य पदों से मिलकर पूर्वपद का ज्ञान कराता है, तो भी उचित नहीं है क्योंकि यह पदान्तर पदार्थ का अभिधान करता हुआ ही पूर्व पद के अर्थ को निश्चित करेगा। ऐसी स्थिति में अभिहितान्वयवाद को स्वीकार करना ही पड़ता है– **"अर्थ प्रतिपादनेन तु पदान्तरं यदि नियमहेतु:? सोऽयमभिहितानामर्थानामन्वयः उक्तो भवति।"**[51]

अभिहितान्वयवाद चतुर्थ मत है जिसका प्रतिपादन **भाट्ट मीमांसकों** ने किया है तथा जो जयन्त भट्ट के अतिरिक्त अन्य नैयायिकों तथा अद्वैत वेदान्तियों द्वारा समर्थित है। इस मत में पदों से सर्वप्रथम अन्वित पदार्थो का अभिधान स्वीकार किया गया है, पुनः अभिहित पदार्थों में परस्परान्वय के द्वारा वाक्यार्थ ज्ञान होता है। अभिहित पदार्थ वाक्य के शेष पदार्थों से संतुष्ट होते है और तब वाक्यार्थबोध होता है।इसलिए अभिहितान्वयवादी आचार्य वाक्यार्थ ज्ञान पदार्थों से स्वीकार करते हैं। **कुमारिल**[52] और **पार्थसारथि**[53] दोनो यह स्वीकार करते हैं कि पद अपनी अभिधात्री शक्ति से केवल पदार्थ का ज्ञान कराते हैं और अभिहित पदार्थों की आकांक्षा, योग्यता और सन्निधि के फलस्वरुप वाक्यार्थ का ज्ञान होता है। पदों से वाक्यार्थ का कोई सीधा सम्बन्ध नहीं होता। **शबर** की मान्यता है कि पद अपने–अपने अर्थ का अभिधान करके व्यापार–शून्य हो जाते हैं। इसके बाद अवगत पदार्थ वाक्यार्थ का ज्ञान कराते हैं– **"पदानि हि स्वं स्वं पदार्थमभिधाय निवृत्तव्यापाराणि। अथेदानीं पदार्था अवगताः सन्तोः वाक्यार्थं गमयन्ति।"**[54] कुमारिल ने यह स्पष्ट नहीं किया है कि अभिहित पदार्थों के संसर्ग का ज्ञान किस प्रकार होता है और क्यों होता है? **पार्थसारथि मिश्र** ने इस दोष का निवारण करते हुए दो प्रकार की मान्यताएँ प्रस्तुत की हैं। **"न्यायरत्नमाला"** में पार्थसारथि ने संसर्ग ज्ञान का हेतु लक्षण को माना है, जबकि दूसरी ओर

"श्लोकवार्तिक" की टीक **"न्यायरत्नाकर"** में संसर्ग ज्ञान के लिए तात्पर्य को पृथक् शक्ति माना है।[55] अन्यत्र भी पदार्थो का संसर्ग पदों की **लक्षणा** शक्ति से स्वीकृत है।[56] इस प्रकार भाट्टमत मे पद पदार्थ के स्वरुप के ही वाचक होते हैं। वे आकाक्षा, योग्यता, आसत्तिरुप सहकारी कारणों से युक्त होकर लक्षणा से वाक्यार्थ का बोध कराते हैं।

अभिहितान्वय मत में अभिहित पदार्थों का अन्वय चूँकि आकांक्षा, योग्यता और सन्निधि के कारण स्वीकृत है, अत· केवल उन्हीं पदार्थों का परस्पर अन्वय होता है जो परस्पर आकांक्षा, योग्यता या सन्निधि से युक्त होते है। इस प्रकार **"अङ्गुल्यग्रे हस्तियूथशतमास्ते"** आदि प्रलापो से वाक्यार्थ का ज्ञान नही होगा, क्योंकि यहॉ पदार्थों मे योग्यता का अभाव है। अन्विताभिधान मत से ऐसे वाक्यों का अर्थ भी स्वीकार करना होगा जो दोषपूर्ण हैं। इस प्रकार अन्विताभिधानवाद की अपेक्षा भाट्टों का अभिहितान्वयवाद निरवद्य प्रतीत होता है। वस्तुतः अन्विताभिधानवाद में प्रधानतः कुल तीन पक्ष है–

1– कार्यान्वित अर्थ मे शक्ति है,

2– इतरान्वित अर्थ में शक्ति है, और

3– अन्वित अर्थ में शक्ति है।

इनमें से पहले दोनों पक्षों का गौरव आदि दोष के कारण खण्डन कर दिया गया है और अन्वित पक्ष का विवरणप्रस्थानानुयायियों ने समर्थन किया है। **मण्डन मिश्र** तथा **वाचस्पति मिश्र** प्रभृत्तियों ने अन्विताभिधानवाद का खण्डन करके अभिहितान्वयवाद का ही समर्थन किया है। **चित्सुाखचार्य** ने भी इसी पक्ष को अपनाया है। अतः अभिहितान्वयवाद को सिद्धान्त रुप में स्वीकार किया जा रहा है।

शब्द के भेद

शब्द को पृथक् प्रमाण मानने वाले दर्शनों में शब्द प्रमाण के भेदों का भी विवेचन किया गया है, जो अधोवत् रुप में प्रस्तुत है–

सांख्य–योग दर्शन में शब्द प्रमाण के दो भेद माने गये हैं **–लौकिक** और **वैदिक।** साधारण विश्वास प्राप्त व्यक्तियों के आप्तवचन को लौकिक शब्द कहते हैं। सांख्य इसे स्वतन्त्र प्रमाण की कोटि में नहीं रखता, क्योंकि यह प्रत्यक्ष और अनुमान पर आश्रित है। श्रुति या वेद–वाक्य ही शब्द प्रमाण की कोटि में आता है। वैदिक वाक्य हमें उन अगोचर विषयों का ज्ञान कराते हैं जो प्रत्यक्ष या अनुमान के द्वारा नहीं जाने जा सकते। अपौरुषेय होने के कारण वेद उन सभी दोषों और त्रुटियों से रहित हैं जो लौकिक वाक्यों में संभव है। वैदिक वाक्य अभ्रान्त और स्वतः प्रमाण हैं, क्योंकि वे द्रष्टा ऋषियों के ज्ञान या इच्छा पर आश्रित नहीं है, प्रत्युत् सर्वदेशीय और सर्वकालिक सत्य हैं। इस तरह वेद अपौरुषेय हैं। फिर भी वे नित्य नहीं माने जा सकते,

क्योकि वे द्रष्टा ऋषियो के दिव्य अनुभवो से उत्पन्न होते हैं और सनातन पठन–पाठन की परम्परा से सुरक्षित रहते है।

न्याय दर्शन में शब्द प्रमाण के दो भेद माने गये हैं– **दृष्टार्थ** और **अदृष्टार्थ**। दृष्टार्थ शब्द प्रमाण वह है जिससे ऐसी वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त होता है जिनका प्रत्यक्ष हो सके। जैसे– साधारण मनुष्य तथा महात्माओ के विश्वासयोग्य वचनादि। अदृष्टार्थक शब्द प्रमाण वह है जिससे अदृष्ट वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त होता। जैसे–परमाणु, पाप–पुण्य, ईश्वर, जीव की नित्यता आदि।

एक अन्य वर्गीकरण के अनुसार न्याय दर्शन में शब्द प्रमाण के दो अन्य भेद माने गये हैं– **वैदिक** और **लौकिक**।[57] वैदिक शब्द स्वय ईश्वर के वचन होते है। अतः वे निर्दोष एवं निर्भ्रान्त होते है। किन्तु लौकिक शब्द सभी सत्य नहीं होते। ये मनुष्यों के वचन हैं, अतः सत्य या मिथ्या भी हो सकते हैं। लौकिक शब्द केवल वे ही सत्य होते हैं, जो विश्वासयोग्य व्यक्तियों के वचन होते हैं।

उल्लेखनीय है कि न्याय दर्शन में शब्द का प्रथम प्रकार–भेद ज्ञातव्य विषयों के स्वरूप के अनुसार हुआ है, जबकि दूसरा प्रकार–भेद शब्द की उत्पत्ति के सम्बन्ध में हुआ है। किन्तु दोनों से ही यह पूर्णतया स्पष्ट है कि नैयायिकों के अनुसार शब्द की उत्पत्ति किसी व्यक्ति से ही होती है–चाहे वह व्यक्ति कोई मनुष्य हो या ईश्वर। इसलिए न्याय दर्शन में शब्द को पौरुषेय माना गया है।

पूर्वमीमांसा दर्शन में शब्द प्रमाण के दो भेद माने गये हैं– **पौरुषेय** (लौकिक) और **अपौरूषेय** (वैदिक)। आप्त (विश्वस्त) व्यक्ति का कथित या लिखित वचन पौरुषेय कहलाता है। वेद वाक्य अपौरुषेय माना जाता है। वेद वाक्य दो प्रकार का होता है– **सिद्धार्थ वाक्य** और **विधायक वाक्य**। सिद्धार्थ वाक्य वह है जिससे किसी सिद्ध विषय के बारे में ज्ञान होता है और विधायक वाक्य वह है जिससे क्रिया के लिए विधि या आज्ञा सूचित होती है। वेद के वाक्य–विशेषतः कर्त्तव्य क्रिया के विधायक वाक्य जो यज्ञादि के सम्पादनार्थ कर्त्तव्य का निर्देश करते हैं– मीमांसा की दृष्टि मे अपौरुषेय और स्वतः प्रमाण हैं। मीमांसा वेद को मनुष्य–कर्त्तक या ईश्वर कर्त्तक नही मानती है। इसलिए वह वेद को अपौरुषेय मानती हैं। लौकिक या पौरुषेय वाक्यों को वे प्रामाणिक नहीं मानते, क्योंकि उनके अनुसार इन वाक्यों के दोषपूर्ण होने की सदैव संभावना बनी रहती है। लेकिन **भाट्ट मीमांसक** वैदिक या अपौरुषेय वाक्यों की प्रामाणिकता को तो मानते ही हैं, साथ ही उनका यह भी कहना है कि लौकिक वाक्यों की भी प्रामाणिकता मानी जा सकती है, बशर्ते ये वाक्य आप्त पुरुषो द्वारा उच्चरित हों।

अद्वैत वेदान्त में भी शब्द के दो भेद माने गये हैं– **वैदिक** और **लौकिक**। लौकिक वाक्य जिस अर्थ को बताते हैं, वह प्रत्यक्षादि अन्य प्रमाणों से अवगत रहता है, अपूर्व नहीं होता। इस कारण लौकिक वाक्यों में सिद्ध वस्तुओं का अनुवादकत्व ही रहता है। उनका प्रामाण्य

वेदाधारित होता है। किन्तु वैदिक वाक्य जिस अर्थ को बताते हैं, वह पहले किसी भी अन्य प्रमाण से ज्ञात नही रहता। इसलिए वैदिक वाक्य अनुवाद न होकर अपूर्व (पुरुष बुद्धि से अगम्य) अर्थ का प्रतिपादन करते हैं। इसी कारण उनमे अज्ञातार्थज्ञापकत्वरुप प्रामाण्य होता है– **"तत्र लौकिक–वाक्यानां मानान्तरागतार्थानुवादकत्वम्। वेदे तु वाक्यार्थस्यापूर्वतया नानुवादकत्वम्।"**[58]

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि सांख्य,योग, न्याय, मीमांसा एवं अद्वैत वेदान्त दर्शनों में वैदिक वाक्य को प्रामाणिकता प्रदान की गयी है। किन्तु वेद के बारे में इनमें व्यापक मतभेद है। **न्याय दर्शन** में वेद को पौरुषेय और नित्य माना गया है, जबकि **मीमांसा** वेद को अपौरुषेय और नित्य मानती है। नैयायिको के अनुसार वेद चूँकि नित्य एवं सर्वज्ञ परमेश्वर की कृति है, इसलिए वे नित्य एवं प्रामाणिक है। ईश्वर प्रणीत होने के कारण उनमें कर्त्तृदोष नहीं है। मीमांसा चूँकि ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करती, इसलिए वह वेद को अपौरुषेय मानती है। उसके अनुसार अपौरुषेय होने से वेद नित्य हैं। अपौरुषेय होने से ही वेद में पुरुषगत समस्त दोषों का अभाव है, इस कारण वे प्रामाणिक हैं। वेदकर्त्ता पुरुष में ईश्वरत्व होने पर भी उसमें भक्तपक्षपात आदि दोषों का होना संभव है। इस कारण बौद्ध प्रणीत आगम के समान वेदों में भी दोष हो सकते हैं। किन्तु अपौरुषेय एवं नित्य होने से उनमें समस्त पुरुषगत दोषों का निरास हो जाता है।

किन्तु वेद के बारे में अद्वैत वेदान्त का मत उपर्युक्त मतों से भिन्न एवं अधिक ग्राह्य है। **अद्वैत वेदान्त** के अनुसार वेदार्थ तो अवश्य नित्य हैं, किन्तु स्वयं मन्त्र नित्य नहीं हैं, क्योंकि ईश्वर प्रत्येक सृष्टि के आरम्भ मे फिर से उनका उच्चारण करता है। अद्वैत वेदान्ती यह मानते हैं कि वेद अक्षरो, शब्दों एवं वाक्यों के संग्रह हैं और उनके अस्तित्व का प्रारम्भ सृष्टि से प्रारम्भ होता है तथा उनका विलोप प्रलय के साथ ही हो जाता है, उसी प्रकार जैसे आकाश तथा अन्य तत्त्व उत्पन्न एवं विनष्ट होते हैं।[59] इस प्रकार अद्वैत वेदान्त में वेद को अपौरुषेय किन्तु अनित्य माना गया है। चूँकि परमार्थतः ईश्वर की सत्ता नहीं है, इसलिए वेद अनित्य हैं। वेदान्त का यह मत शास्त्रसम्मत एवं तर्कसम्मत है। सांख्य दर्शन में भी वेद को अनित्य माना गया है।

शब्द प्रमाण के समग्र समस्त पक्षों पर उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता हैं कि विभिन्न भारतीय दर्शनों में शब्द प्रमाण को भिन्न भिन्न रूपों में परिभाषित किया गया हैं, लेकिन अद्वैत वेदान्त की यह परिभाषा अधिक मान्य प्रतीत होती है कि कोई भी कथन उसके द्वारा उपलक्षित अर्थों में निर्दोष प्रमाण है, यदि किसी अन्य प्रमाण के द्वारा वह असत्य सिद्ध न कर दिया जाय– **"यस्य वाक्यस्य तात्पर्यविषयीभूत संसर्गोमानान्तरेण न बाध्यते तद् वाक्यं प्रमाणम्"**।[60] शब्द प्रमाण की इस परिभाषा में **'वाक्यस्य'** पद से अन्य प्रमाणों से शब्द या आगम का भेद तो **स्पष्ट होता ही है, साथ ही शब्द** प्रमाण काअनुमान प्रमाण में अर्न्तभाव किये जाने का खण्डन भी

हो जाता है। जहॉ तक शब्द के प्रामाण्य का प्रश्न है, चार्वाक, बौद्ध, और वैशेषिक दार्शनिक शब्द प्रमाण का अन्तर्भाव अनुमान में करते है। किन्तु यह उचित नहीं है, क्योंकि अनुमान का आधार व्याप्ति ज्ञान है, जबकि आगम (शब्द) व्याप्ति निरपेक्ष है। अतः उसका अन्तर्भाव अनुमान में नहीं किया जा सकता— **"न च व्याप्ति ग्रहणवलेनार्थप्रतिपादकत्वात् धूमवदस्य अनुमानेऽन्तर्भावः।"**[61] पुनश्च, शब्द प्रमाण का ज्ञान आकाक्षा, योग्यता, आसक्ति और तात्पर्य ज्ञान की सहायता से होता हैं अनुमान मे इनका अनुभव नहीं होता। इसलिए शब्द का अन्तर्भाव अनुमान में नहीं हो सकता। उसका पृथक् प्रमाणत्व सिद्ध है।

इसी तरह शब्दार्थ विचार के सन्दर्भ में **व्यक्तिवाद, आकृतिवाद, अपोहवाद, स्फोटवाद, जात्याकृतिव्यक्तिवाद, जातिविशिष्ट व्यक्तिवाद तथा जातिवाद** नामक सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है। इन विभिन्न सिद्धान्तों का मूल्यांकन करने पर यह स्पष्ट होता है कि **जाति ही शब्द का अर्थ है।** इसे **'जातिवाद'** कहा जाता है। यह सिद्धान्त अन्य सिद्धान्तों की तुलना में अधिक तर्कसंगत है। अतः इसे ही सिद्धान्त रूप में स्वीकार किया जाता है। शब्दार्थ विवेचन प्रकरण में इस सन्दर्भ में विस्तृत विचार किया गया है। **शब्दार्थ सम्बन्ध** के बारे में भी विभिन्न दर्शनों में भिन्न–भिन्न मतों का प्रतिपादन किया गया है, जिनसे मुख्यतः दो विचार सामने आते है। **जैन, न्याय** और **वैशेषिक** के अनुसार शब्द और अर्थ के बीच **अनित्य सम्बन्ध** है, जबकि **सांख्य, व्याकरण, मीमांसा** व **अद्वैत वेदान्त** के अनुसार उनमें **नित्य सम्बन्ध** है। **क्षणिकवादी बौद्ध** शब्द और अर्थ के बीच कोई सम्बन्ध नहीं मानते। अनित्यवादी नैयायिकों को अनुसार यदि शब्दार्थ सम्बन्ध को नित्य मान लिया जाय, तो किसी व्यक्ति को प्रथम बार ही उसका ज्ञान हो जाना चाहिए, जबकि ऐसा नहीं होता। लेकिन इसके विरूद्ध यह कहा जा सकता है कि शब्दार्थ सम्बन्ध को यदि कोई व्यक्ति पहली बार में नही जान पाता तो इससे यह सिद्ध नहीं होता कि दोनों में सम्बन्ध का अभाव है या यह सम्बन्ध अनित्य है। वस्तुतः शब्द की उत्पत्ति नहीं होती, बल्कि अभिव्यक्ति होती है। शब्द के अन्दर अभिव्यक्ति का गुण उसके अपने स्वभाव से है। शब्द तथा उससे निर्दिष्ट शब्दार्थ दोनों नित्य हैं और आज्ञातकाल से मनुष्य उन्हीं शब्दार्थों के लिए उन्हीं शब्दों का प्रयोग करते आये हैं। इससे स्पष्ट होता है कि शब्दार्थ सम्बन्ध नित्य है। जहाँ तक शब्द प्रमाण में **वाक्य विवेचन** का सवाल है, **समान्यतः एक विशेष स्थिति में उच्चरित होने वाले सार्थक पदों के समूह को वाक्य कहते हैं।** वाक्य ज्ञान के लिए वाक्यगत पदों में परस्पर **आकांक्षा, योग्यता** एवं **आसत्ति** का होना आवश्यक हैं,[62] किन्तु **अद्वैत वेदान्ती**[63] एवं **नव्य नैयायिक 'तात्पर्य ज्ञान'** को भी वाक्यबोध के लिए आवश्यक मानते हैं। वस्तुतः वाक्यज्ञान के लिए वाक्य में पदार्थों के संसर्ग का अनुभव उत्पन्न करने की योग्यता भी होना चाहिए और यही तात्पर्यज्ञान है। इस तात्पर्य ज्ञान से ही सर्वत्र शब्दबोध होता है। अतः **तात्पर्य ज्ञान को भी वाक्यजन्यज्ञान में कारण मानना चाहिए। वाक्यार्थ बोध** के सन्दर्भ में मुख्यतः चार मत हैं।

प्रथम मत **वैयाकरणों** का है, द्वितीय **तार्किकों** का हैं तृतीय **प्राभाकर मीमांसकों** का है और चतुर्थ मत **भाट्ट मीमांसकों** का है जिसका समर्थन **अद्वैत वेदान्तियों** ने भी किया है। मेरी दृष्टि मे अन्य मतो की तुलना में भाट्टो का **अभिहितान्वयवाद** अधिक तर्कसंगत है। इसका विस्तृत विवेचन वाक्यार्थबोध प्रकरण मे किया गया है।

शब्द के मुख्यतः **दो भेद** किये गये है—**वैदिक** और **लौकिक** वैदिक शब्द प्रमाण को सभी दार्शनिक प्रामाणिक मानते हैं, लेकिन वेद के बारे में उनमें मतभेद है। **न्याय** वेद को **पौरूषेय** व नित्य मानता है, जबकि **पूर्वमीमांसा** के अनुसार वेद **अपौरूषेय** व नित्य है। **अद्वैत वेदान्त** के अनुसार वेदार्थ तो नित्य है, किन्तु वेद अपौरूषेय होते हुए भी नित्य नहीं हैं, क्योंकि ईश्वर प्रत्येक सृष्टि के आरम्भ मे फिर से उनका उच्चारण करता है। वेदान्त का यह मत अधिक तर्कसंगत है।

शब्द प्रमाण के स्वरूप, प्रामाण्य व इससे सम्बन्धित अन्य पक्षों पर भले ही शब्द प्रमाणवादी दार्शनिकों में मतभेद हो, किन्तु इसके **महत्त्व** को सभी शब्द प्रमाण को मानने वाले दार्शनिक स्वीकार करते हैं। इसका सबसे बड़ा प्रमाण इसको पृथक् प्रमाण के रूप में मान्यता प्रदान करना है। **न्याय दर्शन** में अन्य प्रमाणों के समान ही शब्द प्रमाण को महत्त्व दिया गया है। इसका कारण यह है कि अन्य प्रमाणों की तरह ही शब्द प्रमाण से भी प्रमेय की सिद्धि होती है।

पूर्वमीमांसा दर्शन में शब्द प्रमाण को विशेष महत्त्व दिया गया है। इसका कारण यह है कि मीमांसा के प्रमुख प्रतिपाद्य विषय धर्मार्थ के ज्ञान में केवल वेद (वैदिक वाक्य) ही प्रमुखरूपेण प्रमाण हो सकते हैं। अन्य प्रमाण या तो इसके सहकारी कारण हैं या गौण हैं। प्रत्यक्ष (चक्षुरिन्द्रयादि) प्रमाण का केवल सत् (विद्यमान) विषयो के साथ ही सन्निकर्ष हो सकता है अविद्यमान विषयों के साथ नहीं। अतः भविष्य विषयक होने के कारण धर्म के ज्ञान में प्रत्यक्ष प्रमाण अप्रमाण है। चूँकि अनुमानादि प्रमाण प्रत्यक्षाधारित हैं, अतः ये भी धर्म ज्ञान में अप्रामाणिक हैं। धर्म चूँकि भविष्य विषयक है, इस लिए धर्म के ज्ञान में केवल वेद (वैदिकवाक्य) ही प्रमाण हैं। **अद्वैत वेदान्त दर्शन** में भी शब्द प्रमाण के महत्त्व को प्रतिपादित करते हुए कहा गया है कि श्रुति वाक्य ही हमें ऐसा ज्ञान प्रदान करते हैं जो इन्द्रियों अथवा विचारशील व्याक्तियों द्वारा प्राप्त नहीं हो सकता। **आचार्य शंकर** ने कहा है **"धर्म और अधर्म सम्बन्धी विषयों पर श्रुति ही एक मात्र प्रमाण हैं।"** शब्द प्रमाण की यह उपयोगिता स्वतः ही उसके स्वतन्त्र प्रामाण्य को सिद्ध कर देती है।

संदर्भ-ग्रंथ-सूचिका

1. तर्कभाषा, मिश्र, केशव, हिन्दी व्याख्या—शुक्ल, बदरीनाथ, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, 1968, पृ. 149
2. तत्वार्थाधिगमसूत्र, 1.35, उमास्वामी, ज्ञानपीठ वाराणसी 1949
3. जैन तर्कभाषा, जैन, महेन्द्र कुमार, सिन्धी जैन ग्रन्थमाला, अहमदाबाद, 1938 पृ. 19.
4. तर्कभाषा, मिश्र, केशव, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, 1953, पृ 122.
5. साख्यकारिका, 5, ईश्वरकृष्ण, चौखम्बा प्रकाशन वाराणसी, 1963.
6. शाबरभाष्य, 1.1 5, शबरस्वामी, आनन्दाश्रम मुद्रणालय, पूना, 1929, पृ. 45.
7 वही. पृ 37
8 वही, पृ, 37,
9 उद्धृत, शास्त्रदीपिका, शब्द परिच्छेद, मिश्र, पार्थसारथि, चौखम्बा प्रकाशन वाराणसी, 1913, पृ. 134.
10. मानमेयोदय, भट्ट, नारायण, थियोसाफिकल पब्लिशिंग हाउस, अड्यार, मद्रास, 1933, पृ 95.
11. प्रकरणपचिका, मिश्र, शालिकनाथ, काशी हिन्दूविश्वविद्यालय, मुद्रणालय, काशी, 1962, पृ. 88.
12 वेदान्तपरिभाषा, धर्मराजाध्वरीन्द्र, व्याख्या—मुसलगॉवकर, श्रीगजानन शास्त्री, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1983, पृ. 187—88.
13 श्लोक वार्तिक, अनु—27, भट्ट, कुमारिल, मद्रास विश्वविद्यालय प्रकाशन, मद्रास, 1940।
14. वही, शब्द—61.
15 जैन तर्कभाषा, जैन, महेन्द्र कुमार, सिन्धी जैन ग्रन्थमाला, अहमदाबाद, 1938, पृ. 19.
16. वेदान्तपरिभाषा, धर्मराजाध्वरीन्द्र, व्याख्या—मुसलगॉवकर; श्रीगजानन शास्त्री, चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी, 1983, पृ. 189
17 वही, पृ. 212—13
18. वाक्यपदीय, 1.44, भर्तृहरि, मेसर्स बी.बी. दास एण्ड कम्पनी, बनारस, 1887,
19. तर्कभाषा, मिश्र, केशव, हिन्दी व्याख्या—शुक्ल; बदरीनाथ, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, 1976, पृ. 170—71.
20. न्यायमंजरी, भट्ट, जयन्त, चौखम्बा प्रकाशन वाराणशी, 1936, पृ. 340.
21. न्यायभाष्य, 2.2.68, वात्स्यायन, मिथिला विद्यापीठ, दरभंगा, 1967.
22. न्यायवार्तिक, 2.2.67, उद्योतकर, कलकत्ता संस्कृत ग्रन्थमाला, ग्रन्थांक 18, कलकत्ता, 1936, पृ. 3,9.

23 'श्लोकवार्तिक, (आकृति) 3, भट्ट, कुमारिल, मद्रास विश्वविद्यालय प्रकाशन, मद्रास, 1940

24 वेदान्तपरिभाषा, धर्मराजाध्वरीन्द्र, व्याख्या—मुसलगॉवकर; श्रीगजानन शास्त्री, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1983, पृ. 210—11.

25. जैमिनिसूत्र, 1.3.33, जैमिनि, आनन्दाश्रम मुद्रणालय, पूना, 1929

26. वेदान्तपरिभाषा, धर्मराजाध्वरीन्द्र, व्याख्या—मुसलगॉवकर, श्रीगजानन शास्त्री, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 213—219

27. वही, पृ 219.

28. प्रमेयकमलमार्तण्ड, प्रभाचन्द्र, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, द्वितीय सस्करण, 1941, पृ. 123.

29 वही, पृ. 124

30. सांख्यसूत्र, 37, कपिल, पं. आशुतोष विद्याभूषण तथा प. नित्यबोध विद्यारत्न, कलकत्ता, 1935,

31, तत्त्ववैशारदी, मिश्र, वाचस्पति, भारतीय विद्या प्रकाशन, पचगंगाघाट, वाराणसी, 1963, पृ. 82.

32. न्यायसूत्र, 1 1 56, गौतम, कलकत्ता सस्कृत ग्रन्थमाला, ग्रन्थांक 18, कलकत्ता, 1936,

33. न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका, 2.1.55, मिश्र, वाचस्पति, कलकत्ता संस्कृत ग्रन्थमाला, ग्रन्थाक 18, कलकत्ता, 1936,

34. न्यायसिद्वान्तमुक्तावली, पचानन; विश्वनाथ, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, द्वितीय संस्करण, 1984, पृ. 584,

35. तत्त्वचिन्तामणि, भाग 4, उपाध्याय, गगेश, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, 1917, पृ. 627.

36. न्यायभाष्य, 2.1 53, वात्स्यायन, कलकत्ता संस्कृत ग्रन्थमाला, गन्थांक 18, कलकत्ता, 1936.

37. मीमासासूत्र, 5, जैमिनि, आनन्दाश्रम मुद्रणालय, पूना, 1929.

38, शाबरभाष्य, 1.1. 6.23, शबर स्वामी, आनन्दाश्रम मुद्रणालय, पूना, 1929.

39. प्रमेयकमलमार्तण्ड, प्रभाचन्द्र, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, द्वितीय सस्करण, 1941, पृ 16.

40. महाभाष्य, 2.1.1, पतजलि, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1978.

41. श्लोकवार्तिक, सम्बन्धाक्षेपपरिहार श्लोक 140—141, भट्ट, कुमारिल, मद्रास विश्वविद्यालय, प्रकाशन, मद्रास, 1940.

42. तर्कभाषा, मिश्र; केशव, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, 1953, पृ. 122.

43. जैन तर्कभाषा, जैन; महेन्द्र कुमार, सिन्धी जैन ग्रन्थमाला,अहमदाबाद 1938 पृष्ठ 1938 पृ. 19.

44. महाभाष्य, 2.1.1, पतंजलि, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1978.

45. वेदान्तपरिभाषा, धर्मराजाध्वरीन्द्र, व्याख्या—मुसलगाँवकर; श्रीगजानन शास्त्री, चौखम्बा विद्याभवन ,वाराणसी, 1983, पृ. 189.

46. वही, पृ. 247.

47 वही, पृ 255

48. मानमेयोदय, भट्ट, नारायण, थियोसाफिकल पब्लिशिंग हाउस, अड्यार, मद्रास, 1933, पृ. 97.

49. न्यायरत्नमाला, मिश्र; पार्थसारथि, चौखम्बा सस्कृत बृक डिपो, वाराणसी, 1900, पृ. 83.

50. न्यायमजरी, भाग–1, भट्ट, जयन्त, प्राच्यविद्या सशोधनालय, मैसूर, 1970, पृ. 364.

51. वही, पृ. 365.

52 श्लोकवार्तिक, 7 229, भट्ट, कुमारिल, मद्रास विश्वविद्यालय प्रकाशन मद्रास, 1940.

53 न्यायरत्नमाला, मिश्र, पार्थसारथि, चौखम्बा संस्कृत बुक डिपो, वाराणसी, 1900, पृ. 105.

54. शाबरभाष्य, तर्कपाद, शबरस्वामी, आनन्दाश्रम मद्रणालय, पूना, 1929, पृ. 116.

55. न्यायरत्नमाला, वाक्यार्थनिर्णयकाण्ड, 43 मिश्र, पार्थसारथि, चौखम्बा सस्कृत बुक डिपो, वाराणसी, 1900.

56 मानमेयोदय, भट्ट, नारायण, थियोसाफिकल पब्लिशिंग हाउस, अड्यार, मद्रास, 1933, पृ. 94.–97.

57. तर्कभाषा, मिश्र, केशव, व्याख्या–शुक्ल, बदरीनाथ, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, 1968, पृष्ठ 14.

58. वेदान्तपरिभाषा, धर्मराजाध्वरीन्द्र, व्याख्या–मुसलगॉवकर, श्रीगजानन शास्त्री, चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी, 1983, पृ. 256.

59. भारतीय दर्शन, भाग– 2, डॉ0 राधाकृष्णन, अनुवादक–नन्द किशोर गोभिल, राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली, 1989, पृ. 428,

60. वेदान्तपरिभाषा, धर्मराजाध्वरीन्द्र, व्याख्या–मुसलगॉवकर; श्रीगजानन शास्त्री, चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी, 1983, पृ. 187–88.

61. जैन तर्कभाषा, जैन; महेन्द्र कुमार, सिन्धी जैन ग्रन्थमाला, अहमदाबाद, 1938 पृष्ठ 1938 पृ. 19.

62. तर्कभाषा, मिश्र; केशव, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, 1953, पृ. 122.

63. वेदान्त परिभाषा, धर्मराजाध्वरीन्द्र, व्याख्या–मुसलगॉवकर, श्रीगजानन शास्त्री, चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी, 1983, पृ. 189.
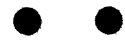
अध्याय : षष्ठ

अर्थापत्ति प्रमाण

अर्थापत्ति प्रमाण

भारतीय प्रमाणमीमांसा का विवेचन करने वाले दर्शनों में केवल **पूर्वमीमांसा** व **अद्वैत वेदान्त** में ही अर्थापत्ति को पृथक् प्रमाण माना गया है। अन्य दर्शनो मे उसका अन्तर्भाव अनुमान प्रमाण में किया गया है। शास्त्रीय ग्रन्थों में अर्थापत्ति **'अन्यथानुपपत्ति'** नाम से प्रसिद्व है। अर्थापत्ति **'अर्थ'** और **'आपत्ति'** इन दो शब्दों से मिलकर बना है। यहाँ अर्थ से तात्पर्य है–**'यथार्थ अर्थ'** और आपत्ति का तात्पर्य है **'कल्पना'** इस प्रकार अर्थापत्ति का शाब्दिक अर्थ है– किसी 'सत्य' अर्थ की कल्पना। सामान्यतः सत्य अर्थ की कल्पना को अर्थापत्ति कहते हैं।

अर्थापत्ति शब्द की व्युत्पत्ति दो प्रकार से की जा सकती है– 1. **"अर्थस्य आपत्तिः यस्मात् त्"** तथा 2 **"अर्थस्य आपत्तिः।"** पहली व्युत्पत्ति के अनुसार यह शब्द प्रमाण का वाचक है और दूसरी व्युत्पत्ति के अनुसार एक विशिष्ट प्रमा का।[1] पूर्व मीमांसा एवं अद्वैत वेदान्त में अर्थापत्ति को अधोवत् रूप में परिभाषित किया गया है।

अर्थापत्ति का लक्षण

मीमांसासूत्रकार **आचार्य जैमिनि** ने अर्थापत्ति प्रमाण का कोई लक्षण नहीं दिया है, परन्तु भाष्यकार **शबर स्वामी** ने अर्थापत्ति का लक्षण दिया है। आचार्य शबर स्वामी के अनुसार "जहाँ दृष्ट अथवा श्रुत पदार्थ किसी दूसरे प्रकार से अन्यथासिद्ध न हों, इसलिए एक अर्थ की कल्पना की जाती है। इसी अर्थ की कल्पना को अर्थापत्ति कहते है। उदाहरणार्थ, देवदत्त जीवित है, किन्तु वह घर में नही है। अत उसे घर मे न पाकर यह कल्पना की जाती है कि देवदत्त बाहर होगा– **"अर्थापत्ति दृष्टः श्रुतो वाऽर्थोऽन्यथा नोपपद्यते इत्यर्थकल्पना यथा जीवित देवदत्ते गृहाभावदर्शनेन वहिर्भावस्यादृष्टस्य कल्पना।"**[2]

कुमारिल भट्ट भाष्यकार के अर्थापत्ति लक्षण की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि उपर्युक्त उदाहरण में अभाव तथा अनुमान इन दो प्रमाणों में विरोध (अनुपपत्ति) उत्पन्न होता है, क्योंकि देवदत्त का गृह में न होना अनुपलब्धि प्रमाण से ज्ञात होता है तथा उसके जीवित होने पर उसकी सत्ता कहीं पर है, इसका ज्ञान अनुमान प्रमाण से होता है– **"दृष्टो हि गृहे चेत्रभावो भावेन। आनुमानिकी च चस्य जीवितः क्वचित्सत्ता। सा अनिर्धारितदेशविशेषतया गृहमपि व्याप्नोति। सोऽयमभावानुमानयोर्विरोधोऽनुपपत्तिराख्यायते।"**[3] इस प्रकार देवदत्त है, किन्तु घर में नहीं है– इस वाक्य में एक ही समय में दो भिन्न प्रमाणें से ज्ञात किसी व्यक्ति का अस्तित्व तथा अभाव उसकी बहिर्भाव कल्पना को उत्पन्न करता है। इसी को वार्तिककार कुमारिल भट्ट ने इस प्रकार

विवेचित किया है–प्रमाणषट्क में से किसी एक से विज्ञात विषय में हुए विरोध को हटाने के लिए जिस अदृष्ट अर्थ की कल्पना की जाती है, उसे अर्थापत्ति कहते हैं–

"प्रमाणषट्कविज्ञातो यथार्थो नान्यथा भवेत्।
अदृष्टं कल्पयदेन्यं साऽर्थापत्तिरुदाहृता ।।"

यहाँ ज्ञातव्य है कि प्रमाणों का यह विरोध आभासमात्र होता है। वास्तविक विरोध होने पर तो समन्वय असम्भव होगा। जैसे, **'इदं रजतं'** तथा **'नेदं रजतम्'** में वास्तविक विरोध है जिसका परिहार तभी संभव है, जब इन दोनों में से एक असत्य हो। किन्तु अर्थापत्ति में तो दोनों की सत्यता होती है, भले ही प्रारम्भ में दोनों का विरोध प्रतीत हो। यह विरोधाभास अतिरिक्त कल्पना से समाप्त हो जाता है। कल्पना का कारण विरोध (अनुपपत्ति) सदैव दो प्रमाणों के मध्य होता है।

प्राभाकर मीमांसको के अनुसार **"उपपादक से अनुपपन्न (अर्थ) के ज्ञान को अर्थापत्ति कहते हैं।" शालिकनाथ मिश्र** के अनुसार **"जिस अर्थ की कल्पना के बिना किसी प्रकार की अनुपपत्ति रहती है, उस अर्थ की कल्पना करना ही अर्थापत्ति कहलाता है।"**

अर्थापत्ति प्रमाण के विषय में प्राभाकरों की यह एक विशेषता है कि वे अर्थकल्पनावादी हैं। अर्थापत्ति को प्रमाण मानने वाले दार्शनिक दो कोटि के देखे जाते हैं– शब्द कल्पनावादी और अर्थ कल्पनावादी। प्राभाकर मीमांसकों ने शब्द कल्पनावाद का निरास और अर्थ कल्पनावाद की स्थापना की है। शब्द कल्पनावाद का स्वरूप स्पष्ट करते हुए **शालिकनाथ मिश्र** ने कहा है– "पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते।" इस वाक्य में देवदत्त के दिन में भोजन न करने और पीनत्त्व की अनुपपत्ति के द्वारा "रात्रौभुङ्क्ते" इस प्रकार के वाक्य की कल्पना की जाती है। शालिकनाथ इसका खण्डन करते हुए कहते हैं कि यह युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि यहाँ रात्रि भोजनरूप अर्थ की ही कल्पना है– **"अत्र केचित् पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते इति वाक्येन देवदत्तसम्बन्धितयाऽवगतस्य भोजनस्थ दिवा निषिद्धस्य पीनत्वानुमितास्यानुपपत्त्या रात्रौ भुङ्क्ते इति वाक्यमेव कल्प्यत इति वदन्ति। तदयुक्तम्। अत्राप्यर्थस्यैव कल्पयितुमुचित्वात्"।**[4] रात्रि भोजन की कल्पना के बिना देवदत्त का पीनत्व उत्पन्न नहीं होता। किन्तु रात्रि सम्बन्धी भोजन की कल्पना करने में वह अनुपपत्ति समाप्त हो जाती है। वह केवल शब्द मात्र से अवगत नहीं हो सकती, अपितु, अर्थ की कल्पना ही उस अनुपपत्ति का प्रतिकार है– **"अतोऽर्थत्यैव साक्षादुपपादकत्वम्, न शब्दस्य,"।**[5]

मीमांसा दर्शन की भांति **अद्वैत वेदान्त** में भी अर्थापत्ति को पृथक् प्रमाण माना गया है। धर्मराजाध्वरीन्द्र के अनुसार 'उपपाद्य के ज्ञान से उपपादक का ज्ञान अर्थापत्ति कहलाता है–**"तत्रोपपद्यज्ञानेनोपपादक–कल्पनमर्थापत्तिः"।**[6] उपपाद्य का ज्ञान प्रमाण (करण) है और उपपादक का ज्ञान प्रमा (फल)। जिसके बिना जो अनुपपन्न होता है, वह उपपाद्य कहलाता है और **जिसके अभाव में जिसकी अनुपपत्ति होती है, वह उपपादक कहलाता है– "तत्रोपपाद्यज्ञानं**

करणं। उपपादक ज्ञानं फलम्। येन विना यदनुपपन्नं तत्तत्रोपपाद्यम्, यस्याभावे यस्यानुपपत्तिस्तत्तत्रोपपादकम्। यथा रात्रि भोजनेन विना दिवाऽभुञ्जानस्य पीनत्वमनुपपन्नगिति तादृशदीनन्वस्यानुम पत्तिरिति रात्रिभोजनमुपपादकम्।"[7] जैसे, "पीनो देवदत्तो दिवा न भुड्.क्ते"। यहाँ पर पीनत्व उपपाद्य है और रात्रि भोजन उपपादक। इस प्रकार अद्वैत वेदान्त में 'अर्थापत्ति' शब्द का प्रयोग प्रमा और प्रमाण दोनों के लिए हुआ है, फिर भी 'अर्थापत्ति' शब्द की प्रवृत्ति का निमित्त दोनो में भिन्न–भिन्न है। अतएव अर्थो में भी भिन्नता है। कल्पना (ज्ञान) रूप प्रमा में अर्थापत्ति की प्रवृत्ति षष्ठी त्तपुरूष समास करके होती है। अर्थात् **'अर्थस्य आपत्तिः कल्पना इति अर्थापत्तिः'** एवं कल्पना के करण के अर्थ में अर्थापत्ति शब्द ब्रहुब्रीहि समास करके प्रयोग किया जाता है। अर्थात् **"अर्थस्य आपत्तिः यस्मात् तत्।"** इस प्रकार प्रवृत्ति–निमित्त के भेद से एक ही अर्थापत्ति शब्द 'प्रमा' एवं 'प्रमाण' दोनों ही अर्थो का वाचक हो सकता है।[8]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि मीमांसा और अद्वैत वेदान्त दर्शन में अर्थापत्ति प्रमाण का स्वरूप लगभग समान है। उभय मतों को सार रूप में रखते हुए अर्थापत्ति प्रमाण को परिभाषित करते हुए हम यह कह सकते हैं –**"जहाँ दृष्ट अथवा श्रुत पदार्थ एक दूसरे से असंगत जान पड़ते हों, तो उस असंगति को दूर करने हेतु एक सत्य अर्थ की कल्पना करनी पड़ती है। इस अर्थ की कल्पना को ही अर्थापत्ति प्रमाण कहते हैं।"**

अर्थापत्ति के भेद

पूर्व मीमांसा और अद्वैत वेदान्त दर्शनों में अर्थापत्ति प्रमाण के भेदों का निरूपण किया गया है। **मीमांसा दर्शन** में अर्थापत्ति के दो भेद माने गये हैं– **दृष्टार्थापत्ति** और **श्रुतार्थापत्ति। यद्यपि "शाबरभाष्य"** में अर्थापत्ति के कथित दो प्रकारों का निरूपण अप्राप्त है, किन्तु कुमारिल भट्ट ने शबर के **'दृष्टः श्रुतो वा'** के आधार पर अर्थापत्ति के उपर्युक्त दो प्रकारों को मान्यता दी है। उनके अनुसार दृष्ट वस्तु के आधार पर की गई कल्पना को दृष्टार्थापत्ति तथा श्रुत वस्तु के आधार पर की गई कल्पना को श्रुतार्थापत्ति कहते हैं।

कुमारिल ने दृष्टार्थापत्ति के पाँच उपभेद भी माने हैं। ये हैं– 1. प्रत्यक्षपूर्विका, 2. अनुमानपूर्विका, 3. उपमानपूर्विका, 4. अर्थापत्तिपूर्विका एवं 5.अनुपलब्धिपूर्विका।

प्रत्यक्ष प्रमाण से ज्ञात दाह के द्वारा अग्नि में दहनशक्ति की जो कल्पना की जाती है, वही **प्रत्यक्षपूर्विका अर्थापत्ति** है– **"तत्र प्रत्यक्षतो ज्ञानाद् दाहाद् दहनशक्त्या।"**[9] अग्नि वस्तु को जलाती है, यह प्रत्यक्षगम्य है। किन्तु यह तभी संभव है, जब यह कल्पना की जाय कि अग्नि में **'दहन शक्ति'** है। स्पष्टतया इस अर्थापत्ति का आधार 'प्रत्यक्ष' है।

अनुमानपूर्विका अर्थापत्ति अनुमान प्रमाण पर आधारित है। सूर्य में अनुमित गति के द्वारा सूर्य में गमनशक्ति की कल्पना **'अनुमानपूर्विका अर्थापत्ति'** है। **"वह्नेर्नुमितात् सूर्यै यानात् तच्छक्तियोग्यता।"**[10] सूर्य में गति का ज्ञान अनुमान द्वारा ही होता है। प्राणियों में गमन पदार्थ के कारण संभव है, किन्तु सूर्य के पास गमन का इस प्रकार का कोई साधन नहीं है। अतएव 'सूर्य गमन करता है' तथा 'उसकी गति का कोई साधन नहीं है' इन दोनों में अनुपपत्ति (विरोध) तभी दूर हो सकता है, जब सूर्य मे गमन शक्ति की कल्पना की जाय– **"गमनं हि प्राणिनां विशिष्टपदादि साधनकमवगतम्। अयं चानुमिततद्विधर्मगमनसाधनोऽपि तथैव न गन्तुमर्हतीति वितर्कः। सोऽयं शक्तिकल्पनायौ निवार्यते।"**[11]

उपमान पर आधारित अर्थातपत्ति **उपमानपूर्विका अर्थापत्ति** कहलाती है। 'अनेने सदृशी मदीया गोः' इस उपमिति में गो में **'सादृश्यज्ञानग्राह्यशक्ति'** की कल्पना **'उपमानपूर्विका अर्थापत्ति'** का उदाहरण है– **"गवयोपमिता या गोस्तज्ज्ञानग्राह्यता मता।"**[12]

अर्थापत्ति पर आधारित **अर्थापत्तिपूर्विका अर्थापत्ति** शब्द की नित्यता की कल्पना पर आधारित है। शब्द की नित्यता की कल्पना शब्द की बोधक शक्ति (वाचक शक्ति) पर आधारित है, जिसका अर्थापत्ति द्वारा शब्द से अर्थ के अभिधान में प्रयोग होता है। अर्थात् शब्द के द्वारा अर्थ के अभिधान से शब्द में वाचकत्व शक्ति की कल्पना स्वरूप 'अर्थापत्ति' निष्पन्न होती है। शब्द में इस वाचकत्व शक्ति की उपपत्ति तब तक नहीं हो सकती, जब तक उसे नित्य न माना जाय।[13] अतएव शब्द में नित्यत्व कल्पनास्वरूप अर्थापत्ति शब्द में उक्त वाचकत्व शक्ति की कल्पना स्वरूप अर्थापत्तिमूलक है। इसी कारण इसे अर्थापत्तिपूर्विका कहा गया है।

भाष्यकार ने जो जीवित देवदत्त के गृहाभाव दर्शन से उसके वहिर्भाव की अदृष्ट परिकल्पना को अर्थापत्ति का उदाहरण बताया है, वह वस्तुतः **अनुपलब्धिपूर्विका अर्थापत्ति** का उदाहरण है। प्रत्यक्षादि पाँचों प्रमाणों से अनिर्णीत तथा अभाव से निर्णीत गृहवृत्ति जीवित चैत्र के अभाव से जो चैत्र के वहिरस्त्वि की कल्पना की जाती है, वही अनुपलब्धिपूर्विका अर्थापत्ति प्रमाण का उदाहरण है।[14]

अर्थापत्ति के द्वितीय प्रकार **श्रुतार्थापत्ति** को शब्दपूर्विका अर्थापत्ति भी कहा जाता है, क्योंकि श्रुतार्थापत्ति का यह प्रकार शब्द प्रमाण पर आधारित है। **'पीनो दिवा न भुङ्क्ते'** (यह पीन व्यक्ति दिन में नहीं खाता है) इस वाक्य से जो **"रात्रि भोजन का विज्ञान होता है, उसे श्रुतार्थपत्ति** कहते हैं।[15] प्रकृत में **'पीनो दिवा न भुङ्क्ते'** यह श्रुतार्थापत्ति का उदाहरण दिया गया है तथा 'रात्रिभोजन' स्वरूप प्रमेय को 'श्रुतार्थापत्ति का उदाहरण कहा जाता है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि श्रुतार्थापत्ति प्रमाणग्राहिणी होने से दृष्टार्थापत्ति से विलक्षण है– **"प्रमाणग्राहिणीत्वेन यस्मात् पूर्वविलक्षणा"**[16] और श्रुतार्थापत्ति के द्वारा दिन में भोजन न करने वाले पीन देवदत्त के रात्रि भोजन स्वरूप 'प्रमेय' के ग्राहक 'रात्रौ भुङक्ते' इस वाक्य स्वरूप प्रमाण

का ग्रहण होता है। तपश्चात् 'रात्रिवाक्य' स्वरूप प्रमाण के द्वारा रात्रिभोजनस्वरूप अर्थ का अवबोधन होता है। अतः श्रुतार्थापत्ति से 'रात्रौ भुङ्क्ते' इस वाक्य का ग्रहण होता है अथवा 'रात्रिभोजन' रूप अर्थ का, इसके समाधानार्थ **कुमारिल** का कथन है कि श्रुतार्थापत्ति को कुछ लोग अर्थगोचर (प्रमेयग्राहिणी) मानते हैं और कुछ लोग इसे शब्द स्वरूप प्रमाण की ग्राहिका (प्रमाणग्राहिणी) मानते हैं। अतएव कोई विरोध नहीं है। किन्तु सभी लोग श्रुतार्थापत्ति को आगम प्रमाण से अभिन्न मानते हैं,[17] क्योंकि प्रायः सभी वैदिक व्यवहार शब्दपूर्विका श्रुतार्थापत्ति के द्वारा व्यवस्थित होते हैं। इसी कारण इसको आगम प्रमाण पर आधारित माना जाता है।[18]

प्राभाकर, भाट्टमत में स्वीकृत उपर्युक्त दो प्रकार की अर्थापत्तियों को न मानकर एक ही अर्थापत्ति मानते हैं। उनके मत में दृष्ट और श्रुत दोनों एक ही उपलब्ध अर्थ के बोधक हैं। अर्थात् दृष्ट शब्द के द्वारा जिस अर्थ का विधान किया जाता है, उसी का श्रुत पद के द्वारा भी ग्रहण होता है। अतः श्रुतार्थापत्ति एक पृथक् भेद नहीं है।[19] **शालिकनाथ मिश्र** ने भी इस अनुपपद्यमान अर्थ की उपलब्धि कराने के लिए केवल एक ही शब्द का प्रयोग किया है।[20]

लेकिन प्राभाकर मीमांसकों का यह मत उचित नहीं प्रतीत होता है कि श्रुतार्थापत्ति का अन्तार्भाव दृष्टार्थापत्ति में हो जाता है, अतः उसका अलग उपभेदत्व अमान्य है। वस्तुतः शब्द प्रकरणमूलक अर्थापत्ति–श्रुतार्थपत्ति–का दृष्टार्थापत्ति से पृथक् निरूपण करने का विशेष कारण है। भाष्यस्य **'दृष्ट'** पद का अर्थ है–शब्द से भिन्न प्रत्यक्षादि पाँच प्रमाणों द्वारा ज्ञात **'विषय'**। **'दृष्टार्थापत्ति'** शब्द से संग्रहीत सभी अर्थापत्तियाँ 'प्रमेयग्राहिणी' हैं। अर्थात् जीवित देवदत्त के गृहाभावदर्शन से उसके वहिरस्तित्त्व स्वरूप 'प्रमेय' का ही ग्रहण होता है, जबकि श्रुतार्थापत्ति के द्वारा दिवाभुञ्जान पीन देवदत्त के रात्रि भोजन स्वरूप 'प्रमेय' के ग्राहक 'रात्रौ भुङ्क्ते' इस वाक्यस्वरूप 'प्रमाण' का ही ग्रहण होता है। तत्पश्चात् 'रात्रि' वाक्यस्वरूप प्रमाण के द्वारा 'रात्रिभोजन' रूप अर्थ का बोध होता है। इस प्रकार श्रुतार्थापत्ति प्रमाणग्राहिणी है। दृष्टार्थापत्ति से विलक्षण होने के कारण उसका पृथक् अभिधान किया गया है[21] जो उचित ही है।

अद्वैत वेदान्त में भी अर्थापत्ति के दृष्टार्थापत्ति और श्रुतार्थापत्ति नामक दो भेद माने गये हैं।[22] इनमें से **"जिस अर्थापत्ति का विषय दृष्ट होता है, उसे दृष्टार्थापत्ति कहते हैं।"** जैसे, दूर से किसी वस्तु को रजत समझकर यदि हम कहें कि यह रजत है, किन्तु समीप जाकर उसे हाथ में लेकर देखने के पश्चात् या किसी आप्त पुरूष के कहने पर यह कहें कि यह रजत् नहीं है, तो दोनों कथनों में से एक असत्य होगा। दोनों एक ही समय पर सत्य नहीं हो सकते। अतः दोनों प्रकार के कथनों में अनुपपत्ति का समाधान इस कल्पना के द्वारा होगा कि दूर से जो देखा गया था, वह वास्तविक रजत नहीं था, क्योंकि यदि वह वास्तविक होता तो समक्ष होने पर भी वास्तविक दिखाई देता। इस प्रकार दृष्टार्थापत्ति के कारण रजत् के मिथ्यात्व का निश्चय होता है।[23] किन्तु **भाट्ट मीमांसकों** का मत है कि जब दो परस्पर ज्ञानों में से एक सामान्य हो और

दूसरा विशिष्ट तथा उनमें विरोध हो तो विरोध के समाधान के लिए दृष्टार्थापत्ति का सहारा लिया जाता है।

अद्वैत वेदान्तानुसार, "सुने हुए वाक्य के मुख्य अर्थ के असम्भव होने पर उस अर्थ की उपपत्ति लगाने के लिए जो अन्य अर्थ की कल्पना की जाती है, उसे श्रुतार्थापत्ति कहते हैं।"[24] जैसे, 'आत्मवेत्ता शोक (संसार) से तर जाता है', इस श्रुति में 'शोक' शब्द का अर्थ 'कर्तृत्वादि समस्त बन्ध' है और ज्ञान से उसकी निवृत्ति होती है, ऐसा श्रुति का आशय है। परन्तु श्रुति का यह अर्थ उत्पन्न नहीं होता, क्योंकि किसी वस्तु की निवृत्ति उसके ज्ञान से नहीं होती। पुस्तक का ज्ञान होने पर वह पुस्तक नष्ट हो जाये–ऐसा अनुभव किसी को नहीं होता। ज्ञान वस्तुतः अज्ञान का ही निवर्तक होता है। इसलिए इस श्रुतार्थ की अनुपपत्ति होती है। अतः उसकी उपपत्ति लगाने के लिए 'समस्त बन्ध, ज्ञान निवर्त्य हैं', यह सिद्ध करने के लिए 'बन्ध' अज्ञानमूलक है, ऐसी कल्पना करनी पड़ती है। यही श्रुतार्थापत्ति है।

धर्मराजाध्वरीन्द्र ने कुमारिल की तरह दृष्टार्थापत्ति के अतिरिक्त श्रुतार्थापत्ति को अर्थापत्ति का एक पृथक भेद तो माना ही है, इसके साथ ही अभिधानानुपपत्ति तथा अभिहितानुपपत्ति के रूप में उसके दो उपभेदों का भी उल्लेख किया है– **"श्रुतार्थापत्तिश्च द्विविधा–अभिधानानुपपत्तिरभिहितानुपपत्तिश्च।"**[25]

जब हम वाक्य का एक देश (एक भाग) सुन लेते हैं, किन्तु उस एक पद के या कुछ भाग के अन्वय की अनुपपत्ति होने पर उस पद के साथ अन्वित होने योग्य किसी दूसरे पद की कल्पना (अध्याहार) करते हैं, तो उसे **'अभिधानानुपपत्ति'** कहते हैं–**"यत्र वाक्यैकदेश–श्रवणेऽन्वयाभिधानानुपपत्याऽन्वयाभिधानोपयोगि पदान्तरं कल्प्यते तत्राभिधानानुपपत्तिः।"**[26] जैसे, हम **'द्वारम्'** शब्द को सुनकर **'पिधेहि'** (लगा दो) पद का अध्याहार करते हैं, या **'विश्वजित् याग करे,'** इस विधि के श्रवण करने पर **'स्वर्गकाम'** पद का अध्याहार करते हैं। यह अभिधानानुपपत्ति (शब्दानुपपत्ति) रूपा श्रुतार्थापत्ति का उदाहरण होगा।

जहाँ पर वाक्य से ज्ञात हुआ अर्थ अनुपपन्न (प्रमाणान्तर विरूद्ध) है, यह ज्ञात होने पर वाक्य अन्य अर्थ की कल्पना कराता है, वहाँ पर **'अभिहितानुपपत्ति'** संज्ञक अर्थापत्ति होती है– **"अभिहितानुपपत्तिस्तु यत्र वाक्यावगतोऽर्थोऽनुपपन्नत्वेन ज्ञातः सन्नर्थान्तरं कल्पति, तत्र द्रष्टव्या।"**[27] जैसे, 'स्वर्गेच्छु पुरुष को ज्योतिष्टोम यज्ञ करना चाहिए', इस वाक्य को कोई वक्ता कहे और ज्योतिष्टोम यज्ञ के स्वर्ग साधनत्व में अनुपपन्न होने के कारण श्रोता को मध्यवर्ती **'अपूर्व'** की कल्पना करनी पड़े, तो यह अभिहितानुपपत्ति का उदाहरण होगा।

इस प्रकार हम देखते हैं कि पूर्वमीमांसा और अद्वैतवेदान्त दोनों ही दर्शनों में अर्थापत्ति को पृथक् प्रमाण माना गया है। अर्थापत्ति के विवेचन में कुमारिल भट्ट तथा अद्वैतवेदान्त के दृष्टिकोणों में पर्याप्त साम्यता है, फिर भी दोनों के मतों में कुछ अंतर दृष्टिगोचर होता है। वेदान्तपरिभाषाकार

दृष्टार्थापत्ति में अनुपपन्नता के कारण का उल्लेख नहीं करते, जबकि कुमारिल का कहना है कि दो तथ्यों में पारस्परिक विरोध ही अनुपत्ति का कारण है। श्रुतार्थापत्ति के सन्दर्भ में कुमारिल का विचार है कि इसमें शब्द या वाक्य की कल्पना करनी पड़ती है, जबकि अद्वैत वेदान्तियों के अनुसार इसमें कभी शब्द की और कभी तथ्य की कल्पना करनी होती है। जैसे, 'द्वार' इतना सुनकर श्रोता को 'पिधेहि' (बन्द करो), इस शब्द की कल्पना करनी पडती है और 'पीन देवदत्त दिन में नहीं खाता', इस वाक्य को सुनकर श्रोता को देवदत्त के रात्रि भोजनपरक तथ्य की कल्पना करनी पडती है। अद्वैत वेदान्त का यह मत अधिक औचित्यपूर्ण प्रतीत होता है।

अर्थापत्ति का प्रामाण्य

पूर्व मीमांसा और अद्वैत वेदान्त के अतिरिक्त बौद्ध, न्याय, वैशेषिक, सांख्य और योग दार्शनिकों ने अर्थापत्ति के पृथक् प्रमाणत्व का निषेध करते हुए उसका अन्तर्भाव अनुमान में किया है। **बौद्ध दार्शनिकों** के अनुसार अर्थापत्ति जन्य ज्ञान के दो स्पष्ट पक्ष हैं– ज्ञात पक्ष और अज्ञात पक्ष। प्रत्यक्षादि प्रमाणों से प्रमिति इसका ज्ञात पक्ष है। इस ज्ञात पक्ष की सिद्धि जिसके बिना नहीं हो सकती, वह अर्थापत्ति का अज्ञात पक्ष है। यहाँ प्रश्न यह है कि अर्थापत्तिजन्य ज्ञान के इन दो पक्षों में कैसा सम्बन्ध होता है? यदि दोनों के बीच तादात्म्य या तदुपपत्ति सम्बन्ध माना जाय, तो अर्थापत्तिपूर्वक होने वाली प्रतीति स्वभाव या कार्य हेतु से जन्य होने के कारण अनुमान हो जायेगी। यदि ज्ञात और अज्ञात पक्ष में किसी प्रकार का प्रतिबन्ध न हो, तो अर्थापत्तिपूर्वक अज्ञात अर्थ की प्रमिति ही नहीं हो सकती है। इसलिए अर्थापत्ति को अनुमान से पृथक् एक स्वतन्त्र प्रमाण स्वीकार करना युक्तियुक्त नहीं है– **"तस्मान्नर्थापत्तिः प्रमाणान्तरमिति।"**[28]

बौद्धों की भाँति **नैयायिक** भी अर्थापत्ति को स्ववन्त्र प्रमाण न मानकर उसे अनुमान का एक रूप मानते हैं। **न्यायसूत्रकार** ने अनुमान में अर्थापत्ति का अन्तर्भाव किया है।[29] इसकी व्याख्या करते हुए **भाष्यकार** ने लिखा है कि अर्थापत्ति अनुमान से भिन्न नहीं है। जिस प्रकार किसी वस्तु के प्रत्यक्ष होने के पश्चात् उसके द्वारा अप्रत्यक्ष वस्तु का ज्ञान होना अनुमान कहलाता है, उसी प्रकार एक वाक्य के अर्थों का बोध होने पर उससे सम्बद्ध दूसरी वस्तु का भी बोध हो जाता है। इसलिए अर्थापत्ति अनुमान से भिन्न प्रमाण नहीं है।[30] **उद्योतकर** तथा **वाचस्पति मिश्र** ने श्रुतार्थापत्ति के प्रचलित उदाहरण का प्रयोग करते हुए भाष्यकार के समर्थन में लिखा है कि प्रत्यक्षगम्य देवदत्त की पुष्टता (मोटेपन) से अप्रत्यक्ष रात्रि भोजन का ज्ञान अनुमान है, अर्थापत्ति नहीं।[31] भाष्यकार के अर्थापत्ति लक्षण एवं उदाहरण (जहाँ किसी एक अर्थ के कथन से अन्य अर्थ का लाभ हो जाता है, उसी का नाम अर्थापत्ति है। जैसे, मेघों के नहीं रहने से वर्षा नहीं होती,)[32] से सिद्ध होता कि मेघों के नहीं होने से वृष्टि नहीं होती है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि अर्थापत्ति के रूप में उन्हें श्रुतार्थापत्ति ही इष्ट थी, जिसका अन्तर्भाव उन्होंने अनुमान में किया है।

उद्योतकर एव वाचस्पति मिश्र के उदाहरण निरूपण से भी यही बात ज्ञापित होती है।

उदयन ने भी अर्थापत्ति के अनुमान मे समाविष्ट किये जाने का समर्थन किया है। उनके अनुसार जिसे अर्थापत्तिवादियों ने अनुपपद्यमान तथा उपपादक कहा है, वे ही नियम्य या व्याप्य तथा नियन्ता या व्यापक हैं। इसलिए अनियम्य अव्याप्य में अनुपपद्यमानता तथा अनियन्ता व्यापक में उपपादकता गृहीत नहीं की जा सकती, अपितु अनुपपद्यमान–व्याप्य से ही उपपादक–व्यापक का ज्ञान होता है। इसलिए अर्थापत्ति को अनुमान में समाविष्ट किया जा सकता है।[33] इसकी व्याख्या करते हुए **हरिदास** ने लिखा है कि **'जीवित देवदत्त घर में नहीं है'**, इस ज्ञान के बाद **'बाहर है'** इत्याकारक जो ज्ञान उत्पन्न होता है, उसी को अर्थापत्ति कहा जाता है। इसमें भी अनियम्य–अव्यापक की अयुक्ति अर्थात् अनुपपत्ति नहीं है तथा अनियन्ता अव्यापक अर्थात् उपपादक नहीं होता। इसका कारण यह है कि व्यापक के अभाव अर्थात् उपपादकीभूत अर्थ 'वहिर्सत्ता' का अभाव होने पर व्याप्य अर्थात् अनुपपद्यमान अर्थ–'गृहाभाव' का भी सर्वदा अभाव पाया जाता है। इस प्रकार अनुपपत्ति ज्ञान में व्यतिरेक व्याप्ति ज्ञान कारण होने से, उक्त दृष्टार्थापत्ति को **केवल व्यतिरेकी अनुमान** में सुगमतापूर्वक समाविष्ट किया जा सकता है। अनुमान की प्रकिया इस प्रकार होगी–

1. **जीवित देवदत्त बाहर है : प्रतिज्ञा।**
2. जीवित होने पर भी घर में उपस्थित न होने से : **हेतु।**
3. जो-जो व्यक्ति बाहर नहीं रहता है, वह-वह जीवित होने पर घर में अनुपस्थित नहीं, अपितु उपस्थित ही रहता है। जैसे, हम स्वयं अथवा गृह में विद्यमान यज्ञदत्त आदिः **उदाहरण।**

इस व्यतिरेक व्याप्ति का ग्रहण स्वयं हमको अपने शरीर में हो जाता है, क्योंकि जब हम घर में नहीं रहते, तो बाहर अवश्यमेव रहते हैं। इसलिए घर में विद्यमान यज्ञदत्त आदि को भी व्यतिरेक उदाहरण बनाया जा सकता है।[34] इस रीति से श्रुतार्थापत्ति को भी केवल व्यतिरेकी अनुमान में समाविष्ट किया जा सकता है–

प्रतिज्ञा : देवदत्त रात्रि में भोजन करता है,

हेतु : दिन में भोजन न करते हुए पुष्ट होने से।

उदाहरण : जो-जो व्यक्ति रात तथा दिन में भोजन नही करता, वह-वह पुष्ट भी नहीं दिखाई देता। जैसे, नवरात्र उपवासी यज्ञदत्त।

इस प्रकार व्यापक उपपादकीभूत अर्थ रात्रिभोजन के अभाव में व्याप्य अनुपपद्यमान **अर्थ–पुष्टत्व** का भी **विरह** पाया जाता **है**। अतः अनुपपत्तिमूलक अर्थापत्ति को अनुमान में अन्तर्भूत **किया जा सकता है। जयन्त भट्ट** ने भी कुमारिल समर्थित छः अर्थापत्तियों (दृष्टार्थापत्ति के पॉच

उपभेद एवं श्रुतार्थापत्ति) का पूर्व पक्ष में वर्णन करके उक्त दोनों अर्थापत्तियों का निराकरण करके इनका अन्तर्भाव अनुमान में किया है।[35] श्रुतार्थापत्ति का अनुमान से अभेद प्रदर्शित करते हुए वे कहते हैं कि अर्थ की अनुपपत्ति होने से जो वचनैक देश की कल्पना की जाती है, वह भी कार्यलिंग द्वारा निष्पादित हो सकती है। जैसे– क्षितिधरकन्दरा रूप अधिकरण में कार्य धूम का अवलोकन करने पर उसके कारण अग्नि का अनुमान होता है, वैसे ही आगम द्वारा पीनत्व का आख्यान होने पर कार्य अवधारण से, उसके कारण भोजन का भी अनुमान हो जाता है। इसलिए इसे अनुमान से विशेष नहीं माना जा सकता।[36] प्रभाकर द्वारा स्वीकृत अर्थापत्ति को जयन्त भट्ट ने व्यतिरेकी अनुमान मे अन्तर्भावित किया है।[37] **आचार्य गंगेश उपाध्याय** ने शालिकनाथ सम्मत संशयकारणक और भाट्ट मीमांसक, प्रभाकर एवं अद्वैतवेदान्तियों द्वारा समर्थित अनुपपत्तिकारणक अर्थापत्तियों को पूर्व पक्ष में उपस्थित करते हुए दोनों को व्यतिरेकी अनुमान में अन्तर्भावित किया है।[38] **केशव मिश्र**[39] तथा **विश्वनाथ**[40] ने भी अर्थापत्ति का अन्तर्भाव अनुमान में किया है।

लेकिन **मीमांसको** एवं **अद्वैत वेदान्तियों** ने बौद्धों, नैयांयिकों एवं वैशेषिकों का खण्डन करके अर्थापत्ति की पृथक् प्रमाणता का प्रतिपादन किया है। मीमांसको के अनुसार नैयायिकों ने जिस प्रक्रिया के द्वारा अर्थापत्ति का अन्तर्भाव अनुमान में किया है, वह अन्तर्भाव उचित नहीं है, क्योंकि अनुमान में पक्ष में रहने वाले एक धर्म के द्वारा पक्ष में ही रहने वाले धर्मान्तर का अनुमान किया जाता है, किन्तु गृहगत अभाव न तो देवदत्त का धर्म है न वहिर्देश का। अतः गृहाभावरूप हेतु देवदत्त पक्ष में न रहने के कारण देवदत्त की वहिर्सत्ता का अनुमापक वैसे ही नहीं हो सकता, जैसे पर्वत में अवृत्तिधूम के द्वारा पर्वतवृत्त अग्नि की अनुमिति नहीं होती। **शालिकनाथ मिश्र** ने अन्यान्य हेतुओं की सम्भावना दिखाकर उनमें दोष प्रदर्शित करते हुए उसका निराकरण किया है।[41] यदि किसी ज्योतिषविद् ने देवदत्त के लिए जीवित होने या विद्यमान होने का कथन किया हो, तो इतने मात्र से देवदत्त की वहिर्सत्ता का अनुमान नहीं किया जा सकता, क्योंकि जीवित होना या विद्यमान होना स्वयं अपने में संदिग्ध है जो कि देवदत्त की वहिर्सत्ता का अनुमापक वैसे नहीं हो सकता, जैसे कि संदिग्ध धूम अग्नि का।

इसी प्रकार, गृहाभाव को भी हेतु नहीं बनाया जा सकता– **"न च गृहाभावो वहिर्देशसम्बन्धावगमे लिङ्गमित्युपपन्नम्।"**[42] गृहाभाव के लिए **वार्तिककार** का कथन है कि वह पक्ष का धर्म नहीं है। यदि स्वनिरूपक प्रतियोगित्व–सम्बन्ध से गृहाभाव को देवदत्त का धर्म माना जाता है, तब भी केवल गृहाभाव देवदत्त की वहिर्सत्ता संभव नहीं होती। जीवन विशिष्ट गृहाभाव को भी गृहाभाव की अनुमिति का जनक नहीं माना जा सकता। **कुमारिल भट्ट** ने भी यही दोष उपन्यस्त किया है–

"गृहेभावस्तु यश्शुद्धो विद्यमानत्ववर्जितः।"
स मृतेष्वपि दृष्टत्वाद्वहिर्वृत्तेन साधकः।।[43]

शुद्ध गृहाभाव वहिर्भाव का साधक नहीं हो सकता, क्योंकि मृत देवदत्त में रहने वाले गृहाभाव से व्याभिचार देखा जाता है। जीवन विशिष्ट गृहाभाव के द्वारा भी बहिर्सत्ता का अनुमान नहीं हो सकता, क्योंकि जीवन सदिग्ध होने के कारण जीवनविशिष्ट गृहाभाव भी संदिग्ध हो जाता है। संदिग्ध हेतु कभी भी साध्य का साधक नही माना जाता है– **जीवं च विशेषणभूतं सन्दिग्धमिति, न तद्विशिष्टस्य लिङ्गत्वम्"**।[44]

प्रभाकर ने अर्थापत्ति का अनुमान से भेद करने के लिए कहा है कि अनुमान व्याप्ति पर आधारित होता है, किन्तु अर्थापत्ति व्याप्ति पर आधरित नहीं होता। इसके अतिरिक्त, कार्य से कारण के अनुमान में कार्य अनुपपन्न रहता है और कारण का निर्देश उसका समाधान करता है, जबकि अर्थापत्ति में कारण अनुपपन्न होता है और कार्य की कल्पना से उसका समाधान किया जाता है। पुनश्च अनुमान में विचार प्रक्रिया 'अनुपपन्न' से 'उपपादक' की ओर बढ़ती है, किन्तु अर्थापत्ति में विचार प्रकिया 'उपपादक' से 'अनुपपन्न' की ओर बढ़ती है।[45] जैसे, जीवित चैत्र के गृहाभाव से उसके वहिर्भाव का ज्ञान होता है।

यहाँ प्रभाकर व कुमारिल के मतों में अंतर दिखाई देता है। उपरोक्त सन्दर्भ में कुमारिल का मत प्रभाकर के मत से उल्टा है। **प्रभाकर यह मानते हैं कि जीवित चैत्र के गृहाभाव से उसके वहिर्भाव का ज्ञान होता है, जबकि कुमारिल के अनुसार जीवित चैत्र के वहिर्भाव की कल्पना करने से उसके गृहाभाव का समाधान होता है।** इससे स्पष्ट होता है कि कुमारिल और प्रभाकर द्वारा प्रस्तुत व्याख्याओं में कुछ अंतर है। वस्तुतः कुमारिल ने भाष्य के क्रम में परिवर्तन नहीं किया, जबकि प्रभाकर ने भाष्य के शब्दों का क्रम बदल दिया[46] और भाष्य का यह आशय बताया कि यदि कोई दृष्ट या श्रुत अर्थ ऐसे किसी दूसरे अर्थ के बोध का साधन बनता है जिसकी संगति प्रथम अर्थ की कल्पना किये बिना ठीक नहीं बैठती, तो यह अर्थापत्ति प्रमाण कहा जायेगा। इस प्रकार प्रभाकर का मत मूल भाष्य के अनुरूप नहीं कहा जा सकता।

अद्वैत वेदान्तियों का भी कथन है कि अनुमान में अर्थापत्ति का अन्तर्भाव नहीं हो सकता, क्योंकि अन्वय व्याप्ति का ज्ञान न होने से अन्वयि लिंग (अनुमान) में इसका अन्तर्भाव नहीं होता। व्यतिरेकी अनुमान में इसके अन्तर्भाव का प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि व्यतिरेकी अनुमान का निराकरण करके अद्वैतवेदान्त में उसका अन्तर्भाव अर्थापत्ति में कर दिया गया है। अतः अद्वैत वेदान्तानुसार भी अर्थापत्ति का अन्तर्भाव अनुमान में नहीं हो सकता– **"न चेयमर्थापत्तिरनुमानेऽन्तर्भवति। अन्वयव्याप्त्यज्ञाने नान्वयिन्यनन्तर्भावात्। व्यतिरेकिणश्चानुमानत्वं प्रागेव निरस्तम्"**।[47]

अर्थापत्ति के विषय में अब तक के विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि समग्र भारतीय दर्शन में केवल पूर्वमीमांसा और अद्वैत वेदान्त में अर्थापत्ति को पृथक् प्रमाण माना गया है। उभय मत

में उक्त प्रमाण का स्वरूप लगभग समान है। वस्तुत **प्रत्यक्षादि प्रमाण से जिस अर्थ की प्रतीति होती है और वह प्रतीत अर्थ जिसके बिना सिद्व नहीं हो पाता है, तब उस अर्थ की कल्पना के लिए अर्थपत्ति नामक प्रमाण को स्वीकार करना अनिवार्य हो जाता है।**

अर्थापत्तिवादी दार्शनिकों में अर्थापत्ति के भेद के बारे में विवाद है। **प्रभाकर मिश्र** केवल दृष्टार्थापत्ति को ही अर्थापत्ति मानते हैं। उनके अनुसार दृष्ट और श्रुत दोनो एक ही अर्थ के बोधक है। अत श्रुतार्थपत्ति के रूप में अर्थापत्ति के अन्य भेद को कल्पित करने की आवश्यकता नही है।[48] लेकिन प्रभाकर का यह मत उचित नहीं है, क्योंकि **'दृष्टार्थापत्ति'** शब्द से संग्रहीत सभी अर्थापत्तियाँ **'प्रमेयग्राहिणी'** हैं। अर्थात् जीवित देवदत्त के गृहाभावदर्शन से उसके वहिरस्तिव स्वरूप **'प्रमेय'** का ही ग्रहण होता है, जबकि श्रुतार्थापत्ति के द्वारा दिवाभुञ्जान पीन देवदत्त के रात्रि भोजन स्वरूप **'प्रमेय'** के ग्राहक **'रात्रौ मुङ्.क्ते'** इस वाक्य स्वरूप **'प्रमाण'** का ग्रहण होता है। तत्पश्चात् **'रात्रि'** वाक्यस्वरूप प्रमाण के द्वारा **'रात्रि भोजन'** रूप अर्थ का बोध होता है। इस प्रकार श्रुतार्थापत्ति प्रमाणग्रहिणी है। दृष्टार्थापत्ति से विलक्षण होने के कारण उसका पृथक् अभिधान उचित ही है।[49] इसी कारण भाट्ट मीमांसा और अद्वैत वेदान्त में श्रुतार्थापत्ति को अर्थापत्ति का अन्य प्रकार माना गया है। लेकिन दोनों की व्याख्याओं में थोडा अतर है। भाट्ट मीमांसको के अनुसार श्रुतार्थापत्ति में शब्द या वाक्य की कल्पना करनी पड़ती है, जबकि अद्वैत वेदान्तियों के अनुसार इसमें कभी शब्द की तथा कभी तथ्य की कल्पना करनी पडती है। अद्वैत वेदान्तियों का यह मत अधिक तर्कसंगत हैं क्योंकि कभी–कभी तथ्य की कल्पना आवश्यक हो जाती है, जहाँ शब्द या वाक्य से काम नहीं चल सकता। अद्वैत वेदान्त का यह मत उचित प्रतीत होता है।

अर्थापत्ति को न मानने वाले दार्शनिक अर्थापत्ति का अन्तर्भाव अनुमान में करते हैं। नैयायिक अर्थापत्ति प्रमाण का अन्तर्भाव केवल व्यतिरेकी अनुमान में करते हैं। कित्तु मीमांसक व अद्वैत वेदान्ती केवल व्यतिरकी अनुमान को नहीं मानते, इसीलिए वे अर्थापत्ति को स्वतन्त्र प्रमाण मानते हैं। वस्तुतः अनुमान से पृथक् अर्थापत्ति को स्वतन्त्र प्रमाण मानना उचित ही है। इसका कारण यह है कि अनुमान व्याप्ति पर आधारित होता है, जबकि अर्थापत्ति नहीं। दूसरी बात यह है कि अनुमान की प्रक्रिया अनुपन्नता पर आधारित नहीं है, जबकि अर्थापत्ति का मुख्य आधार ही अनुपन्नता है। इससे सिद्ध होता है कि अर्थापत्ति अनुमान की तरह ही एक स्वतन्त्र प्रमाण है। अतः इसका अन्तर्भाव अनुमान में नहीं किया जा सकता।

वस्तुतः अर्थापत्ति की उपयोगिता सिद्ध है। **मीमांसकों** के अनुसार इसका उपयोग वैदिक मन्त्रों की व्याख्या करने तथा अनुच्चरित शब्द या अर्थों की कल्पना करके उनका अर्थ समझने के लिए किया जा सकता है। मीमांसक मरणोपरान्त आत्मा की अमरता में विश्वास भी अर्थापत्ति के आधार पर ही करते हैं। **अद्वैत वेदान्तियों** का माया का सिद्धान्त भी बहुत कुछ अर्थापत्ति पर

ही आधारित है। अद्वैत वेदान्ती उपनिषदीय महावाक्यों की व्याख्या में भी अर्थापत्ति को उपयोगी मानते हैं। अद्वैत वेदान्ती अनुभूत तथ्यों की व्याख्या करने के लिए कुछ अदृष्ट तथ्यों व सिद्धान्तों की कल्पना करने में भी अर्थापत्ति का प्रयोग करते है।[50] इससे स्पष्ट होता है कि एक पृथक् प्रमाण के रूप मे अर्थापत्ति की उपयोगिता सिद्ध है।

संदर्भ-ग्रंथ-सूचिका

1. तर्कभाषा, मिश्र; व्याख्या–शुक्ल; बदरीनाथ, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, 1976 पृ० 157–158।
2 शाबरभाष्य, 1.1.5, शबर स्वामी, आनन्दाश्रम मुद्रणालय पूना, 1929, पृष्ठ 30।
3. श्लोकवार्तिक पर काशिका, राष्ट्रीय मुद्रणालय, त्रिवेन्द्रम्, पृ० 160।
4 प्रकरणपचिका, मिश्र; शालिकनाथ, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय मुद्रणालय, काशी, 1961, पृष्ठ 278–79।
5. वही, पृष्ठ 280।
6. वेदान्तपरिभाषा, धर्मराजाध्वरीन्द्र, व्याख्या–मुसलगाँवकर; श्रीगजानन शास्त्री, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1983, पृ० 265।
7. वही, पृष्ठ 265।
8. वही पृ० 267।
9. श्लोकवार्तिक, अर्था–3, भट्ट; कुमारिल, मद्रास विश्वविद्यालय प्रकाशन, मद्रास, 1940।
10. वही।
11. श्लोकवार्तिक, अर्था–3, पर काशिका टीका, मद्रास विश्वविद्यालय प्रकाशन, मद्रास 1940।
12. श्लोकवार्तिक, अर्था–4, भट्ट; कुमारिल, मद्रास विश्वविद्यालय प्रकाशन, मद्रास, 1940।
13. वही, अर्था० 6–7।
14. वही, अर्था० 8–9 का पूर्वार्द्ध।
15. वही, अर्था० 51।
16. वही, अर्था० 2।
17. वही, अर्था० 52।
18. वही, अर्था० 53।
19. बृहती, 1.1.5, मिश्र; प्रभाकर, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, 1929, पृष्ठ 115।
20. प्रकरणपंचिका, मिश्र; शालिकनाथ, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय मुद्रणालय, काशी, 1961, पृ० 278–79।
21. श्लोकवार्तिक, अर्थापत्ति–2, भट्ट; कुमारिल, मद्रास विश्वविद्यालय प्रकाशन, मद्रास, 1940।
22. वेदान्तपरिभाषा, धर्मराजाध्वरीन्द्र, व्याख्या–मुसलगाँवकर; श्री गजानन शास्त्री, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1983, पृष्ट 268।
23. वही, पृ० 268।
24. वही, पृ० 263।
25. वही, पृ० 270।
26. वही, पृ० 271।

27. वही, पृ० 273।

28. रत्नकीर्ति निबन्धावली, रत्नकीर्ति, के०पी० जायसवाल अनुशीलन सस्था, पटना, 1955, पृ० 104।

29. न्यायसूत्र 2.2.2., गौतम, कलकत्ता संस्कृत ग्रन्थमाला, ग्रन्थांक 18, कलकत्ता, 1936।

30. न्यायभाष्य, वात्स्यायन, कलकत्ता संस्कृत ग्रन्थमाला, ग्रन्थाक 18, कलकत्ता, 1936, पृ० 576।

31. न्यायवार्तिक, उद्योतकर, कलकत्ता, सस्कृत ग्रन्थमाला, ग्रन्थाक 18, कलकत्ता, 1936, पृ० 576

32. न्यायभाष्य, वात्स्यायन, कलकत्ता सस्कृत ग्रन्थमाला, ग्रन्थाक 18, कलकत्ता, 1936, पृ० 573।

33. न्यायकुसमांजलि, 3.19, उदयन, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, 1957।

34. हरिदासवृत्ति, हरिदास, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी 1962, पृ० 140।

35. न्यायमंजरी-5, भट्ट; जयन्त, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, 1936, पृ० 137–38।

36. वही, पृ० 42।

37. वही, पृ० 111–13।

38. तत्वचिन्तामणि, उपाध्याय: गंगेश, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, 1917, 141–49, 154–59।

39. तर्कभाषा, मिश्र; केशव, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, 1953, पृ० 115–16।

40. सिद्धांतमुक्तावली, विश्वनाथ, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, 1951, पृ० 187–90।

41. प्रकरणपंचिका, मिश्र; शालिकनाथ, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय मुद्रणालय काशी, 1961, पृ० 273।

42. वही, पृ० 274।

43. श्लोकवार्तिक, अर्थापत्ति–21, भट्ट; कुमारिल, मद्रास विश्वविद्यालय प्रकाशन, मद्रास, 1940।

44. प्रकरणपंचिका, मिश्र; शालिकनाथ, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, मुद्रणालय, 1961, पृ० 274।

45. बृहती, मिश्र; प्रभाकर, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, 1929, पृ० 86।

46. वही पृ० 85।

47. वेदान्तपरिभाषा, धर्मराजाध्वरीन्द्र, व्याख्या–मुसलगाँवकर; श्री गजानन शास्त्री, चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी, 1983, पृ० 274–75।

48. बृहती, मिश्र; प्रभाकर, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, 1929, पृ० 115।

49. श्लोकवार्तिक, अर्थापत्ति–2, भट्ट; कुमारिल, मद्रास विश्वविद्यालय प्रकाशन, मद्रास, 1940

50. *The six ways of knowing*, Datta; D.M., Calcutta University Press, 2nd edition, Calcutta 1960, P. 240.

अध्याय : सप्तम
अनुपलब्धि प्रमाण

अनुपलब्धि प्रमाण

अभाव प्रमा के साधकतम् कारण को **अनुपलब्धि** (अभाव) प्रमाण कहते है। प्रत्यक्षादि प्रमाणो से ज्ञेय पदार्थो के अभाव का ज्ञान जिस साधन से होता है, उसे अनुपलब्धि या अभाव प्रमाण कहते हैं। अभाव के पृथक् प्रमाणत्व को लेकर दार्शनिकों में मतभेद है। प्राभाकर मीमांसक, न्याय–वैशेषिक, सांख्य–योग, बौद्ध एवं जैन दार्शनक अभाव या अनुपलब्धि को पृथक् प्रमाण नहीं मानते हैं, जबकि **भाट्ट मीमांसक** एवं **अद्वैत वेदान्ती** इसे पृथक् प्रमाण मानते हैं।

वस्तुतः अनुपलब्धि के प्रामाण्य के बारे में विवाद के मूल में अभाव का स्वरूप है। अभाव के स्वरूप के सम्बन्ध में भारतीय दार्शनिकों में पर्याप्त मतभेद रहा है। **नैयायिकों** के अनुसार अभाव एक पदार्थ है और उसका ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण से होता है। **वैशेषिकों** के अनुसार भी अभाव एक पदार्थ है, किन्तु उसका ज्ञान अनुमान से होता है। **बौद्धों** के अनुसार अभाव कल्पना मात्र है और उसका ज्ञान अनुमान से होता है। **प्रभाकर मीमांसकों** और **सांख्यों** के विचार में सत्ता और असत्ता, ये एक ही वस्तु के दो रूप हैं। अभाव कोई पदार्थ नहीं है, किन्तु उसका ज्ञान प्रत्यक्ष से हो जाता है। **भाट्ट मीमांसक** और **अद्वैत वेदान्ती** मानते हैं कि अभाव एक पदार्थ है और उसका ज्ञान अनुपलब्धि प्रमाण से होता है। भाट्ट मीमांसक अभाव को अधिष्ठान से अतिरिक्त तत्त्व मानते हैं। वे प्राभाकर मीमांसकों और सांख्य दार्शनिकों की भाँति अभाव को अधिकरण स्वरूप (आधार स्वरूप) नहीं मानते। कुमारिल के अनुसार सभी वस्तुएँ सद् (भाव), एवं असद् (अभाव) रूप से दो प्रकार की होती हैं। इनमें से भावात्मक पदार्थों का ज्ञान प्रत्यक्षादि भावात्मक प्रमाणों से और अभावात्मक पदार्थों का ज्ञान अभावात्मक प्रमाण से होता है। यही अभावात्मक प्रमाण अनुपलब्धि के नाम से जाना जाता है।

अनुपलब्धि का लक्षण

पूर्व मीमांसा दर्शन में प्राभाकर मीमांसकों को छोड़कर अन्य सभी मीमांसक अभाव (अनुपलब्धि) को पृथक् प्रमाण मानते हैं। **आचार्य जैमिनि** ने अनुपलब्धि प्रमाण का कोई लक्षण नहीं दिया है, परन्तु उनके मीमांसा सूत्रों पर भाष्य लिखने वाले **आचार्य शबर** ने अनुपलब्धि प्रमाण के लक्षण का उल्लेख अपने **"शाबरभाष्य"** में किया है।

आचार्य शबर स्वामी के अनुसार अनुपलब्धि प्रमाण वहाँ होता है, जहाँ प्रत्यक्षादि प्रमाणों द्वारा बोध्य वस्तु का अभाव हो। उनके शब्द हैं– चक्षु आदि इन्द्रियों के सन्निकर्ष में जो वस्तु न आये, उस वस्तु के विषय में 'यह नहीं है' इत्याकारक ज्ञान जिस (साधकतम्) कारण से होता है,

उसे अनुपलब्धि प्रमाण कहते हैं– **"अभावोऽपि प्रमाणाभावोऽपि नास्त्यीत्यस्यार्थस्य असन्निकृष्टस्य,...... ।"**[1]

आचार्य कुमारिल भट्ट के अनुसार अभाव के सन्दर्भ में अन्य पाँच प्रमाण चरितार्थ नहीं हो सकते। अतः उसके ज्ञान के लिए अनुपलब्धि को प्रमाण मानना आवश्यक है। उनका कथन है कि "वस्तु की सत्ता के अवबोधनार्थ प्रत्यक्षादि प्रमाणों से जहाँ वस्तु–रूप का ज्ञान नही होता है, वहॉ अनुपलब्धि की प्रमाणता सिद्ध होती है –

"प्रमाणापञ्चकं यत्र वस्तुरूपे न जायते।
वस्तुसत्तावबोधार्थं तत्राभावप्रमाणता ।।"[2]

अर्थात् प्रत्यक्षादि प्रमाणों से जब किसी वस्तु के अस्तित्त्व की सिद्धि नहीं होती है, तब अनुपलब्धि प्रमाण के द्वारा उस वस्तु के न होने का ज्ञान होता है। यह ज्ञान जिस साधन से होता है, उसे ही अनुपलब्धि प्रमााण कहते हैं।

अद्वैत वेदान्तानुसार ज्ञान रूपी करण से उत्पन्न न होने वाले अभावानुभव के असाधारण कारण को अनुपलब्धि प्रमाण कहा जाता है– **"ज्ञानकरणाजन्याभावानुभवा साधारणकरणमनुपलब्धि रूपं प्रमाणम्।"**[3] **धर्मराजाध्वरीन्द्र** के अनुसार अनुमानादिजन्य अतीन्द्रिय अभाव में अतिव्याप्ति की निवृत्ति हेतु लक्षण में 'ज्ञानकरणाजन्यत्व' विशेषण का प्रयोग किया गया है। अनुमान व्याप्तिज्ञान–जन्य होता है, जबकि अनुपलब्धि में ऐसा नहीं होता–**"अनुमान जन्यातीन्द्रियाभावानुभव हेतावनुमानादावतिव्याप्तिवारणाय अजन्यान्तं पदम्।"**[4] धर्मराजाध्वरीन्द्र का यह भी कहना है कि ईश्वर, काल, अदृष्टादि की कारणता तो सभी कार्यों के साथ रहती है, अतः उनके निवारण के लिए अनुपलब्धि के लक्षण में 'असाधारण' शब्द को समाविष्ट किया गया है। इसी प्रकार अभाव की स्मृति में अतिव्याप्ति की निवृत्ति के लिए अनुभव शब्द का प्रयोग किया गया है–**"अदृष्टादौ साधारणकारणेऽतिव्याप्तिवारणाय असाधारणेति पदम्। अभावस्मृत्यसाधारण हेतु–संस्कारेऽतिव्याप्तिवारणाय अनुभवेति विशेषणम्।"**[5]

अनुपलब्धि प्रमाण के स्वरूप के बारे में ऊर्ध्व विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि भाट्ट मीमांसकों एवं अद्वैत वेदान्तियों के अनुसार किसी स्थान विशेष पर किसी वस्तु के विद्यमान न होने की स्थिति में उस वस्तु का अभाव माना जायेगा और उस अभाव का ज्ञान जिस साधन से होता है, वही अनुपलब्धि प्रमाण है। जैसे, किसी ऐसे स्थल पर जहाँ हमने पहले घट देखा हो, यदि अन्य समस्त साधनों के विद्यमान होने पर भी घट न दिखाई दे रहा हो, तो यह कहा जा सकता है कि इस समय उस स्थल पर घटाभाव है और उस अभाव का बोध अनुपलब्धि प्रमाण से होता है।

अनुपलब्धि प्रमाण के विवेचन स्थल पर सहज ही यह जिज्ञासा होती है कि क्या अभाव का ज्ञान सदैव अनुपलब्धि प्रमाण से ही होता है? यदि नहीं, तो अनुपलब्धि प्रमाण से अभाव का ज्ञान कब होता है? **भाट्ट मीमांसकों** एवं **अद्वैत वेदान्तियों** के अनुसार अभाव की ग्राहक

'योग्यानुपलब्धि' है। **पार्थसारथि मिश्र** का कहना है कि अभाव में दृश्यादर्शन (योग्यानुपलब्धि) ही प्रमाण है, केवल अदर्शन नहीं– **"दृश्यादर्शनमभावे प्रमाणं नादर्शनमात्रम्।"**[6] भूतलादि आश्रय स्वरूप वस्तु के सद्भाव का इन्द्रिय जनित ज्ञान एवं अभाव के घटादि प्रतियोगियों का स्मरण– इन दोनों के साहाय्य से ही उक्त अभाव की प्रतीति होती है–

गृहीत्वा वस्तुसद्भावं स्मृत्वा च प्रतियोगिनम्।

मानसं नास्ति ज्ञानत्वं जायते ज्ञान प्रेक्षणात्।।"[7]

डॉ. गंगानाथ झा ने इस वार्तिक से सम्बन्धित टिप्पणी में अनुपलब्धि ज्ञान की प्रक्रिया को इस प्रकार से समझाया है– 1. आश्रय का नेत्र से प्रत्यक्ष होता है, 2. (जो पूर्व दृष्ट है तथा यदि वह उपस्थित होता, तो उसका दर्शन हो सकता था) का (इस रूप में) स्मरण होता है। तत्पश्चात्, 3. मानसिक प्रक्रिया के द्वारा घटाभाव का ज्ञान होता है।[8] उक्त तीनों की सहायता से ही अभाव का ज्ञान संभव है। आश्रय के गृहीत होने तथा प्रतियोगी घट के स्मृत होने पर ही **दृश्यादर्शन** की सहायता से ही मन के द्वारा (मानसिक प्रक्रिया के द्वारा) अभाव का ज्ञान होता है। इस अभाव के ज्ञान में इन्द्रिय की शक्ति की कल्पना नहीं करनी चाहिए– **"गृहीते चाक्ष्ये प्रतियोगिनि च स्मृते स्थानीयेन दृश्यादर्शनसहायेन मनसेवाभावज्ञानजन्मोपपत्तेर्नेन्द्रियस्याभावे शक्ति शक्त्या कल्पयितुम्"।**[9] यदि कोई यह आक्षेप करे कि योग्यानुपलब्धि (दृश्यादर्शन) नामक कोई प्रमाण नहीं है, तो इसके उत्तर में **वार्तिककार** का कहना है कि 'स्वरूप' अर्थात् आधारभूत देश को देखकर कोई व्यक्ति पूर्वाधिगत देश का स्मरण करते हुए वहाँ अन्य वस्तु के अभाव का प्रतिपादन करता है। अर्थात् जब कोई व्यक्ति केवल स्वरूप को (आधारभूत देश मात्र को) देखता है, उस देश में व्याघ्रादि हिंस्र पशुओं को नहीं देखता है, तो व्याघ्रादि प्रतियोगियों का स्मरण संभव न होने के कारण उनके अभाव का ग्रहण भी संभव नहीं हो पाता। देशमात्र को देखकर जाने के बाद यदि कोई व्यक्ति उससे पूछता है कि प्रातःकाल आपके वहाँ उपस्थित रहने पर व्याघ्र, गज, सिंह आदि आये थे, तब वह पुरूष उस अधिगत देश का स्मरण करते हुए व्याघ्रादि के अभाव का उसी समय अनुभव करता है जिसका उसे पूर्वानुभव न था। इस प्रकार व्याघ्रादि के अभाव का ज्ञान वह अनुपलब्धि प्रमाण से करता है।

अद्वैत वेदान्त दर्शन में भी योग्यानुपलब्धि को ही अभाव का ग्राहक (ज्ञापिका) माना गया है। धर्माधर्म जैसी वस्तुओं में प्रत्यक्षयोग्यता नहीं होती, अतः उनकी अनुपलब्धि योग्यानुपलब्धि नहीं कहला सकती। वस्तुतः प्रत्यक्ष योग्य वस्तु के ही अभाव का ज्ञान अनुपलब्धि प्रमाण से होता है, **न कि प्रत्यक्षायोग्य वस्तु के अभाव का भी–"न चातीन्द्रियाभावानुमिति– स्थलेऽप्यनुपलब्ध्यैवाभावो गृह्यतां विशेषाभावादिति वाच्यम्। धर्माधर्माद्यनुपलब्धिसत्वेऽपि तदभावानिश्चयेन योग्यानुपलब्धेरेवाभाव– ग्राहकत्वात्।।"**[10] ज्ञान के कारणों के रहते हुए भी ज्ञानयोग्य पदार्थ

का ज्ञान न होना उस पदार्थ के अभाव के ज्ञान का कारण होता है। अत्यन्त दूरवर्ती पदार्थ का भी ज्ञान नहीं हुआ करता, किन्तु उसका अभाव नहीं माना जा सकता, क्योंकि वह ज्ञान के योग्य ही नहीं है। अत. यह सिद्ध होता है कि ज्ञानयोग्य पदार्थ की अनुपलब्धि ही उस पदार्थ के अभाव को सिद्ध कर सकती है, न कि ज्ञान के अयोग्य पदार्थ की अनुपलब्धि।

अनुपलब्धि का प्रामाण्य

इस अध्याय के प्रारम्भ में ही इस बात का उल्लेख किया गया है कि **भाट्ट मीमांसा** एवं **अद्वैत वेदान्त** के अतिरिक्त अन्य किसी भी विवेच्य दर्शन में अनुपलब्धि का पृथक् प्रमाणत्व स्वीकार नहीं किया गया है। **नैयायिकों** ने इसे प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम प्रमाणों में समाविष्ट किया है। भाट्ट मीमांसक एवं अद्वैत वेदान्ती अनुपलब्धि को पृथक् प्रमाण की मान्यता देते है। इसका कारण यह है कि वे विशेषण–विशेष्यभाव सन्निकर्ष को नहीं मानते हैं, जबकि नैयायिकों ने विशेषण–विशेष्यभाव सन्निकर्ष से अभाव का ग्रहण मानकर अनुपलब्धि (अभाव) को प्रत्यक्ष प्रमाण में समाविष्ट किया है। **बौद्ध दार्शनिकों** ने भी अनुपलब्धि को प्रत्यक्ष में अन्तर्भूत किया है। **रत्नकीर्ति** का कहना है कि अनुपलब्धि प्रत्यक्ष विशेष का ही दूसरा नाम **है–"न ह्यभावः कस्यचित् प्रतिपत्तिः प्रतिपत्ति हेतुर्वा ....प्रत्यक्ष विशेषस्यैवाभावनामकरणात्।"** बौद्धों के अनुसार अनुपलब्धि को स्वतन्त्र प्रमाण के रूप में स्वीकार करना प्रमाण संख्या का अतार्किक विस्तार मात्र है।

किन्तु मीमांसक एवं अद्वैत वेदान्ती अनुपलब्धि को पृथक् प्रमाण मानते हैं और इसके पीछे यह तथ्य प्रस्तुत करते है कि प्रत्यक्ष में इन्द्रिय से भाव पदार्थो का ही सन्निकर्ष होता है, अभाव का नहीं। इन्द्रिय और अभाव का कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता, क्योंकि संसार में संयोग और समवाय दो ही सम्बन्ध हैं। संयोग दो द्रव्यों के बीच होता है। चूँकि अभाव द्रव्य नहीं है, अतः इन्द्रिय से अभाव का संयोग सम्बन्ध नहीं हो सकता। समवाय सम्बन्ध भी दो अयुतसिद्ध पदार्थो के बीच होता है, जबकि चक्षु और अभाव दोनों एक दूसरे की अनुपस्थिति में भी विद्यमान रहते हैं। इस प्रकार अभाव का सन्निकर्ष न होने से अंनुपलब्धि को अलग प्रमाण मानना पड़ेगा।

नैयायिक उपर्युक्त मत का खण्डन करते हैं और कहते हैं कि इन्द्रिय से अभाव का ग्रहण होता है। इसके लिए हम लोग विशेषण–विशेष्यभाव को 'सम्बन्ध' मानते हैं। हमारे मत में इन्द्रिय बिना सम्बन्ध के अभाव को ग्रहण नहीं करती है। चूँकि 'विशेषण–विशेष्यभाव सन्निकर्ष' से इन्द्रिय द्वारा अभाव का ग्रहण होता है,[11] अतः अभाव के ग्रहण के लिए अलग से अभाव या अनुपलब्धि प्रमाण की आवश्यकता नहीं है।

अद्वैत वेदान्ती न्यायाभिमत उपर्युक्त 'विशेषण–विशेष्यभाव सन्निकर्ष' का खण्डन करते हैं और कहते हैं कि यह कोई सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि इस पर सम्बन्ध का लक्षण घटित नहीं होता

है। सम्बन्ध वह है जो दो व्यक्तियों पर आश्रित हो, आश्रयभूत दोनों व्यक्तियों से भिन्न हो और स्वयं एक हो। ये तीनों ही बातें विशेषण–विशेष्यभाव पर लागू नहीं होतीं। विशेषणता केवल विशेषण में रहती है और विशेष्यता केवल विशेष्य में। अतः विशेषण–विशेष्यभाव उभयाश्रित नहीं है। पुनश्च, विशेषणता विशेषण से और विशेष्यता विशेष्य से भिन्न नहीं है। अभाव मे "भूतल घटाभावविशिष्ट है" इस बुद्धि की जनकता है, वही अभावगत विशेषणता है। यह अभाव से भिन्न नहीं, अपितु अभावरूप है। अत. विशेषण–विशेष्य भाव भी अपने आश्रय से भिन्न नहीं माना जा सकता। द्वन्द्व समास (विशेषणं च विशेष्यं च) के बाद श्रूयमाण भाव शब्द का सम्बन्ध विशेषण और विशेष्य दोनों से है। अतः विशेषण–विशेष्यभाव एक व्यक्ति भी नही है।

ऊर्ध्व रीति से अद्वैत वेदान्ती यह सिद्ध करते हैं कि विशेषण–विशेष्यभाव कोई सम्बन्ध नहीं है। इसलिए इसके आधार पर अभाव को प्रत्यक्षागम्य नहीं माना जा सकता। वस्तुतः इन्द्रियों का अभाव के साथ 'संयुक्त विशेषणता' का सन्निकर्ष न होकर अधिकरण से ही सम्बन्ध रहता है। इसलिए नैयायिकों द्वारा उक्त 'इन्द्रिय–सम्बन्ध–विशेषणता' सम्बन्ध नहीं बन सकता। इस कारण विशेषणता सम्बन्ध (सन्निकर्ष) को अभाव प्रमा का जनक नहीं माना जा सकता। इससे सिद्ध होता है कि अभाव प्रमा में अनुपलब्धि ही प्रमाण है, प्रत्यक्ष नहीं।

यहाँ **नैयायिक** यह प्रतिप्रश्न करते हैं कि प्रत्यक्ष ज्ञान परिच्छेद में अद्वैत वेदान्तियों ने प्रत्यक्ष को ही प्रत्यक्ष ज्ञान का करण बताया है, अतः अब वे कैसे यह कह सकते है कि अभावानुभव का कारण इन्द्रिय न होकर अनुपलब्धि प्रमाण है?

प्रत्युत्तर में **वेदान्तपरिभाषाकार** का कहना है कि अभावप्रतीति के प्रत्यक्ष होने पर भी उसमें करण अनुपलब्धिसंज्ञक पृथक् प्रमाण ही है, क्योकि यह कोई नियम नही है कि फलभूत (साध्यभूत) ज्ञान के प्रत्यक्ष होने से उसका करण (साधन) भी प्रत्यक्ष ही हो। 'तू दसवाँ है', आदि वाक्य से उत्पन्न हुए 'मैं दसवाँ हूँ' ज्ञान में प्रत्यक्षत्व होने पर भी उसका (ज्ञान का) कारण जो वाक्य है, वह प्रत्यक्ष प्रमाण से भिन्न शब्द रूप प्रमाण है– **"अभाव प्रतीतेः प्रत्यक्षत्वेऽपि तत्करणस्यानुपलब्धेर्मानान्तरत्वात्। न हि फलीभूत–ज्ञानस्य प्रत्यक्षत्वे तत्करणस्य प्रत्यक्षप्रमाणता नियतत्त्वमस्ति, दशमस्त्वमसीत्यादिवाक्यजन्य– ज्ञानस्य प्रत्यक्षत्वेऽपि तत्करणस्य वाक्यस्य प्रत्यक्षप्रमाणभिन्नप्रमाणत्वाभ्युपगमात्।"**[12] इसी आधार पर यह नियम भंग हो जाता है कि 'प्रमा के प्रत्यक्ष रहने पर उसका प्रमाण भी प्रत्यक्ष होना चाहिए।' इस आधार पर कहा जा सकता है कि अभाव का ज्ञान प्रत्यक्ष रहने पर भी उसका प्रमाण (साधन) प्रत्यक्ष (इन्द्रिय) नहीं है, प्रत्युत् उक्त प्रकार से अनुपलब्धि ही अभाव प्रत्यक्ष में करण है। अतः अभाव को प्रत्यक्ष मानने के बाद भी वेदान्त मत दूषित नहीं होता है। **भाट्ट मीमांसक** भी नैयायिकों के इस मत का खण्डन करते हैं कि जिस इन्द्रिय से भाव पदार्थ का ज्ञान होता हे, उसी इन्द्रिय (प्रत्यक्ष) से उस पदार्थ के अभाव का भी ज्ञान होता है। **कुमारिल भट्ट** का कहना है कि प्रत्यक्ष प्रमाण

से अभाव का ज्ञान नहीं हो सकता। उनके अनुसार 'नास्ति' इत्याकारक बुद्धि प्रत्यक्ष प्रमाण से उत्पन्न नहीं होती है, उससे तो भावविषयक बुद्धि ही उत्पन्न होती है, क्योंकि इन्द्रियाँ भाव पदार्थों के साथ ही संयुक्त हो पाती है–

"न तावदिरिन्द्रियैरेषा नास्तियुत्पद्यते मतिः।
भावांशेनैव संयोगो योगत्वादिन्द्रिस्याहि।।"[13]

अद्वैत वेदान्त मे भी कहा गया है कि अभाव के साथ इन्द्रियों का सन्निकर्ष नहीं होता है। इस कारण अभाव ज्ञान में इन्द्रिय को हेतु नहीं माना जा सकता है– **"इन्द्रियस्य भावेन स मं सन्निकर्षाभावेनाभावग्रहाहेतुत्वात्।"**[14] इस प्रकार भाट्ट मीमांसा में भी अभावानुभव के प्रति इन्द्रियों की कारणता का खण्डन किया गया है।

प्रत्यक्ष के अतिरिक्त **नैयायिकों** ने अनुपलब्धि का **अनुमान** और **शब्द** प्रमाण में अन्तर्भाव किया है। नैयायिकों में सर्वप्रथम **न्यायसूत्रकार** ने इसे अनुमान में समाविष्ट किया है।[15] अपनी अभाव व्याख्या में वैशेषिक सूत्र[16] प्रयुक्त करते हुए **वात्स्यायन** ने लिखा है कि विरोधी अभूत अर्थात् अविद्यमान विरोधी पदार्थ से भूत अर्थात् अविद्यमान पदार्थ की कल्पना को ही अभाव प्रमाण कहा जाता है। जैसे, अविद्यमान वर्षा के अभाव से उसके विरोधी वायु–अभ्रसंयोग का प्रतिपादन होता है।[17] किन्तु इस अभाव का अन्तभाव अनुमान में किया जा सकता है, क्योंकि कार्य की अनुपपत्ति से (कार्य के अभाव से) कारण के प्रतिबन्धक (अर्थात् कारण के अभाव) का अनुमान किया जाता है। **प्रशस्तपाद** के अनुसार भी अनुपलब्धि का अन्तर्भाव अनुमान में हो जाता है। जैसे, उत्पन्न कार्य को देखकर कारण सामग्री का अनुमान होता है, उसी प्रकार घटादि कार्य के प्रागभाव से उसकी कारण सामग्री के अभाव की भी अनुमान से सिद्धि हो जाती है। **"प्रशस्तपादभाष्य"** के अनुपलब्धि प्रकरण में वे लिखते हैं कि **"अभावोऽप्यनुमानमेव। यथोत्पन्नं कार्य कारणसद्भावे लिंगम्। एवमनुत्पन्नं कार्य कारणासद्भावे लिंगम्।"**

यहाँ एक स्वाभाविक जिज्ञासा यह उत्पन्न होती है कि अभाव का अन्तर्भाव किस अनुमान में होता है? **उद्योतकर** का कहना है कि अभाव का अन्तर्भाव सामान्यतोदृष्ट अनुमान में होता है।[18] **वाचस्पति मिश्र** का भी यही मत है।[19] **विश्वनाथ** ने **"न्यासूत्रवृत्ति"** में यद्यपि भाष्यकार के समर्थन हेतु अभाव का अनुमान में अन्तर्भाव करते हुए लिखा है कि अभाव व्याप्ति सापेक्ष होने के कारण अनुमान से अतिरिक्त प्रमाण नहीं है,[20] किन्तु **"सिद्धान्तमुक्तावली"**[21] में **इन्होंने** अभाव का अन्तर्भाव प्रत्यक्ष में किया है। **जयन्त भट्ट** ने अभाव को अनुमान और प्रत्यक्ष में समाहित करने का प्रयास किया है।[22] **भासर्वज्ञ** ने अभाव प्रतिपत्ति को आगम, अनुमान और प्रत्यक्ष तीनों में समाहित किया है।[23] जैसे, कौरव शब्द के अभाव का, आत्मादि में रूप के अभाव का और भूतल में घटादि के अभाव का ज्ञान क्रमशः आगम, अनुमान तथा प्रत्यक्ष में समाविष्ट किया जा सकता है। इस प्रकार नैयायिकों ने अभाव (अनुपलब्धि) का अन्तर्भाव प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम प्रमाणों में किया है।

लेकिन **भाट्ट मीमांसकों** व **अद्वैत वेदान्तियों** का कहना है कि जिस प्रकार अनुपलब्धि का अन्तर्भाव प्रत्यक्ष में नहीं हो सकता, उसी प्रकार अनुपलब्धि प्रमाण का अन्तर्भाव अनुमान प्रमाण में भी नहीं हो सकता। अर्थात् अभाव का बोध अनुमान प्रमाण से भी नहीं हो सकता, क्योंकि अभाव के ग्रहणार्थ उपयुक्त लिंग अप्राप्त है। यहॉ प्रश्न यह उठता है कि क्या अभाव विषयक ज्ञान में भासित होने वाला **'भाव'** पदार्थ ही अभाव विषयक अनुमान का हेतु होगा? इसका उत्तर है कि भाट्ट मीमांसक ऐसा नहीं मानते हैं। वे कहते हैं कि भाव विषयक ज्ञान के न होने पर ही अभावज्ञान का जन्म होता है। अभाव विषयक ज्ञान के समय भाव पदार्थ का ग्रहण नहीं हो पाता।[24]

कुमारिल भट्ट का यह भी कहना है कि यदि अभाव का ग्रहण अनुमान प्रमाण से माना जाय, तो व्याप्तिरूप सम्बन्ध के ग्रहण में दोनो सम्बन्धियों का ज्ञान आवश्यक है। **'भूतले घटाभावः'** इसको यदि अनुमानगम्य मानें, तो साध्यरूप अभाव का ज्ञान आवश्यक है। इस अभाव का ज्ञान किस प्रमाण से होगा? **इससे सिद्ध होता है कि अनुमान प्रमाण से अभाव का बोध नहीं हो सकता–**

"सम्बन्धे गृह्यमाणे च सम्बन्धिग्रहणं ध्रुवम्।
तत्राभावमतिः केन प्रमाणेनोपजायते।।"[25]

अद्वैत वेदान्त में भी इसी मत का समर्थन किया गया है।[26] अभाव का ग्रहण **शब्द प्रमाण** के द्वारा भी नहीं हो सकता, क्योंकि **शाब्द प्रमा** में पद ज्ञान करण होता है और उससे शब्द प्रमा की उत्पत्ति होती है। लेकिन अभावानुभव ज्ञानरूपी करण से उत्पन्न नहीं होता। यहाँ घटाभाव का जो साक्षात् ज्ञान हमें प्राप्त होता है, वह किसी आप्त वाक्य से जन्य नहीं है। घटाभाव का यह ज्ञान सादृश्य ज्ञान भी नहीं है। इसलिए यह ज्ञान **उपमान** के अन्तर्गत भी नहीं आता। अतः अभावानुभव के असाधारण कारण के रूप में अनुपलब्धि प्रमाण को मानना आवश्यक है।[27]

पूर्व विवेचन में ही यह स्पष्ट किया जा चुका है कि मीमांसकों में केवल आचार्य शबर और भाट्ट मीमांसक ही अनुपलब्धि को पृथक् प्रमाण की संज्ञा प्रदान करते हैं। **प्राभाकर मीमांसक** अनुपलब्धि को पृथक् प्रमाण की मान्यता नहीं देते हैं। प्रभाकर मिश्र अधिकरणों से भिन्न घटाभाव आदि की पृथक् सत्ता नहीं मानते हैं, जिसके ज्ञान के लिए प्रमाणाभावरूप अनुपलब्धि प्रमाण की आवश्यकता पड़े। प्रभाकर मिश्र ने उपर्युक्त मीमांसकों के छठे प्रमाण अथवा अनुपलब्धि प्रमाण की मान्यता का उपहास किया है– **"अस्ति चेयं प्रसिद्धिर्मीमांसकानाम्–षष्ठं किलेदं प्रमाणम् इति। न चास्य ग्रन्थतो लोकतश्च प्रमाणतावसीयते। अतो न विद्मः प्रसिद्धेः किं बीजमिति।"**[28] **शालिकनाथ मिश्र** ने भी मीमांसक प्रसिद्धि पर प्रहार करने लिए प्रबल पौरूष की अपेक्षा की है– **"ये पुनरभावाख्यं षष्ठं प्रमाणमिच्छति, तत्प्रतिबोधनाय सम्प्रति यत्नं आरभ्यते।"**[29]

प्राभाकरों के अनुसार प्रमाण की उपयोगिता प्रमेय की सिद्धि के लिए मानी जाती है। जिस प्रमाण का अपना कोई पृथक् प्रमेय सिद्ध नहीं होता है, उस प्रमाण को मानना उचित नहीं

है। जो दार्शनिक अनुपलब्धि प्रमाण को मानते है, वे अभावरूप प्रमेय की सिद्धि के लिए उसे स्वीकार करते हैं। किन्तु अभाव नामक पदार्थ भाव पदार्थ से भिन्न सिद्ध नहीं होता है। 'इह भूतले घटो नास्ति'– इत्याकारक प्रतीति का विषय जिस अभाव को माना करते हैं, उस अभाव नामक पदार्थ की सत्ता की गवेषणा करने पर उसकी पृथक् सत्ता की सिद्धि नहीं होती है। वस्तुस्थिति यह है कि किसी भाव पदार्थ का ग्रहण दो रूपों में ही हुआ करता है– पदार्थान्तर से संसृष्ट तथा शुद्ध।

भावात्मक पदार्थ का ससर्ग संभव होता है, परन्तु अभाव रूप पदार्थ के साथ भूतलादि का संसर्ग प्रतीत ही नहीं होता। घटाभाव भूतल के स्वरूप से भिन्न अनुभव सिद्ध नही है। संसर्ग सदैव दो भाव पदार्थों का ही माना जाता है।अभाव के समान तुच्छ पदार्थो के साथ किसी प्रकार का सम्बन्ध संभव न होने के कारण प्रत्यक्षादि प्रमाणों के द्वारा अभाव की सिद्धि कदापि नहीं हो सकती। प्रत्यक्षादि पाँच प्रमाणों की निवृत्ति को जिसे अभाव का साधक माना जाता है, वह भी न्यायसंगत नहीं है, क्योंकि ज्ञात पदार्थ ही अपने सम्बन्धी पदार्थान्तर का साधक होता है। चूँकि प्रमाणों की निवृत्ति अज्ञात है, अतः इससे अभाव की सिद्धि नहीं हो सकती है। उसका ज्ञान मानने पर अनवस्था दोष प्रसक्त होता है। प्रमाणाभाव जिस प्रमाण के द्वारा उत्पन्न होता है, उसी से प्रमेयाभाव की भी अवगति हो सकती है। प्रमाणाभाव को प्रमेयाभाव का अवगतक मानना निरर्थक है। ज्ञात प्रमाणाभाव को भी प्रमेयाभाव की सिद्धि में निमित्त नहीं माना जा सकता, क्योंकि प्रमाणाभाव से प्रमेयाभाव का कोई सम्बन्ध स्थापित नहीं होता है। साक्षात् अथवा परम्परया सम्बन्ध रहित प्रमेय की साधकता किसी भी प्रमाण में नही देखी जाती। फलतः अभाव संज्ञक अनुपलब्धि प्रमाण की सत्ता किसी भी प्रकार सिद्ध नहीं हो सकती। अतः प्रत्यक्षादि प्रमाणों का सिद्धान्त अपनाना ही न्यायसंगत है।

किन्तु प्राभाकर मीमांसको का यह मत निराधार है कि 'अनुपलब्धि' नामक कोई प्रमाण नहीं है, क्योंकि उससे प्रमिति होने वाला कोई प्रमेय ही नहीं है। जो दही पहले से विद्यमान नहीं था, बाद में उसका अस्तित्त्व में आ जाना ही कार्य है तथा जो क्षीर पहले से था, किन्तु दधि के आविर्भाव के बाद नहीं रहता, वही क्षीर दधि का उपादान कारण कहलाता है।[30] यदि अभाव के प्रागभाव तथा प्रध्वंसाभाव रूपों को न माना जाय, तो उक्त कार्य–कारणभाव अनुपपन्न हो जायेगा।[31] यदि अभाव वस्तु नहीं है, तो 'अवस्तु' के प्रागभावादि अवान्तर भेद नहीं हो सकते। अतः घटादि के समान 'अभाव' वस्तु ही है। प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अन्योन्याभाव तथा अत्यन्ताभाव इन सभी में 'अभाव' है इत्याकारक अनुवृत्ति प्रतीति होती है। प्रत्येक में 'यह प्रागभाव है, प्रध्वंस नहीं' अथवा 'यह प्रध्वंसाभाव है, अत्यन्ताभाव नहीं', इत्याकारक व्यावृत्ति की प्रतीति भी होती है। जिस प्रकार गवादि वस्तुओं में अनुवत्ति प्रतीति तथा व्यावृत्ति दोनों ही होती हैं, उसी प्रकार उक्त दोनों ही प्रतीतियाँ अभावों में भी होती हैं। अतः अभाव भी गवादि के समान वस्तु ही है,[32] आकाशपुष्प की

भाँति अवस्तु नहीं। अभाव भी गवादि वस्तुओं के समान प्रमेय है, अतः अभाव अवस्तुक नही है। यदि अभाव को प्रमेय न मानकर अनुपलब्धि में प्रमाणता न स्वीकार किया जाय, तो 'दूध में दही है', 'दही में दूध है', 'घट में पट है', 'शश में श्रृंग है', पृथिव्यादि भूतवर्ग में चैतन्य है, 'वायु में रूप, रस, गन्धादि है', 'आकाश में स्पर्श है'–इत्यादि प्रतीतियो की आपत्ति होगी।[33] अतएव अनुपलब्धि नामक पृथक् प्रमाण है, जिसका 'अभाव' प्रमेय है।

अभाव के भेद

भाट्ट मीमांसकों और अद्वैत वेदान्तियों के अनुसार अनुपलब्धि प्रमाण के प्रमेयभूत अभाव के चार भेद होते हैं, जिन्हें क्रमशः **प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अन्योन्याभाव** और **अत्यन्ताभाव** कहा गया है।[34]

स्वोत्पत्ति से पूर्व उपादानकरण में कार्य का जो अभाव रहता है, उसे **प्रागभाव** कहते है। जैसे, घड़े की उत्पत्ति से पूर्व मृत्तिका में घड़े का अभाव– **"तत्र मृत्पिण्डादौ कारणे कार्यस्य घटादेरूत्पत्तेः पूर्वं योऽभावः स प्रागभावः।"**[35] वार्तिककार ने प्रागभाव का उदाहरण देते हुए कहा है कि दूध में दही की नास्तिता की 'क्षीरे दधि नास्ति' इत्याकारक प्रतीति होती है। उस 'नास्तिता' को अर्थात् दूध में दही की असद्रूपता को 'प्रागभाव' कहते हैं।

भाट्ट मीमांसा और अद्वैत वेदान्त के अनुसार कार्यनाश के अनन्तर जो उसका अभाव होता **है, वह प्रध्वंसाभाव है**। प्रागभाव के समान ही प्रध्वंसाभाव का भी अधिकरण, कार्य का उपादान **कारण ही होता है**। जैसे, घड़े के नष्ट हो जाने के बाद मृदा में घड़े का अभाव। **नैयायिकों** के अनुसार प्रध्वंसाभाव का कभी नाश नहीं होता। लेकिन **अद्वैत वेदान्ती** न्यायमत का खण्डन करते हुए कहते हैं कि **"सादिरनन्तः प्रध्वंसः"** मानने पर प्रध्वंसाभाव और ब्रह्म दोनों को नित्य मानना पड़ेगा, जिससे द्वैतापत्ति होगी। इसलिए प्रध्वंसाभाव का जिस– मृत्तिकादि अध्किरण में 'ध्वस्तः'–इत्याकारक प्रत्यय (बोध) होता है, उस मृत्तिकादि उपादान कारण का नाश होने पर उसमें स्थित घटध्वंस का भी ध्वंस मानना होगा।

भाट्ट मीमांसा और अद्वैत वेदान्त के अनुसार जिस अधिकरण में जिसका कालत्रय में भी **अभाव रहता है, उसे अत्यन्ताभाव कहते हैं**। जैसे, वायु में रूप का अभाव– **"यत्राधिकरणे यस्य कालत्रयेऽप्यभावः, सोऽत्यन्ताभावः। यथा वायौ रूपात्यन्ताभावः।"**[36] **श्लोकवार्तिक** में अत्यन्ताभाव **के उदाहरण** में 'शशश्रृंग' को प्रस्तुत किया गया है।[37] **नैयायिकों** ने अत्यन्ताभाव का उदाहरण **'इह भूतले घटो नास्ति'** दिया है। किन्तु एक स्थान पर घट के अत्यन्ताभाव से यह तो सिद्ध नहीं होता कि तदितरिक्त स्थल पर भी धट का अत्यन्ताभाव रहता है। 'वायु में रूप का अभाव'–अत्यन्ताभाव का यह उदाहरण निर्विवाद रूप से सत्य है।

नैयायिक अत्यन्ताभाव को नित्य मानते हैं, किन्तु **अद्वैत वेदान्ती** इसका खण्डन करते हुए कहते हैं कि घटादि पदार्थ जैसे ध्वंस के प्रतियोगी होते हैं (अर्थात् उनका ध्वंस होता है), वैसे ही अत्यन्ताभाव भी ध्वंसप्रतियोगी ही है। उसका भी प्रलयकाल में ध्वंस होता है। इस कारण ध्वंसाप्रतियोगित्वरूप नित्यत्व अत्यन्ताभाव में नहीं होता। वस्तुतः जब तक जगत् है, तब तक ही यह अत्यन्ताभाव रहता है और प्रलयावस्था में समस्त पदार्थों का ध्वंस होने पर उन पर अवलंबित होकर रहने वाले अत्यन्ताभाव का नाश होता ही है। प्रलयकाल में ब्रह्मातिरिक्त सत्ता ही नही होती।

'यह, यह नहीं है', इस प्रतीति का विषय जो अभाव है, वह **अन्योन्याभाव** है– **"इदमिदं नेति प्रतीतिविषयोऽन्योऽन्याभावः।"**[38] इसे ध्यान में रखकर ही 'तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्न' प्रतियोगिता वाले अभाव को अन्योन्याभाव माना गया है। अत्यन्ताभाव की प्रतियोगिता, घटादि अनेक प्रतियोगियों के संयोग, समवाय आदि अनेक सम्बधियों से अवच्छिन्न होती है, किन्तु अन्योन्याभाव की प्रतियोगिता केवल तादात्म्य सम्बन्ध से ही अवच्छिन्न होती है। **वार्तिककार कुमारिल भट्ट** के अनुसार 'अयं गौः नाश्वः' इत्याकारक गो में जो अश्वाभाव की प्रतीति होती है, उसे अन्योन्याभाव कहते हैं।

न्याय–वैशेषिक के अनुसार अन्योन्याभाव **'अनादिरनन्तः'** होता है, लेकिन **अद्वैत वेदान्तियों** का कहना है कि अन्योन्याभाव सादि और अनन्त दोनों होता है। उनके अनुसार अन्योन्याभाव का अधिकरण यदि सादि (उत्पत्तिमत्) हो, तो वह सादि (उत्पत्तिमान्) होता है। जैसै, घट में पट का भेद। परन्तु अधिकरण यदि अनादि हो, तो वह भी अनादि ही होता है। जैसे, जीव में ब्रह्म का भेद या ब्रह्म में जीव का भेद। यह दोनों प्रकार का भेद ध्वंस का प्रतियोगी (विनाशी) होता है, क्योंकि मूल विद्या की निवृत्ति होने पर उसके अधीन रहने वाले भेदों की निवृत्ति होना अवश्यम्भावी है।[39]

धर्मराजाध्वरीन्द्र के अनुसार अन्योन्याभाव के दो भेद हैं– सोपाधिक और निरूपाधिक। जिसकी सत्ता उपाधि की सत्ता से व्याप्त होती है, वह **सोपाधिक भेद** है और वैसी सत्ता से रहित भेद **निरूपाधिक भेद** है। दूसरे शब्दों में, जिस भेद में उपाधिसत्ता की अपेक्षा नहीं होती, उसे निरूपाधिक भेद कहते हैं। एक ही आकाश का घटादि उपाधियों के भेद से जो (घटाकाश महाकाश नहीं है) भेद होता है, वह या एक ही सूर्य का पात्रों (कलशों) के भेद से जो भेद होता है, वह सोपाधिक भेद का उदाहरण है। एक ही ब्रह्म का अन्तःकरणभेद से जो भेद होता है, वह भी सोपाधिक भेद ही होता है। निरूपाधिक भेद का उदाहरण इस प्रकार है– घट में पट का भेद।[40]

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि अनुपलब्धि (अभाव) प्रमाण का विस्तृत विवेचन पूर्वमीमांसा एवं अद्वैत वेदान्त दर्शन में किया गया है। पूर्वमीमांसा दर्शन में प्राभाकर मीमांसकों के अतिरिक्त अन्य सभी मीमांसक अनुपलब्धि को पृथक् प्रमाण मानते

हैं। मीमांसा दर्शन के प्रवर्तक आचार्य जैमिनि ने अभाव प्रमाण का कोई लक्षण नही दिया है। यह कार्य करने का श्रेय आचार्य शबर स्वामी को प्राप्त है। वैसे मीमांसकों में भाट्ट मीमांसको ने तथा अद्वैत वेदान्तियों ने अनुपलब्धि प्रमाण पर गहन चिन्तन किया है। अनुपलब्धि प्रमाण के बारे में इन दोनों दर्शनों में कोई विशेष मतभेद देखने को नहीं मिलता। उभय मत में उक्त प्रमाण का स्वरूप लगभग समान है। इनके अनुसार अभावानुभव का असाधारण कारण ही अनुपलब्धि प्रमाण है। लेकिन प्रत्येक अभावानुभव का ज्ञान अनुपलब्धि प्रमाण से नही होता। वस्तुतः जिस वस्तु की जिस परिस्थित में उपलब्धि होनी चाहिए, उस परिस्थिति में उसकी उपलब्धि न होने से ही उसका अभाव जाना जाता है। इस तरह अभाव ज्ञान का कारण **'योग्यानुपलब्धि'** है।

प्राभाकार मीमांसक अनुपलब्धि प्रमाण को नहीं मानते हैं। इनके अनुसार अभाव केवल अधिकरण स्वरूप है। 'इह भूतले घटोनास्ति' इत्याकारक अभाव प्रतीति को भाट्ट मीमांसक आदि माना करते हैं, इस अभाव नामक पदार्थ की सत्ता की गवेषणा करने पर भी उसकी पृथक् सत्ता सिद्ध नहीं होती है। परन्तु अभावरूप पदार्थ के साथ भूतलादि का संसर्ग प्रतीत नहीं होता है। अभाव जैसे पदार्थों के साथ किसी प्रकार का सम्बन्ध संभव न होने के कारण प्रत्यक्षादि प्रमाणो के द्वारा भी अभाव की सिद्धि कदापि नहीं हो सकती। साक्षात् या परम्परया सम्बन्ध रहित प्रमेय की साधकता किसी भी प्रमाण में नहीं देखी जाती, जिसके परिणामस्वरूप अभाव संज्ञक अनुपलब्धि प्रमाण की सत्ता किसी भी प्रकार सिद्ध नहीं हो सकती।

नैयायिकों ने भी प्राभाकरों की तरह अभाव के पृथक् प्रमाणत्व का खण्डन किया है। इन्होंने प्रत्यक्ष, अनुमान एवं आगम इन तीनों प्रमाणों में उक्त प्रमाण का अन्तर्भाव किया है। **भासर्वज्ञ** ने अनुपलब्धि को उपर्युक्त तीनों प्रमाणों में (न्या. सा., पृ. 114) और **जयन्त भट्ट** ने अनुमान और प्रत्यक्ष में (न्या.मं., पृ. 48.51) समाविष्ट किया है। इस तरह से इस विषय में नैयायिकों एवं प्राभाकर मीमांसको के मतों में समानता है। अन्तर केवल इतना ही है कि नैयायिक अभाव को पृथक पदार्थ भी मानते हैं, जबकि प्राभाकर अभाव पदार्थ का खण्डन करते हैं। इनके मत में वह अधिकरणस्वरूप ही है। इस प्रकार प्राभाकर न तो अभाव (अनुपलब्धि) प्रमाण मानते हैं और न अभाव नामक पदार्थ। भाट्ट मीमांसकों के मत में अभाव अधिकरणरूप नहीं है, बल्कि अधिकरण से अधिक तत्त्व है। नैयायिक भी अभाव को अधिकरण से अतिरिक्त मानते हैं, परन्तु वे उसका ग्रहण विशेष्य–विशेषणभाव सन्निकर्ष के माध्यम से प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा अथवा अनुमान प्रमाण या शब्द प्रमाण से कर लेते हैं।

लेकिन ध्यान पूर्वक विचार करने पर यह स्पष्ट होता हैं कि विशेषण–विशेष्यभाव कोई सम्बन्ध ही नहीं है, क्योंकि इस पर सम्बन्ध का कोई लक्षण घटित ही नहीं होता है। इस लिए उक्त सम्बन्ध के आधार पर अभाव को प्रत्यक्षगम्य नहीं माना जा सकता है। वस्तुतः इन्द्रियों का अभाव के साथ 'संयुक्त विशेषणता' का सन्निकर्ष न होकर अधिकरण से ही सम्बन्ध रहता है।

इसलिए नैयायिकों द्वारा उक्त 'इन्द्रिय–सम्बन्ध.विशेषणता' सम्बन्ध नही बन सकता। इस कारण विशेषणता सम्बन्ध (सन्निकर्ष) को अभाव प्रमा का जनक नहीं माना जा सकता। नैयायिको का यह कथन भी उचित नहीं है कि जिस इन्द्रिय से भाव पदार्थ का ज्ञान होता है उसी इन्द्रिय (प्रत्यक्ष) से अभाव पदार्थ का भी ज्ञान होता है। इसका कारण यह है कि केवल भाव पदार्थो के साथ ही इन्द्रियों का सन्निकर्ष हो सकता है, अभाव पदार्थो के साथ नहीं। इसलिए अभाव प्रमा के ज्ञान के लिए अनुपलब्धि प्रमाण को मानना आवश्यक है।

प्राभाकर मीमांसक अभाव की प्रमेयता का ही खण्डन कर देते हैं, फिर भी यह कहते हैं कि अभाव का ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण से हो जाता है। किन्तु अभाव की प्रमेयता सिद्ध है। यदि अभाव वस्तु नहीं है, तो उसके प्रागभाव तथा प्रध्वंसाभाव जैसे भेद अमान्य हो जायेंगे। ऐसी स्थिति में उपादान कारण से कार्य के प्रादुर्भाव तथा कार्य में कारण के अभाव की व्याख्या नहीं हो सकेगी। अभाव को न मानने से कार्य–कारणभाव अनुपपन्न हो जायेगा। अतः अभाव की प्रमेयता का खण्डन करके प्रत्यक्ष को अभाव प्रमा का जनक नहीं माना जा सकता।

अनुमान प्रमाण से भी अभाव का ज्ञान नहीं हो सकता क्योंकि अभाव के ग्रहणार्थ उपयुक्त लिंग अप्राप्त है। यह कहना संगत नहीं होगा कि घट का अभाव घट के अदर्शन से अनुमान किया जाता है, क्योंकि ऐसा अनुमान तभी संभव होता, जब हमें अदर्शन (अनुपलब्धि) और अभाव में व्याप्ति सम्बन्ध का ज्ञान रहता। परन्तु यदि ऐसा मान लिया जाय, तो आत्माश्रय दोष ;ग्मजपजपव च्तपदबपचपपद्ध उपस्थित होगा। इसी तरह यह ज्ञान शब्द या उपमान के अन्तर्गत भी नहीं आता, क्योंकि यहाँ आप्त वाक्य या सादृश्य ज्ञान नहीं है। अतः अनुपलब्धि का अन्तर्भाव किसी अन्य प्रमाण में नहीं किया जा सकता। अभाव पदार्थ के बोध के लिए एक स्वतन्त्र प्रमाण के रूप में 'अनुपलब्धि' को मानना आवश्यक है। जीवन में अभाव का बहुत महत्व है। यदि सामान्य व्यक्ति को ध्यान में रखकर हम विचार करें, तो भाव के साथ अभाव की समस्या सदैव जुड़ी रहती है। यदि अभाव की कोई सत्ता न होती, तो लोगों पर अभाव का प्रमाव ही क्यों पड़ता। अतः अभाव ज्ञान के लिए अनुपलब्धि प्रमाण को मानना आवश्यक है।

संदर्भ-ग्रंथ-सूचिका

1. शाबरभाष्य, शबर स्वामी, आनन्दाश्रम मुद्राणय, पूना, 1929, पृ० 30।
2. श्लोकवार्तिक, अभाव–1, भट्ट, कुमारिल, मद्रास विश्वविद्यालय प्रकाशन, मद्रास, 1940।
3. वेदान्तपरिभाषा, धर्मराजाध्वरीन्द्र, व्याख्या–मुसलगॉवकर; श्री गजानन शास्त्री, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1983 पृ० 279।
4. वही, पृ० 279।
5. वही, पृ० 279।
6. न्यायरत्नमाला, मिश्र; पार्थसारथि, चौखम्बा संस्कृत बुक डिपो, वाराणसी, 1900, पृ० 342।
7. श्लोकवार्तिक, अभाव–27, भट्ट; कुमारिल, मद्रास विश्वविद्यालय प्रकाशन, मद्रास,1940।
8. "Shloka Vartika (Eng. Translation), Jha; G.N., Assiatic Society of Bengal, Calcutta, 1900, p. 247.
9. न्यायरत्नमाला, मिश्र; पार्थसारथि, चौखम्बा संस्कृत बुक डिपो, वाराणसी, 1900, पृ० 342।
10. वेदान्तपरिभाषा, धर्मराजाध्वरीन्द्र, व्याख्या–मुसलगाँवकर; श्री गजानन शास्त्री, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1983, पृ० 282।
11. न्याय सूत्र, 2.2.2, गौतम, कलकत्ता संस्कृत गंन्थमाला, गंन्थाक 18, कलकत्ता, 1936।
12. वेदान्तपरिभाषा, धर्मराजाध्वरीन्द्र, व्याख्या–मुसलगाँवकर, श्री गजानन शास्त्री, चौखम्बा विद्याभवन् वाराणसी, 1983, पृ० 292।
13. श्लोकवार्तिक, अभाव–18, भट्ट; कुमारिल, मद्रास विश्वविद्यालय प्रकाशन, मद्रास, 1940।
14. वेदान्तपरिभाषा, धर्मराजाध्वरीन्द्र, व्याख्या–मुसलगॉवकर; श्रीगजाननशास्त्री, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी 1983, पृ0 288।
15. न्यायसूत्र, 2.2.2, गौतम, कलकत्ता संस्कृत ग्रन्थमाला, ग्रन्थाक 19, कलकत्ता, 1936।
16. वैशेषिकसूत्र 3.1.11, कणाद, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, 1933।
17. न्यायभाष्य, वात्स्यायन, कलकत्ता संस्कृत ग्रन्थमाला, ग्रन्थांक 18, कलकत्ता, 1936, पृ० 574।
18. न्यायवार्तिक उद्योतकर, कलकत्ता संस्कृत ग्रन्थमाला, ग्रन्थांक 18, कलकत्ता, 1936, पृ० 578।
19. न्यायवर्तिकतात्पर्यटीका, मिश्र; वाचस्पति, कलकत्ता संस्कृत ग्रन्थमाला, ग्रन्थांक 18, कलकत्ता, 1936, पृ० 578।
20. न्यायसूत्रवृत्ति, विश्वनाथ, कलकत्ता संस्कृत ग्रन्थमाला, ग्रन्थांक 18, कलकत्ता, 1936, पृ० 578।
21. सिद्धांतमुक्तावली–3, विश्वनाथ, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, 1951, पृ० 191।
22. न्याय मंजरी–1, भट्ट; जयन्त, प्राच्यविद्या प्राच्यसंशोधनालय, मैसूर, 1970, पृ० 48–51।
23. न्यायसार, भासर्वज्ञ, राष्ट्रीय मुद्रणालय, त्रिवेन्द्रम, 1931, पृ० 114।

24. श्लोकवार्तिक, अभाव–23, भट्ट; कुमरिल, मद्रास विश्वविद्यालय प्रकाशन, मद्रास, 1940।
25. वही, 36।
26. वेदान्तपरिभाषा, धर्मराजाध्वरीन्द्र, व्याख्या–मुसलगॉवकर, श्री गजाननशास्त्री, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी 1983, पृ० 279।
27. वही, पृ० 279।
28. बृहती, 1.1.5, मिश्र; प्रभाकर, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, 1929, पृ 120।
29. प्रकरणपंचिका, मिश्र; शालिकनाथ, काशी विश्वविद्यालय मुद्रणालय, वाराणसी, 1961, पृ० 2।
30. न्यायरत्नमाला, मिश्र; पार्थसारथि, चौखम्बा संस्कृत बुक डिपो, वाराणसी, 1900, पृ० 236।
31. श्लोकवार्तिक, अभाव–7, भट्ट; कुमारिल, मद्रास विश्वविद्यालय प्रकाशन, मद्रास, 1940,
32. वही, 9।
33. वही, 5–6।
34. वेदान्तपरिभाषा, धर्मराजाध्वरीन्द्र, व्याख्या–मुसलगॉवकर, श्री गजानन शास्त्री, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1983, पृ० 300।
35. वही, पृ 300।
36. वही, पृ० 305।
37. श्लोकवार्तिक, अभाव–5, भट्ट; कुमरिल, मद्रास विश्वविद्यालय प्रकाशन, मद्रास, 1940।
38. वेदान्तपरिभाषा, धर्मराजाध्वरीन्द्र, व्याख्या–मुसलगाँवकर; श्री गजानन शास्त्री, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1983, पृ० 306।
39. वही, पृ० 306–07।
40. वही, पृ० 309

● ●

उपसंहार

उपसंहार

अपने शोध–विषय "प्रमाण और उसके भेदों के प्रामाण्य की परीक्षा" के अन्तर्गत भारतीय दर्शन में विभिन्न प्रमाणों से सम्बन्धित समस्याओं को समझने से पूर्व हमने इस विषय पर अपना दृष्टिकोण स्पष्ट किया है कि 'प्रमा', 'अप्रमा' तथा 'प्रमाण' का स्वरूप क्या है ? तथा प्रमा व प्रमाण के बीच किस प्रकार का सम्बन्ध है? सामान्यतः यथार्थ ज्ञान को प्रमा तथा अयथार्थ ज्ञान को अप्रमा कहा जाता है। किन्तु यह यथार्थता किन ज्ञानों या अवस्थाओं में है, इस बारे में भारतीय दार्शनिकों में मतभेद है।

न्याय दर्शन के अनुसार विषय का असंदिग्ध तथा यथार्थ अनुभव प्रमा है। दूसरे शब्दों में, यथा विषय तथा अनुभव होने पर वह अनुभव प्रमा रूप है अन्यथा अप्रमारूप है। स्मृति चूँकि किसी अतीत घटना के अनुभव पर आधारित होती है, इसलिए वह प्रमारूप न होकर अप्रमा है। **जयन्त भट्ट** ने "असंदिग्ध तथा अव्यभिचारी अर्थोपलब्धि" के रूप में प्रमा को परिभाषित किया है। उनके अनुसार अर्थ (विषय) से उत्पन्न होने वाला ज्ञान प्रमा है और ऐसा न होने वाला ज्ञान अप्रमा है। मीमांसक **प्रभाकर मिश्र** की भाँति वे मानते हैं कि अर्थजन्य न होने से स्मृति अप्रमारूप है। संक्षेप में, नैयायिकों के अनुसार संवादी ज्ञान प्रमा है और असंवादी ज्ञान अप्रमा है। यह प्राचीन नैययिकों का मत है।

किन्तु प्राचीन न्याय का उपर्युक्त मत उचित नहीं है। यदि संवादी ज्ञान को प्रमा माना जाय, तो इसका अर्थ यह होगा कि वस्तु ज्ञान से स्वतन्त्र है और दोनों के भिन्न आयाम हैं। ऐसा स्थिति में दोनों में तुलना असंभव होगी और तुलना के अभाव में इस बात का निर्णय नहीं हो पायेगा कि ज्ञान वस्तु के अनुरूप है या नहीं। जयन्त के लक्षण को मान लेने से भूतकालीन तथा भविष्यकालीन वस्तुओं का ज्ञान भी विषय द्वारा उत्पन्न न होने के कारण अप्रमा ही होगा। अतः प्रमा के लक्षण के बारे में प्राचीन न्याय का मत अस्वीकार्य है।

नव्य न्याय के जनक **गंगेश उपाध्याय** ने "तद्वति तत्प्रकारकानुभवो वा" के रूप में प्रमा को परिभाषित किया है। उनके अनुसार वस्तुतः जो वस्तु जिस तरह की हो, उसे उसी तरह का समझना प्रमा है। किन्तु गंगेश द्वारा निर्धारित प्रमा का लक्षण संन्तोषजनक नहीं है। **प्रो० जे० एन० मोहन्ती** के अनुसार गंगेश की परिभाषा का अर्थ है कि यदि ज्ञानात्मक स्थिति तात्त्विक स्थिति के अनुरूप हो, तो वह ज्ञान प्रमारूप होगा, अन्यथा अप्रमारूप। निश्चित रूप से प्रमा का यह लक्षण यथार्थता की कठिनाइयों की ओर ले जाता है। इसलिए प्रमा का यह लक्षण भी हमें अमान्य है।

सांख्य दार्शनिकों के अुनसार प्रमा वह ज्ञान है जो उस विषय को बताता है जो संशयरहित, वास्तविक और नवीन हो। यह ज्ञान जड़ बुद्धि में पुरूष (चैतन्य) के प्रकाश के विना नहीं हो सकता है। किन्तु प्रमा के साक्षी पुरूष को प्रमाता मान लेने पर उसमें कर्त्तृत्व का आरोप हो जायेगा जो उचित नहीं है। इसलिए सांख्य मत भी निर्दोष नहीं है। **जैन दार्शनिकों** का प्रमा

एवं प्रमाण सम्बन्धी विचार बौद्धों व मीमांसकों के मतों से पर्याप्त साम्यता रखता है। इसलिए जैन मत में उनके सारे दोष आ जाते है।

बौद्ध दर्शन में दो विशेषताओं से युक्त ज्ञान को प्रमा माना गया है– अविसंवादकत्व अर्थात् संवादप्रवृत्ति या अर्थक्रियाकारित्व और अनधिगतता अर्थात् नवीनता। किन्तु प्रमा के ये दोनों लक्षण दोषपूर्ण हैं। धर्मराजाध्वरीन्द्र का कहना है कि कभी–कभी मिथ्या संज्ञान भी हमारे प्रयोजन की पूर्ति कर देता है। अतः प्रयोजनपूरकता मात्र को प्रमा का स्वतन्त्र निकष नहीं माना जा सकता है। मीमांसक **नारायण** के अनुसार किसी ज्ञान की उपयोगिता के आधार पर उसके प्रमात्व का निर्धारण करने से 'अतिव्याप्त परिभाषा–दोष' उत्पन्न हो जाता है, क्योंकि स्मृति की उपयोगिता के आधार पर उसे भी प्रमा माना जा सकता है। इसी प्रकार अनधिगतता को प्रमा का लक्षण मान लेने पर भूत तथा भविष्य के विषय में ज्ञान तथा अनुमान से प्राप्त ज्ञान की सत्यता पर भी सन्देह उत्पन्न हो जायेगा। इसलिए अविसंवादक ज्ञान की भांति ही अनधिगत ज्ञान को प्रमा का स्वतन्त्र लक्षण नहीं माना जा सकता है। इस प्रकार प्रमा सम्बन्धी बौद्ध मत भी निर्दोष न होने से हमें स्वीकार्य नही है।

प्राभाकर मीमांसकों ने अनुभूति जिसकी उत्पत्ति प्रत्यक्षतः वस्तु व इन्द्रिय के सम्पर्क से होती है, को प्रमा माना है– "अनुभूतिः प्रमाणम्।" चूँकि स्मृति संस्कारजन्य होती है, इसलिए वह अप्रमा है, प्रमा नहीं । किन्तु प्राभाकरों के इस मत को मान लेने से सम्पूर्ण धारावाहिक ज्ञान अप्रमा हो जायेगा, क्योंकि धारावाहिक ज्ञान में बाद के क्षणों का ज्ञान संस्कारजन्य होता है। किन्तु ऐसा मानना उचित नहीं होगा, क्योंकि धारावाहिक ज्ञान से भी हमें सत्य ज्ञान की प्राप्ति होती है। इस कठिनाई के निवारणार्थ कुछ प्राभाकरों ने व्यवहार–अविसंवाद को प्रमा का लक्षण माना है। यहाँ प्राभाकरों का मत **बौद्धों व नैयायिकों** के मत के सदृश हो जाता है जिसके परिणाम स्वरूप प्राभाकर मत में भी बौद्ध व न्याय मत की सारी कठिनाइयाँ आ जाती हैं। इसलिए प्राभाकर मत भी निर्दोष नहीं रह पाता ।

भाट्ट मीमांसकों ने चार विशिष्टताओं से युक्त ज्ञान को प्रमा माना है । ये हैं– अनधिगतता, दृढ़ता, कारण–दोषरहितता और बाधकज्ञानरहितता । इनमें से अनधिगतता को प्रमा का लक्षण मान लेने से बौद्ध मत की सारी कठिनाइयाँ भाट्ट मत में आ जायेंगी । अतः 'अनधिगतता' को प्रमा का लक्षण नहीं माना जा सकता है, किन्तु दृढ़ता को प्रमा का लक्षण माना जा सकता है, किन्तु दृढ़ता या निश्चितता का आधार मनोवैज्ञानिक न होकर तार्किक होना चाहिए । कारणदोषरहितता तथा बाधकज्ञानरहितता को प्रमा का लक्षण मानने में हमें कोई आपत्ति नहीं है।

अद्वैत वेदान्त में अबाधित विषय के ज्ञान को प्रमा कहा गया है । इसके अनुसार उत्तरकाल में जिस ज्ञान का बाध न हो, वह प्रमा है । यह लक्षण अनुभव तथा स्मृति पर समान रूप से घटित होता है, इसलिए अद्वैत वेदान्त में स्मृति को प्रमा रूप मानने का विरोध नहीं किया गया है। **जैन** और

वैशेषिक दार्शनिकों ने भी स्मृति को प्रमारूप माना है।

लेकिन नव्य न्याय के जनक **गंगेश उपाध्याय** ने अबाधिता को प्रमा का लक्षण मानने का इस आधार पर विरोध किया है कि अबाधिता को प्रमा का लक्षण मान लेने पर अप्रमा को भी प्रमारूप मानना पड़ेगा, क्योंकि कभी–कभी अज्ञान भी काफी समय तक अबाधित रहता है। उनका तर्क है कि यद्यपि एक सत्य ज्ञान असत्य ज्ञान द्वारा बाधित होता है, किन्तु यह बाधा उसी समय होगी, जब एक ज्ञान सत्य और दूसरा ज्ञान असत्य होगा। किन्तु यदि दोनो ही ज्ञान असत्य होंगे, तो बाधा होगी ही नहीं । अतः अबाधिता को प्रमा का लक्षण नहीं माना जा सकता ।

परन्तु अद्वैत वेदान्त के विरूद्ध गंगेश का आक्षेप केवल तभी स्वीकार्य हो सकता है जब यह मान लिया जाय कि जिस समय एक ज्ञान दूसरे ज्ञान से बाधित होता है और अन्य ज्ञान के रूप में परिवर्तित होता है, तो यह परिवर्तन आकस्मिक या अकारण होता है। किन्तु अद्वैत वेदान्तियों का मत इसके पूर्णतः प्रतिकूल है । उनके अनुसार अबाधिता का अर्थ है कि यदि दो ज्ञानों में विरोध हो, तो इस विरोध की कोई न कोई उपयुक्त व्याख्या अवश्यमेव उपलब्ध होनी चाहिए । अबाधिता के इस अर्थ को स्वीकार कर लेने पर कारण–दोषरहितता तथा निश्चितता की विशेषताएँ स्वतः ही स्वीकृत हो जायेंगी और न्याय दर्शन में स्वीकृत यथार्थता की विशेषताओं से उत्पन्न कठिनाइयों का भी समाधान हो जायेगा। इसलिए **अबाधिता को प्रमा का सर्वोच्च मापदण्ड एवं लक्षण माना जा सकता है**।

यहाँ एक प्रश्न यह उठता है कि अबाधित यथार्थ ज्ञान को परखने की कसौटी या साधन क्या है ? उत्तर है प्रमाण । प्रमाणों के अभाव में कोई भी ज्ञान सिद्धान्त तार्किक रूप से पंगु ही रहता है । अतः विभिन्न प्रमाणों के लक्षण, भेद आदि की प्रामाणिकता की परीक्षा करने से पूर्व हमने यह जानने का प्रयास किया है कि प्रमाण का लक्षण क्या है तथा प्रमाण के कितने भेद हैं ?

जिस तरह से प्रमा को यथार्थनुभरूप मानने में दार्शनिकों में मतैक्य है, उसी तरह से प्रमा के करण के रूप में प्रमाण को परिभाषित करने में दार्शनिकों में मतैक्य है । प्रायः सभी दर्शनों में यह माना गया है कि **प्रमा का साधकतम् करण ही प्रमाण है**। साधकतम् वह है जो क्रिया का सर्वाधिक समीपवर्ती हो, जिसका व्यापार होते ही क्रिया के फल की निष्पत्ति हो जाय तथा बीच में किसी वस्तु का व्यवधान न हो।किन्तु "प्रमाकरणं प्रमाणम्" के रूप में प्रमाण को परिभाषित करते हुए भी विभिन्न दर्शनों में अपनी–अपनी विशिष्ट दार्शनिक मान्यताओं के आधार पर प्रमाण के विशिष्ट लक्षण निर्धारित किये गये हैं जिसके मूल में प्रमा ज्ञान का विशेष विवेचन है। अतः जिन दर्शनों द्वारा निर्धारित प्रमा का लक्षण दोषपूर्ण है, उनका प्रमाण–लक्षण भी निर्दोष नहीं रह पाया है। 'प्रमा एवं प्रमाण' के विवेचन में हमने विस्तारपूर्वक यह देखा है कि प्रमा के लक्षण के बारे में केवल अद्वैत वेदान्त का मत ही तर्कसंगत है। अतः हमारे विचार से प्रमाण–लक्षण के बारे में भी **अद्वैत वेदान्त** का मत **ही अधिक तर्कसंगत है जिसके अनुसार "अबाधित अर्थविषयक ज्ञान का करण ही प्रमाण है।"**

भारतीय दर्शन में प्रमा और प्रमाण के लक्षण की ही भाँति **प्रमाण–संख्या** के बारे में भी विवाद

है। इस सम्बन्ध में एक से लेकर आठ प्रमाण तक माने गये है जिनमें प्रत्यक्ष ही सभी दर्शनो मे सर्वस्वीकृत प्रमाण है। विषय वस्तु को अति विस्तार से बचाने के लिये केवल प्रथम छः प्रमाणो का ही विवेचन प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में किया गया है।

जहाँ तक **प्रत्यक्ष** का प्रश्न है, **चार्वाकों** के अनुसार इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष से जन्य ज्ञान ही प्रत्यक्ष है। इसके अतिरिक्त चार्वाक दर्शन में प्रत्यक्ष का कोई निश्चित लक्षण निर्धारित नही किया गया है। **जैन दर्शन** के अनुसार आत्म–सापेक्ष ज्ञान ही प्रत्यक्ष है। अर्थात् प्रत्यक्ष वह ज्ञान है जिसे आत्मा स्वयं जानता है और जिसके लिये आत्मा को इन्द्रिय या मन रूपी माध्यम की आवश्यकता नही होती। लेकिन **नव्य जैन दार्शनिकों** ने प्रत्यक्ष ज्ञान के लिये इन्द्रयों को माध्यम के रूप में आवश्यक माना है। 'व्यावहारिक प्रत्यक्ष' की संकल्पना इसका प्रमाण है।

बौद्ध दर्शन के विभिन्न आचार्यो ने भिन्न–भिन्न रूप में प्रत्यक्ष को परिभाषित किया है। **बसुबन्धु** के अनुसार जिस अर्थ का जो ज्ञान होता है, यदि उससे ही वह उत्पन्न होता है, अन्य अर्थ से नहीं तो वह प्रत्यक्ष है--"ततोऽर्थाद् विज्ञानं प्रत्यक्षं।" किन्तु प्रत्यक्ष का यह लक्षण दोषपूर्ण है, क्योंकि जैसाकि **वाचस्पति मिश्र** ने कहा है कि "ग्राह्य अर्थ ग्राहक ज्ञान एक साथ नही रहते हैं।" **दिङ्नाग** और **श्चेरवात्स्की** के अनुसार भी बसुबन्धु कृत प्रत्यक्ष लक्षण असंगत है। इसलिए प्रत्यक्ष का यह लक्षण अग्राह्य है। **दिङ्नाग** के अनुसार कल्पना, नाम, जाति आदि से असंयुक्त धारणा ही प्रत्यक्ष है। प्रत्यक्ष के इस लक्षण से प्रत्यक्ष का सविकल्पक प्रत्यक्ष और अनुमानादि से व्यावृत्ति हो जाती है। इसके अनुसार निर्विकल्पक प्रत्यक्ष ही वास्तविक प्रत्यक्ष है। किन्तु **धर्मकीर्ति** ने इसकी आलोचना करते हुए कहा है कि प्रत्यक्ष के उक्त लक्षण को स्वीकार कर लेने से सत्य को सभी प्रकार की भ्रान्तियों से मुक्त नहीं रखा जा सकता। इसके लिये प्रत्यक्ष की परिभाषा में 'कल्पनापोढम्' पद के साथ 'अभ्रान्त' पद का समावेश आवश्यक है। उनके शब्द हैं– "प्रत्यक्षं कल्पनापोढमऽभ्रान्तम्।" अर्थात् कल्पनारहित (निर्विकल्पक) तथा निर्भ्रान्त (सभी संशयों से रहित) ज्ञान प्रत्यक्ष है। यहाँ निर्विकल्पक से धर्मकीर्ति का तात्पर्य साक्षात् ज्ञान से है। अर्थात् जो वस्तु जैसी है, यदि उसी रूप में हमें ज्ञात हो सके, तो ऐसे प्राप्त हुए ज्ञान को साक्षात्कारात्मक ज्ञान कहा जायेगा। दिङ्नागकी तरह ही धर्मकीर्ति भी सविकल्पक प्रत्यक्ष को प्रत्यक्ष की परिधि से बहिष्कृत करके केवल निर्विकल्पक प्रत्यक्ष को वास्तविक प्रत्यक्ष मानते हैं। धर्मकीर्ति द्वारा निर्धारित प्रत्यक्ष का लक्षण प्रत्यक्ष के बारे में सम्पूर्ण बौद्ध दर्शन का प्रतिनिधत्व करता हुआ प्रतीत होता है। बौद्धों के अनुसार नामजात्यादि की योजना से युक्त वस्तु का ज्ञान सविकल्पक प्रत्यक्ष की परिधि में आ जाता है। इसलिए इसे प्रामाणिक नहीं माना जा सकता है। केवल निर्विकल्पक प्रत्यक्ष ही प्रामाणिक प्रत्यक्ष है।

किन्तु कल्पना से अपोढ़ अर्थात् नामजात्यादि की योजना से रहित, भ्रमभिन्न ज्ञान को प्रत्यक्ष

नही माना जा सकता है, क्योंकि, जैसा कि मीमांसकों ने माना है, इन्द्रिय ज्ञान के द्वारा जाति आदि की योजना सहित पदार्थ का जो सविकल्पक प्रत्यक्ष होता है, उसका निराकरण नहीं किया जा सकता है, क्योंकि यह अनुभव सिद्ध तथ्य है कि जाति, गुण आदि की प्रतीति सदैव द्रव्य के साथ ही होती है, उससे पृथक् रूप में नहीं। इसी तरह नामादि की योजना को भी असंगत मानना अनुचित है, क्योंकि "अयं देवदत्तः" इस ज्ञान की प्रत्यक्षात्मक प्रतीति होती है। वस्तुत', इन्द्रियो से होने वाले ज्ञान में नाम योजना आवश्यक है। इसलिए नाम योजना से उत्पन्न ज्ञान को प्रत्यक्षात्मक न मानना उचित नहीं है। इस तरह से हमारी दृष्टि में प्रत्यक्ष का बौद्ध लक्षण दोषपूर्ण होने से अग्राह्य है।

जहाँ तक **न्याय दर्शन** की बात है, उसमें इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्न ज्ञान को प्रत्यक्ष माना गया है जिसे अधिकांश भारतीय दर्शनों में स्वीकृति प्रदान की गयी है। न्याय दर्शन के जनक **महर्षि गौतम** ने प्रत्यक्ष का विशिष्ट लक्षण निर्धारित करते हुए इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से जन्य 'अव्यपदेश्य' (अशाब्दज) 'अव्यभिचारी' (संशय–विपर्यय से रहित) 'व्यवसायात्मक' ज्ञान को प्रत्यक्ष कहा है। किन्तु प्रत्यक्ष की यह परिभाषा अव्याप्ति, अतिव्याप्ति और अन्योन्याश्रय दोष से ग्रसित होने के कारण हमें अस्वीकार्य है।

नव्य न्याय के जनक **गंगेश उपाध्याय** के अनुसार साक्षात् प्रतीति ही प्रत्यक्ष है– "प्रत्यक्षस्य साक्षात्कारित्वं लक्षणं।" साक्षात्कारित्व की उत्पत्ति इन्द्रिय, अर्थ, मन और आत्मादि के सन्निकर्ष से होती है। प्रत्यक्ष की यह परिभाषा प्राचीन न्याय की परिभाषा की तुलना में अधिक सन्तोषजनक है, क्योंकि इससे लौकिक एवं अलौकिक, मानवीय तथा ईश्वरीय सभी प्रकार के प्रत्यक्षों की व्याख्या हो जाती है। अन्य ज्ञानों से प्रत्यक्ष का भेद प्रदर्शित करने के लिये गंगेश ने प्रत्यक्ष का यह लक्षण भी निर्धारित किया है कि "ज्ञानाकारणकं ज्ञानं प्रत्यक्षम्।" अर्थात् जिसका कारण कोई अन्य ज्ञान नहीं है, वह प्रत्यक्ष है। **विश्वनाथ पंचानन** भी इसी मत के समर्थक हैं।

परन्तु "ज्ञानाकारणकं ज्ञानं प्रत्यक्षम्" के रूप में नव्य न्याय द्वारा निर्धारित प्रत्यक्ष का लक्षण भी दोषपूर्ण है, क्योंकि सविकल्पक प्रत्यक्ष में यह लक्षण अव्याप्त है। पुनश्च, ज्ञानाकरणक ज्ञानत्वरूप प्रत्यक्ष का लक्षण केवल तभी प्रयोज्य हो सकता है, जब मन को अंतरिन्द्रिय के रूप में स्वीकार कर लिया जाये। जो दार्शनिक मन को अतरिन्द्रिय नहीं मानते, उनके लिये प्रत्यक्ष की यह परिभाषा सन्तोषजनक नहीं हो पाने के कारण अस्वीकार्य हो जाती है। **वैशेषिक दर्शन** द्वारा निर्धारित प्रत्यक्ष का लक्षण बहुत कुछ प्राचीन न्याय के समान है। अतः इसके प्रत्यक्ष–लक्षण में प्राचीन न्याय की परिभाषा के सारे दोष आ जाते हैं। इसलिए वैशेषिक मत भी अमान्य है।

मीमांसकों का प्रत्यक्ष लक्षण विवेचन बहुत कुछ नैयायिकों के समान है। भाट्ट मीमांसकों का मत प्राचीन न्याय के सदृश है, जबकि प्राभाकरों का मत नव्य न्याय के समतुल्य है। इसलिए मीमांसकों के प्रत्यक्ष लक्षण में वे सारे दोष आ जाते हैं जो न्यांय दर्शन के प्रत्यक्ष के लक्षण में विद्यमान हैं।

इसलिए प्रत्यक्ष–लक्षण के बारे में मीमांसा मत भी हमें स्वीकार्य नहीं है।

सांख्य–योग दर्शन में भी न्याय–वैशेषिक एवं मीमांसा दर्शनों की भाँति प्रत्यक्ष की उपलब्धि में इन्द्रियों को आवश्यक एवं अनवार्य माना गया है। इसलिए सांख्य–योग मत भी निर्दोष नहीं है।

अद्वैत वेदान्त में अन्य सभी दर्शनों द्वारा प्रतिपादित प्रत्यक्ष की परिभाषाओं के लक्षणों के प्रति सामूहिक अरूचि प्रदर्शित करते हुए कहा गया है कि प्रत्यक्ष साक्षात्कारी ज्ञान है और सर्व प्रथम प्रकाश या चैतन्य का ही साक्षात्कार होता है। तत्पश्चात् उसके विशेषण के रूप में अन्य वस्तुओं का भान होता है। प्रत्यक्ष को साक्षात्कारी ज्ञानरूप मानने में नव्य न्याय से अद्वैत वेदान्त की समानता है। लेकिन दोनों में प्रमुख अंतर यह है कि नव्य न्याय **के अनुसार साक्षात्कारित्व की उत्पत्ति इन्द्रिय, अर्थ और मनसादि के सन्निकर्ष से होती है, जबकि अद्वैत वेदान्त में मन के इन्द्रियत्व का निषेध करके यह माना गया है कि प्रत्यक्ष अर्थात् साक्षात्कारी ज्ञान के लिये इन्द्रियों का होना आवश्यक नहीं है।**

बौद्ध दर्शन में भी अद्वैत वेदान्त के ही समान मन के इन्द्रियत्व का निषेध करके प्रत्यक्ष को साक्षात् अनुभूति रूप माना गया है। परन्तु साक्षात् अनुभूति के स्वरूप के बारे में दोनों दर्शनों में मतभेद है। **बौद्ध दर्शन की साक्षात् अनुभूति ऐन्द्रिक भी है, जबकि अद्वैत वेदान्त के अनुसार साक्षात् अनुभूति का स्वरूप पराबौद्धिक है।** अनेक पाश्चात्य दार्शनिकों ने भी साक्षात् अनुभूति को पराबौद्धिक माना है। अतः अद्वैत वेदान्त का मत अधिक औचित्यपूर्ण जान पड़ता है।

अद्वैत वेदान्त में प्रत्यक्ष को चैतन्य रूप माना गया है तथा चैतन्य के तीन रूप निर्धारित किये गये हैं–प्रमाण –चैतन्य, प्रमातृ–चैतन्य, और विषय चैतन्य। चैतन्य अर्थात् प्रत्यक्ष प्रमा के आधार पर प्रत्यक्ष के दो भेद माने गये हैं– विषयगत प्रत्यक्ष तथा ज्ञानगत प्रत्यक्ष। जब प्रमाण चैतन्य का विषय चैतन्य से अभेद होता है, तो उसे ज्ञानगत प्रत्यक्ष कहते हैं और जब प्रामतृ चैतन्य का विषय चैतन्य से तादात्म्य होता है, तो उसे विषयगत प्रत्यक्ष कहते हैं।

अद्वैत वेदान्त की विशिष्टता यह है कि इसमें प्रत्यक्ष प्रमा व प्रत्यक्ष प्रमाण का अलग–अलग व स्पष्ट विवेचना किया है। इसमें प्रत्यक्ष प्रमा के करण को प्रत्यक्ष प्रमाण तथा अन्तःकरण की वृत्ति को प्रत्यक्ष प्रमा का करण (साधकतम् या असाधारण) माना गया है। इसके अनुसार **प्रमाण चैतन्य के साथ विषय चैतन्य का अभेद ही प्रत्यक्ष है और ऐसा करने वाली वृत्ति प्रत्यक्ष प्रमाण है।** इस प्रकार अद्वैत वेदान्त में ज्ञाता व ज्ञेय के मध्यस्त दोनों आवरणों का भंग करके उन दोनों से अवच्छिन्न चैतन्यों के अभेद को अभिव्यक्त करने के द्वारा विषय को अपरोक्ष बनाने वाली वृत्ति को प्रत्यक्ष प्रमाण माना गया है। अद्वैत वेदान्त का यह मत अधिक तर्कसंगत है। इसलिए इसे सिद्धांत के रूप में स्वीकार किया जा सकता है।

भारतीय दर्शन में प्रत्यक्षात्मक **विषय–ग्रहण की प्रक्रिया** के सम्बन्ध में विविध मत पाये जाते हैं। **चार्वाकों** के अनुसार इन्द्रियार्थ संयोग से प्रत्यक्ष ज्ञान की प्राप्ति होती है। **जैन दर्शन** के अनुसार

"पारमार्थिक प्रत्यक्ष" में इन्द्रियादि की सहायता के विना ही तथा "व्यावहारिक प्रत्यक्ष" में इन्द्रिय या मन की सहायता से आत्मा व ज्ञेय वस्तुओं में सम्बन्ध होने के पश्चात् "अवग्रह", "ईहा" "आवाय" और "धारणा" के क्रम में प्रत्यक्ष ज्ञान की उत्पत्ति होती है। **बौद्ध दर्शन** के अनुसार इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से प्रथम क्षण में सर्वोपाधि विविक्त वस्तुमात्र (स्वलक्षण) का निर्विकल्पक प्रत्यक्ष होता है। **सांख्य–योग** के अनुसार बुद्धितत्त्व इन्द्रिय प्रणालिका के द्वारा विषयाकार में परिणत होकर विषय का ग्रहण करती है। **न्याय–वैशेषिक** प्रत्यक्ष के विषय ग्रहण हेतु षड्विध सन्निकर्षों की तथा **मीमांसकों** ने तीन प्रकार के सन्निकर्षो की कल्पना करके इन्द्रियो का वस्तु से सम्बन्ध, मन का इन्द्रियों से सम्बन्ध, आत्मा का मन से सम्बन्ध की पृष्ठभूमि में प्रत्यक्ष को उत्पन्न होना मानते हैं। प्रत्यक्ष की प्रक्रिया के विषय में **अद्वैत वेदान्तियों** का कहना है कि सर्वप्रथम अन्तः करण नेत्रादि इन्द्रिय द्वारा निकल कर घटपटादि के पास जाता है और फिर उस विषय के आकार में परिणत हो जाता है। इसी परिणाम का नाम वृत्ति है। चूँकि अन्तःकरण में वृत्ति प्रतिक्षण उत्पन्न होती रहती है, इस कारण इससे उत्पन्न ज्ञान को जन्य कहा जाता है। **प्रत्यक्ष के विषय ग्रहण की प्रक्रिया के बारे में अद्वैत वेदान्त का मत अन्य मतों की तुलना में अधिक तर्कसंगत प्रतीत होता है।**

न्याय–वैशेषिक दर्शन में इन्द्रिय, इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष और ज्ञान (निर्विकल्पक ज्ञान) को प्रत्यक्ष का करण माना गया है। **भाट्ट मीमांसकों** ने प्रत्यक्ष ज्ञान के तीन करण माना है– इन्द्रिय, निर्विकल्पक ज्ञान और सविकल्पक ज्ञान। प्राभाकर मीमांसकों के भी अनुसार प्रत्यक्ष ज्ञान के तीन करण हैं– इन्द्रिय, आत्म–मनः सन्निकर्ष और प्रकाश रूप ज्ञान। **अद्वैत वेदान्त** में इन्द्रिय सन्निकर्षादि को करण माना गया है। अधिकांश दार्शनिकों ने इन्द्रियों के करणत्व को स्वीकार किया है।

प्रत्यक्ष को इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्य ज्ञान के रूप में परिभाषित करने वाले दार्शनिकों ने प्रत्यक्ष **ज्ञान के तीन घटक** माने हैं– इन्द्रिय, सन्निकर्ष और पदार्थ। **न्याय–वैशेषिक, सांख्य–योग** और **मीमांसा** दर्शनों में कुल छः इन्द्रियों को माना गया है– पंच ज्ञानेन्द्रियाँ और मन। इन्द्रियों के बारे में न्याय एवं सांख्य दर्शन में विस्तृत विवेचन किया गया है। न्याय–वैशेषिक के अनुसार पंच ज्ञानेन्द्रियों की उत्पत्ति पंच महाभूतों से होती है, जब कि सांख्य–योग के अनुसार इन्द्रियों की उत्पत्ति अहंकार से होती है। **न्याय–वैशेषिक** के अनुसार मन, नित्य एवं अणुरूप है। मन का एक समय में एक ही इन्द्रिय के साथ सन्निकर्ष होता है। **सांख्य–योग** मत इससे भिन्न है। इनके अनुसार मन अणुरूप न होकर सावयव है, अतः एक ही साथ भिन्न–भिन्न इन्द्रियों के साथ संयुक्त हो सकता है। मन नित्य पदार्थ नहीं है, बल्कि प्रकृति का एक कार्यद्रव्य है। अतः वह उत्पन्न एवं विनष्ट होता रहता है। **बौद्ध, जैन एवं अद्वैत वेदान्त दर्शन** में मन के इन्द्रियत्व का निषेध किया गया है। मीमांसकों का इन्द्रिय सम्बन्धी विचार प्राचीन नैयायिकों के समान है, किन्तु वे श्रोतेन्द्रिय को आकाशस्व रूप न मानकर दिग्भागीय मानते हैं।

जहाँ तक **इन्द्रियों की प्राप्यकारिता** का प्रश्न है, प्राचीन न्याय, सांख्य और अद्वैत वेदान्त

में इन्द्रियों को प्राप्यकारी माना गया है, जबकि नव्य न्याय में इन्द्रयों की प्राप्य कारिता का निषेध किया गया है। भाट्ट मीमांसक केवल ध्राण, त्वक्, एवं जिह्वा इन्द्रियों को ही प्राप्यकारी मानते है। प्राभाकर मीमांसक इन्द्रिय सम्बध को केवल असमवायि कारण मानते हैं। जैन दार्शनिक चक्षुरिन्द्रिय के अतिरिक्त शेष चारों इन्द्रियों को प्राप्यकारी मानते हैं।

सन्निकर्ष के बारे में मुख्य विवाद नैयायिकों व मीमांसकों में है। **नैयानिक** लौकिक सन्निकर्ष के छः भेद मानते हैं– संयोग, संयुक्त समवाय, संयुक्त समवेतसमवाय, समवाय, समवेत समवाय, विशेष्य–विशेषणभाव। नैयायिक अलौकिक सन्निकर्ष के भी तीन भेद मानते हैं– सामान्य लक्षण, ज्ञान लक्षण ओर योगज। **मीमांसा दर्शन** में अलौकिक सन्निकर्ष का खण्डन किया गया है, क्योंकि मीमांसक अविद्यमान विषयों का प्रतयक्ष मानते ही नही हैं। मीमांसकों ने न्याय के छः प्रकार के लौकिक सन्निकर्षों का भी खण्डन किया है। भाट्ट मत में संयोग और सयुक्त तादात्म्य नामक दो प्रकार दो प्रकार के सन्निकर्ष को माना गया है, जबकि प्राभाकर केवल तीन प्रकार के सन्निकर्ष मानते हैं– संयोग, संयुक्त समवाय और समवाय।

प्रत्यक्ष ज्ञान के विषय के बारे में भी भारतीय दार्शनिकों में मतभेद है। न्याय–वैशेषिक के **अनुसार सप्त पदार्थ ही प्रत्यक्ष के विषय हैं**। मीमांसकों के अनुसार सत् (विद्यमान) पदार्थ ही प्रत्यक्ष **के विषय हैं**। **बौद्धों** के अनुसार प्रत्यक्ष का विषय क्षणिक स्वलक्षण है, जबकि अद्वैत वेदान्त के अनुसार **ब्रह्म ही** एक मात्र प्रत्यक्ष का विषय है। अद्वैत वेदान्त का मत अधिक तर्कसंगत प्रतीत होता है, क्योंकि परमार्थिक दृष्टि से ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य किसी की सत्ता ही नहीं है। इसलिए ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य किसी के प्रत्यक्ष का विषय होने का प्रश्न ही नहीं उठता।

जहाँ तक **प्रत्यक्ष के भेद** की बात है, **चार्वाक दर्शन** में प्रत्यक्ष के भेदों का कोई सपष्ट उल्लेख नहीं किया गया है। जैन व नव्य न्याय दर्शन में केवल सविकल्पक प्रत्यक्ष, योग और पूर्वमीमांसा दर्शनों में प्रत्यक्ष के निर्विकल्पक एवं सविकल्पक दोनों भेदों को वैध माना गया है। किन्तु **न्याय दर्शन में निर्विकल्पक प्रत्यक्ष को केवल तर्क के आधार पर सविकल्पक प्रत्यक्ष की प्रागवस्था के रूप में माना जाता है, जबकि पूर्व मीमांसा दर्शन में निर्विकल्पक प्रत्यक्ष को मनुष्य के अनुभव की एक अवस्था विशेष माना जाता है।**

न्याय दर्शन में लौकिक और अलौकिक भेद से प्रत्यक्ष के कुल छः भेद माने गये हैं। निर्विकल्पक, सविकल्पक, और प्रत्यभिज्ञा–लौकिक प्रत्यक्ष के भेद हैं, जबकि सामान्य लक्षणाजन्य, ज्ञानलक्षणाजन्य और योगज–अलौकिक प्रत्यक्ष के भेद हैं। षड्विध इन्द्रियों के आधार पर नैयायिकों ने अन्य दृष्टि से लौकिक प्रत्यक्ष के छः अन्य भेद माना है– चाक्षुष, श्रौत, स्पार्शन, रासन, घ्राणज तथा मानस। **बौद्धों** और **अद्वैत वेदान्तियों** ने नैयायिकों के निर्विकल्पक आदि लौकिक प्रतयक्ष के भेदों का खण्डन किया है। अद्वैत वेदान्तियों ने मन के इन्द्रियत्व का निषेध करके नैयायिकों के मानस प्रत्यक्ष तथा सामान्यलक्षणाजन्य एवं ज्ञानलक्षणाजन्य प्रत्यक्ष का भी खण्डन किया है। **मीमांसक** चूँकि

अविद्यमान विषयों का प्रत्यक्ष नही मानते, इसलिए वे न्याय दर्शन के अलौकिक प्रत्यक्ष को भी नही मानते हैं।

बौद्ध और अद्वैत वेदान्त दर्शन में अपनी–अपनी तत्त्वमीमांसीय धारणाओं के आधार पर केवल निर्विकल्पक प्रत्यक्ष को ही वैध प्रत्यक्ष माना गया है। बौद्ध दर्शन और अद्वैत वेदान्त के अनुसार क्रमशः केवल "स्वलक्षण" एव "ब्रह्म" ही परम पारमार्थिक सत्ताएँ है जो कि नाम, रूपादि सभी प्रकार के भेदों से परे हैं। इसलिए नाम, रूप भेद से युक्त सविकल्पक प्रत्यक्ष द्वारा नामरूपादि भेदों से परे "स्वलक्षण" एवं "ब्रह्म" का साक्षात्कार नही किया जा सकता। सविकल्पक प्रत्यक्ष के लिये प्रमाता से भिन्न प्रमेय की सत्ता को मानना आवश्य है। किन्तु ऐसा मानने पर "स्वलक्षण" एवं "ब्रह्म" की एकतत्त्वता विनषट हो जायेगी। इसलिए सविकल्पक प्रत्यक्ष को नहीं माना जा सकता। लेकिन निर्विकल्पक प्रत्यक्ष के स्वरूप के बारे में दोनों दर्शनों में मतभेद है। बौद्ध दर्शन में स्वीकृत निर्विकल्पक प्रत्यक्ष का स्वरूप ऐन्द्रिक भी है, क्योंकि बौद्धों के अनुसार प्रथम क्षण में इन्द्रिय और अर्थ के द्वारा प्राप्त किया जाने वाला ज्ञान ही प्रत्यक्ष है, जबकि वेदान्त के अनुसार निर्विकल्पक प्रत्यक्ष विना किसी इन्द्रिय की सहायता के प्राप्त किया गया वह ज्ञान है जो किसी विषय का बिना उसके अन्तर्सम्बन्धों का बोध कराये ही साक्षात् ज्ञान कराता है। **शंकरोत्तर अद्वैत वेदान्तियों** के अनुसार ज्ञान की प्रत्यक्षात्मकता का स्रोत ऐन्द्रिक न होकर प्रमाण चैतन्य का प्रमेय चैतन्य के साथ अभेद होने में है। इस प्रकार स्पष्ट होता **है कि जहाँ बौद्ध दर्शन के निर्विकल्पक प्रत्यक्ष का स्वरूप ऐन्द्रिक भी है, वहाँ अद्वैत वेदान्त के निर्विकल्पक प्रत्यक्ष का स्वरूप पराबौद्धिक है**। अद्वैत वेदान्त के मत का समर्थन अनेक पाश्चात्य दार्शनिकों द्वारा भी किया गया है तथा तर्क की कसौटी पर भी यह मत अधिक खरा उतरता है। **इसलिए अद्वैत वेदान्त–मत का समर्थन किया जा सकता है।**

बौद्ध दर्शन में प्रत्यक्ष के चार भेद माने गये हैं– इन्द्रिय प्रत्यक्ष, मानस प्रत्यक्ष, योगज प्रत्यक्ष एवं स्वसंवेदन प्रत्यक्ष। ये निर्विकल्पक प्रत्यक्ष के ही भेद हैं। अद्वैत वेदान्त में ज्ञानगत एवं विषयगत आधार पर प्रत्यक्ष के दो भेद किये गये हैं– निर्विकल्पक एवं सविकल्पक। इन दोनों के पुनः जीवसाक्षी एवं ईश्वरसाक्षी दृष्टि से दो भेद किये गये हैं। जन्य एवं अजन्य दृष्टि से भी प्रत्यक्ष के दो भेद माने गये हैं– इन्द्रियजन्य एवं इन्द्रियाजन्य। अद्वैत वेदान्त कृत प्रत्यक्ष का उपर्युक्त भेद बौद्ध दर्शन सम्मत प्रत्यक्ष–भेद की तुलना में जहाँ एक ओर प्रत्यक्ष को विस्तृत आयाम प्रदान करता है, वहीं दूसरी ओर केवल निर्विकल्पक प्रत्यक्ष की तात्त्विक यथार्थता तथा सविकल्पक प्रत्यक्ष की केवल व्यावहारिक यथार्थता स्वीकार करके व्यवहार एवं परमार्थ में सामञ्जस्य स्थापित करने के साथ ही तत्त्वमीमांसीय अद्वैतवाद से ज्ञान मीमांसीय अद्वैतवाद का सामञ्जस्य भी स्थापित कर देता है। उल्लेखनीय है कि बौद्ध दर्शन में सविकल्पक प्रत्यक्ष को काल्पनिक एवं भ्रान्त कह कर उसका निराकरण कर दिया गया है, जबकि अद्वैत वेदान्त में सविकल्पक प्रत्यक्ष को व्यावहारिक वेधता प्रदान की गयी है, न कि तार्किक वैधता। तार्किक वैधता केवल निर्विकल्पक प्रत्यक्ष को ही प्राप्त है। दूसरी बात यह है कि प्रत्यक्ष प्रमा

और प्रत्यक्ष प्रमाण का जितना अलग–अलग और स्पष्ट विवेचन अद्वैत वेदान्त में किया गया है, उतना अन्य दर्शनो में दृष्टिगोचर नही होता। इन सब आधारो पर **निष्कर्ष के रूप में हम कहना चाहते हैं कि प्रत्यक्ष के सम्पूर्ण पक्षों पर अद्वैत वेदानत का मत अधिक तर्क संगत और स्वीकार्य प्रतीत होता है।**

प्रमाणों में प्रत्यक्ष के पश्चात् द्वितीय स्थान **अनुमान** का है। अनुमान उस ज्ञान को कहते हैं जो किसी पूर्व ज्ञान के पश्चात् आता है। सामान्यतः प्रत्यक्ष को ही अनुमान का आधार माना जाता है, किन्तु जहाँ प्रत्यक्ष द्वारा अनुमान को आधार नहीं मिलता, वहॉ आप्त वचन द्वारा प्राप्त ज्ञान ही अनुमान का आधार हो जाता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि अनुमान में एक ज्ञान की प्राप्ति के पश्चात् ही दूसरी वस्तु का ज्ञान होता है। ज्ञानमीमासाा में अनुमान के सन्दर्भ मे एक ज्ञान के पश्चात जिस माध्यम से दूसरी वस्तु का ज्ञान होता है, उसे 'हेतु' या 'साधन' कहते हैं और हेतु के द्वारा जिसका ज्ञान होता है, उसे 'साध्य' कहते हैं तथा जिसके सम्बन्ध में अनुमान होता है, उसे 'पक्ष' कहते हैं। इस आधार पर कहा जा सकता है कि अनुमान वह है जिसमें किसी हेतु या साधन के द्वारा किसी अन्य वस्तु का ज्ञान प्राप्त होता है। हेतु या साधन को करण भी कहते हैं, इसीलिए अनुमान प्रमाण को अनुमिति के करण के रूप में भी परिभाषित किया जाता है। अनुमान की प्रक्रिया हेतु पद और साध्य पद के बीच 'व्याप्ति' के पूर्व ज्ञान से सम्पूरित होती है। इस तरह से अनुमान को परिभाषित करते हुए कहा जा सकता है कि अनुमान वह विचार प्रणाणी है जिसमें हेतु के द्वारा पक्ष के सम्बन्ध में साध्य का ज्ञान प्राप्त होत है, क्योंकि उन दोनों में पूर्ण व्याप्ति का सम्बन्ध विद्यमान रहता है। **धर्मराजाध्वरीन्द्र** के अनुसार अनुमान की प्रक्रिया में सर्वप्रथम पक्ष में हेतु के ज्ञान से महानस आदि मे ग्रहण किया हुआ व्याप्ति ज्ञान का संस्कार उद्‌बुद्ध होता है, तदुपरान्त व्याप्ति के स्मरण से अनुमिति होती है। पक्ष धर्मता का ज्ञान होने पर भी व्याप्ति का स्मरण यदि न हुआ तो अनुमिति नहीं हो सकती। अद्वैत वेदान्त में अनुमान के सामान्य ओर विशेष दोनों लक्षण दिये गये है। अनुमान के लक्षण के बारे में अद्वैत वेदान्त का मत अधिक तर्कसंगत प्रतीत होता है।

चार्वाक दार्शनिक अनुमान के प्रामाण्य को स्वीकार नहीं करते हैं। उनके अनुसार अनुमान का आधार व्याप्ति–वाक्य है। किन्तु व्याप्ति की स्थापना न तो प्रत्यक्ष द्वारा हो सकती है, न अनुमान द्वारा और न ही शब्द के द्वारा। व्याप्ति को कार्य–करण सम्बन्ध के अनुसार भी स्थिर नहीं किया जा सकता, क्योंकि कार्य–कारण सम्बन्ध स्वयं एक व्याप्ति है। अतः जब व्याप्ति की स्थापना ही नहीं हो सकती, तो उसके आधार पर अनुमान की सिद्धि का प्रश्न ही नहीं उठता। जब तक दो वस्तुओं का सम्बन्ध उपाधिरहित न हो, तब तक वह अनुमान का सही आधार नहीं हो सकता। प्रत्यक्ष के द्वारा यह सिद्ध नहीं हो सकता कि कोई व्याप्ति उपाधि–रहित है, क्योंकि प्रत्यक्ष व्यापक नहीं हो सकता। उपाधि–निरास के लिये अनुमान या शब्द की सहायता लेना भी अनुचित होगा, क्योंकि वे तो स्वयं असिद्ध हैं, और जो स्वयं असिद्ध है वह दूसरे को कैसे सिद्ध कर सकता है? इन तर्कों के आधार पर

चार्वाक दार्शनिक व्याप्ति ज्ञान की असिद्धि का प्रतिपादन करके अनुमान की असिद्धि का भी प्रतिपादन करते हैं जिसका विस्तृत विवेचन सम्बद्ध अध्याय में किया गया है। अनुमान के प्रामाण्य के बारे में चार्वाक विरोधी अनुमानवादी दार्शनिकों मत उचित प्रतीत होता है। **अतः अनुमान को एक स्वतन्त्र प्रमाण मानना उचित ही है।**

प्रायः सभी अनुवादी दर्शनों में अनुमान के इस सामान्य लक्षण को स्वीकार किया गया है कि अनुमिति का करण अनुमान प्रमाण है, किन्तु अनुमिति के करण, अनुमान के अवयव,व्याप्ति, पक्षधर्मता एवं अनुमान के भेद आदि के बारे मे मतभेद परिलक्षित होता है। **अनुमिति के करण** के सम्बन्ध मे प्रमुखतः चार मत प्रचलित है– लिंग या लिंगज्ञान, लिंग परामर्श एवं ज्ञात, ज्ञायमान या परामृश्यामान लिंग तथा व्याप्ति ज्ञान।

प्राचीन नैयायिक लिंग को अनुमिति का करण मानते हैं। लेकिन **लिंग** को अनुमिति का करण नहीं माना जा सकता, क्योंकि लिंग के अभाव में भी अनुमिति होती है। जैसे,घूलि–पटल में धूम का भ्रम हाने से 'पर्वत वह्निमान् है' ऐसी अयथार्थ अनुमिति होती है। इसी प्रकार लिंग ज्ञान को भी अनुमिति का करण नहीं माना जा सकता, क्योंकि जिस व्यक्ति ने पहले कभी पाकशाला आदि में हेतु और साध्य के अविनाभाव सम्बन्ध का ग्रहण नहीं किया है अथवा जिसे उक्त सम्बन्ध ग्रहण करने के बाद भी पर्वत पर धूम को देखकर अर्थात् 'पर्वत वह्निमान् है' इत्याकारक लिंग ज्ञान होने पर भी व्याप्ति सम्बन्ध का स्मरण न हुआ हो, उसे 'पर्वत् वह्निमान् है', इस प्रकार की अनुमिति नहीं हो सकती। इसलिए लिगज्ञान को भी अनुमिति का करण नहीं माना जा सकता है।

लिंग परामर्श को भी अनुमिति के प्रति करण नही माना जा सकता। न्याय दार्शनिकों का मत है कि तृतीय लिग परामर्श ही अनुमिति का करण है, क्योंकि इसके बाद ही उत्तर क्षण में अनुमिति होती है। किन्तु यह मत अनुचित है, कयोंकि पक्ष धर्मता ज्ञान से सर्वप्रथम व्याप्ति का संस्कार उद्‌बुद्ध होता है। तदनन्तर व्याप्ति का स्मरण होते ही साध्य की अनुमिति होती है। लिंगज्ञान या पक्षधर्मताज्ञान होने पर भी यदि व्याप्ति का स्मरण न हो, तो अनुमिति नहीं हो सकती। इसलिए लिंग परामर्श नहीं, बल्कि व्याप्ति ज्ञान को अनुमिति का करण मानना चाहिए।

प्राचीन नैयायिकों का यह मत भी अग्राह्य है कि **ज्ञायमान लिंग** अनुमिति का करण है, क्योंकि ऐसा मानने पर 'पर्वतोवह्निमान् भविष्यद् धूमात्' इत्यादि स्थलों में सबको जो अनुमिति होती है, वह नहीं होगी, क्योंकि उस समय वहॉ लिंग नहीं है। इसलिए वहाँ उसके करणत्व का व्यभिचार होता है। इसलिए ज्ञात, ज्ञायमान या परामृश्यमान लिंग को अनुमिति के प्रति करण नहीं माना जा सकता है।

वस्तुतः **व्याप्ति ज्ञान** को ही अनुमिति के प्रति करण मानना चाहिए, क्योंकि व्याप्तिज्ञान ही संस्कार द्वारा अनुमिति का करण बनता है। 'पर्वत धूमवान् है' ऐसा पक्षधर्मताज्ञान होने पर और 'धूमवह्निव्याप्य है' इस अनुभव से उत्पन्न हुए संस्कार का उद्‌बोध होने पर ही 'वह्निमान्' इत्याकारक

अनुमिति होती है। इसलिए **मीमांसकों** एवं **अद्वैत वेदान्तियों** के इस मत का समर्थन करते हुए कहा जा सकता है कि व्याप्ति ज्ञान ही अनुमिति का करण है। **कुछ नैयायिकों** ने भी 'व्याप्ति ज्ञान ही अनुमिति का करण है। किन्तु व्यापार के बारे में उनका अद्वैत वेदान्तियों एवं मीमांसकों से मतभेद है। **नैयायिक 'परामर्श' को व्यापार मानते हैं, जबकि अद्वैत वेदान्ती व मीमांसक 'व्याप्ति–स्मरण' को व्याप्ति ज्ञान का व्यापार मानते हैं। अद्वैत वेदान्तियों एवं मीमांसकों का मत अधिक तर्कसंगत प्रतीत होता है।**

अनुमान के अवयवों (वाक्यों) के बारे में भारतीय दर्शन में मुख्यतः दो मत प्रचलित हैं– प्रथम मतानुसार अनुमान के पाँच अवयव होते है। ये हैं– प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय, और निगमन। द्वितीय मत के अनुसार उपरोक्त में से प्रथम तीन या अन्तिम तीन ही अनुमान के अवयव माने जा सकते हैं। पंचावयवी परम्परा के अग्रगण्य आचार्य नैयायिक हैं, जबकि अवयवत्रयी परम्परा के मुख्य प्रचारक मीमांसक, अद्वैत वेदान्ती और बौद्ध दार्शनिक है। **न्याय मत** में चूँकि चार प्रमाण ही स्वीकृत हैं, इसलिए उनकी प्रामाणिकता को सिद्ध करने के लिये न्यायाचार्य अनुमान के पाँच अवयव मानते हैं। उनके अनुसार 'प्रतिज्ञा' में शब्द प्रमाण, हेतु में अनुमान प्रमाण एवं 'उपनय' में उपमान प्रमाण समाविष्ट है। निगमन में चारों प्रमाणों की प्रतिष्ठा होती है। इसलिए प्रमाणचतुष्टय की प्रतिष्ठा को सिद्ध करने के लिये अनुमान के पाँच अवयवों को मानना आवश्यक है।

अवयवत्रयी परम्परा के अग्रगण्य आचार्य मीमांसकों के अनुसार चूँकि संदर्भ केवल अनुमान प्रमाण से ही सम्बन्धित है, इसलिए अनुमान के केवल तीन अवयव ही माने जाने चाहिए। तीनों अवयवों से ही परार्थनुमान की सिद्धि हो जाती है। **मीमांसकों** व **अद्वैत वेदान्तियों** के अनुसार केवल तीन अवयवो से ही व्याप्ति और पक्ष धर्मता का ज्ञान हो जाता है, इसलिए दो अतिरिक्त अवयवों को मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। उन्हें मानने से 'पुनरूक्ति दोष' होगा। हमारा मानना है कि मीमांसकों व अद्वैत वेदान्तियों का मत उचित है।

अनुमान के आधार **'व्याप्ति'** के लक्षण व साधन के बारे में भी भारतीय दार्शनिकों में मतभेद है। प्राचीन नयाय–वैशेषिक, सांख्य–योग, जैन, बौद्ध तथा मीमांसकों ने अपने–अपने लक्षणों द्वारा 'व्याप्यत्व' का परिष्कार करते हुए, साधन और साध्य के यथार्थ सम्बन्ध को सूचित करने के लिये हेतु की अव्यभिचारता पर ही अधिक बल दिया है। गंगेश एवं उनके उत्तरवर्ती आचार्यों ने उक्त परिष्कार को पूर्वपक्ष में रखकर सिद्धान्त लक्षण में रखकर 'व्यापकत्व' का भी परिष्कार किया है एवं व्याप्ति को व्याप्य एवं व्यापक दोनों का धर्म मानकर दोनों का सामन्वय करते हुए दोनों को समान अधिकरण में गृहीत होना भी आवश्यक माना है। **अद्वैत वेदान्तानुसार समस्त साधनों के आश्रय (पक्ष) के आश्रित (साध्य) के साथ हेतु का समानाधिकरण्य ही व्याप्ति है।** व्याप्ति के इस लक्षण के आधार पर अनुमान करने से वह्निरूप असद् हेतु में व्याप्ति लक्षण की 'अतिव्याप्ति' भी नहीं होगी। **अतः व्याप्ति लक्षण के बारे में अद्वैत वेदान्त का मत अधिक तर्कयुक्त प्रतीत होता है।**

व्याप्ति–ग्रहण के साधन को लेकर भी अनुमानवादी भारतीय दार्शनिकों में मतभेद है। विभिन्न दर्शनों मे अपनी–अपनी दार्शनिक मान्यताओं के अनुसार **तर्क**, सहचारदर्शन, भूयोदर्शन या सकृद्दर्शन, तादात्म्य एवं तदुत्पत्ति तथा व्यभिचारादर्शन सहकृत सहचार दर्शन आदि को व्याप्ति ग्रहण का साधन माना गया है। लेकिन तर्क से व्याप्ति का ग्रहण नहीं हो सकता, क्योंकि व्याप्य के आरोप से व्यापक का आरोप करनारूप जो तर्क है, वह व्याप्ति के अधीन है। केवल सहचार दर्शन से भी व्याप्ति का ग्रहण नही हो सकता, क्योंकि दो पदार्थो का साहचर्य एक बार या बार–बार दिखायी देने पर भी सहचार का क्वचिद् व्यभिचार भी दिखाई देता है। भूयोदर्शन या सकृद्दर्शन को भी व्याप्ति–ग्रहण का साधन नहीं माना जा सकता है। तादात्म्य व तदुत्पत्ति को व्याप्ति ग्रहण का साधन मानने से अनेक कठिनाइयाँ उत्पन्न हो जाती है जिनका विस्तृत विवेचन सम्बन्धित प्रकरण में किया गया है। वस्तुतः ध्यानपूर्वक समीक्षा करने से **अतीत व्यभिचार शून्य सहचार दर्शन ही व्याप्ति का प्रयोजक प्रतीत होता है।** अतीत में यदि दो वस्तुओं का साहचर्य देखा जाय और उनका व्यभिचार (अपवाद) देखने में न आये, तो दोनो में साहचर्य सम्बन्ध अर्थात् व्याप्ति सम्बन्ध मानना चाहिए। **इस तरह से व्याप्ति ग्रहण के साधन के सम्बन्ध में भी अद्वैत वेदान्त का मत अधिक उचित प्रतीत होता है।**

अनुमान के आधार के रूप में सभी अनुमानवादी चिंतक व्याप्ति के अतिरिक्त एक अन्य तत्त्व **'पक्षधर्मता'** को मानते है। वस्तुतः व्याप्ति के संस्कार के उद्बोधन के लिये पक्षधर्मता को मानना आवश्यक है। अनुमान के लिए पक्षधर्मता के अतिरिक्त सभी दार्शिनिक इस बात में भी मतैक्य रखते है कि अनुमान में **तीन पद** आवश्यक हैं। ये हैं– पक्ष पद, हेतु पद और साध्य पद।

अद्वैत वेदान्त के अतिरिक्त अन्य वैदिक दर्शनों में **अनुमान के तीन भेद** माने गये है। ये हैं– केवलान्वयी, केवलव्यतिरेकी और अन्वयव्यतिरेकी। **अद्वैत वेदान्त** में अनुमान के इन भेदों का खण्डन करके **अनुमान का केवल एक ही भेद** माना गया है। वह है अन्वयिरूप। अनुमान के भेद–प्रकरण में इस बात का विस्तृत विवेचन किया गया है कि केवलान्वयी, केवलव्यतिरेकी और अन्वयव्यतिरेकी के रूप में अनुमान का जो वर्गीकरण किया गया है, वह दोषपूर्ण व अतार्किक है। **इस सम्बन्ध में अद्वैत वेदान्त का मत अधिक तर्कसंगत एवं ग्राह्य प्रतीत होता है।**

एक अन्य दृष्टि से अनुमान का वर्गीकरण 'स्वार्थ' और 'परार्थ' इन दो रूपों में किया गया है, जिसे सभी अनुमानवादी दार्शनिकों ने स्वीकार किया है। किन्तु परार्थनुमान को व्यक्त करने के लिये जहाँ न्यायादि दार्शनिकों ने पाँच वाक्यों को आवश्यक माना है, वहाँ मीमांसकों, वेदान्तियों और बसुबन्धु आदि बौद्धों ने परार्थानुमान के लिए केवल तीन अवयवों को ही आवश्यक एवं पर्याप्त माना है जिसे तर्क संगत माना जा सकता है, क्योंकि यदि त्रिअवयव–समुदाय से ही व्याप्ति और पक्ष धर्मता का ज्ञान हो जाता है, तो दो अन्य अवयवों को मानना अनुचित है। मीमांसकों व अद्वैत वेदान्तियों का यह

दृष्टिकोण अधिक तर्कसंगत एवं सुग्राह्य है। उपर्युक्त विवेचन के आधार पर **निष्कर्षतः हमारा मत है कि अनुमान के समस्त पक्षों पर अद्वैत वेदान्त का मत अधिक औचित्यपूर्ण है।**

जहाँ तक **उपमान** का प्रश्न है, सभी उपमानवादी दर्शनों में सादृश्य ज्ञान के करण को उपमान प्रमाण मानने में सामान्य सहमति है, किन्तु उपमिति प्रमा. इसके करण, उपमान की प्रक्रिया व प्रयोजन को लेकर मतभेद है। **न्याय दार्शनिकों** के अनुसार संज्ञा–संज्ञि या नाम–नामी की प्रतीति उपमिति है। गो सदृश पशु विशेष गवय पद का वाच्य है– इस प्रकार की प्रतीति उपमिति है। लेकिन **मीमांसकों** व **अद्वैत वेदान्तियों** का मानना है कि "गवय गाय के सदृश है" यह ज्ञान उपमिति नहीं है, वल्कि "गाय गवय के सदृश है" यह ज्ञान उपमिति है। इस प्रकार मीमांसक व अद्वैत वेदान्ती सादृश्य ज्ञान के कारण को उपमान प्रमाण मानने में नैयायिकों से सहमति रखते हैं, लेकिन उपमान प्रमाण के फल के बारे में वे न्यायाचार्यो से भिन्न मत रखते हैं।

न्याय दर्शन के दोनों सम्प्रदायों में उपमिति के करण को लेकर मतभेद है। **प्राचीन न्याय** के अनुसार उपमिति का करण आप्त पुरूष का वचन है, जबकि **नव्य न्याय** के अनुसार अतिदेशवाक्य स्मृतिसापेक्ष सादृश्य का इन्द्रिय जन्य ज्ञान उपमिति का करण है। मीमांसकों व अद्वैत वेदान्तियों ने उपर्युक्त दोनों मतों का खण्डन किया है। **कुमरिल भट्ट** के अनुसार प्राच्य नैयायिकों का उपमान प्रमाण शब्द प्रमाण में अन्तर्भूत किया जा सकता है, क्योंकि नैयायिक आप्त पुरूष के उपदेश को शब्द प्रमाण मानते हैं तथा उपमान भी आरण्यक के "यथागौर्गवयस्तथा" इस अतितदेश वाक्य से होता है। अतः प्राचीन न्याय सम्मत उपमान को आगम से भिन्न नहीं माना जा सकता है। नव्य न्याय मत के खण्डन में कुमरिल भट्ट का कहना है कि नव्य न्याय का उपमान स्मृति सहित सादृश्य का प्रत्यक्ष ज्ञान है जिसमें गाय का तो प्रत्यक्ष होता है तथा गवय में गोसादृश्य अतिदेशवाक्य द्वारा पूर्वकथित होने के कारण पूर्वानुभूत है, इसलिए वह स्मृति है। **प्राभाकर मीमांसकों** ने भी कहा है कि न्याय सम्मत उपमान प्रमाण का अन्तर्भाव शब्द, प्रत्यभिज्ञा तथा अनुमान आदि में हो जाता है। इसलिए नैयायिकों का उपमान लक्षण निर्दुष्ट नहीं है। **अद्वैत वेदान्तियों** के अनुसार भी न्याय के उपमान प्रमाण का अन्तर भाव अनुमान या शब्द प्रमाण में सरलता से किया जा सकता है। इसलिए न्याय दर्शन में स्वीकृत उपमान प्रमाण स्वतन्त्र प्रमाण न रह पाने के कारण दोषपूर्ण है। अद्वैत वेदान्त से यहाँ पर हम पूरी तरह से सहमत हैं।

भाट्ट शबर स्वामी के अुनसार "गोसादृश्य विविष्ट गवय का दर्शन" उपमिति का करण (उपमान प्रमाण) है और "गो स्मरण" उसका फल (उपमिति) है। परन्तु भाट्ट एवं प्राभाकर मीमांसक आचार्य शबर के उपर्युक्त मत से पूर्णतया सहमत नहीं है। **कुमारिल भट्ट** का कहना है कि स्मरण किये जाने वाले अर्थ "गो" को इन्द्रियासन्निकृष्ट मानने पर उपमान और स्मृति में कोई भेद नहीं रह जायेगा। **प्रभाकर** भी यहाँ कुमारिल भट्ट से सहमत हैं। इसलिए उभय आचार्यों का मानना है कि "गो सादृश्य विशिष्ट गवय दर्शन" उपमिति का करण और "गवयसादृश्यज्ञानं" अर्थात् "अनेन सदृशी मदीया

गौः" (इसी के समान मेरी गाय है) उसका फल है।

अद्वैत वेदान्त मे सादृश्य ज्ञान को उपमिति तथा सादृश्य प्रमा के करण को उपमान कहा गया है और इन दोनों के मध्य किसी अन्य व्यापार की विद्यमानता का निराकरण किया गया है। अद्वैत वेदान्त में यद्यपि सादृश्य ज्ञान को प्रमा और प्रमाण दोनों माना गया है, तथापि दोनों में मुख्य अंतर यह है कि प्रमाणरूप सादृश्यज्ञान में "गो" उपमान और 'गवय' उपमेय है और प्रमारूप सादृश्य ज्ञान में 'गवय' उपमान और 'गो' उपमेय है। यही दोनो में अन्तर है। इनमें प्रथम सादृश्य ज्ञान द्वितीय सादृश्य ज्ञान का जनक (करण) है और द्वितीय सादृश्य ज्ञान उसका फल (कार्य) है। इस प्रकार उनमें जनक–जन्यभाव सम्बन्ध है। इस सादृश्य ज्ञान की उत्पत्ति इन्द्रियादिकों से नहीं होती है। इसलिए उपमान एक पृथक् प्रमाण सिद्ध होता है। यहाँ चार्वाक, जैन, बौद्ध, वैशेषिक और सांख्य–योग मत का खण्डन भी हो जाता है जो या तो उपमान को प्रमाण मानते ही नहीं हैं या उसका अन्तर्भाव प्रत्यभिज्ञा, प्रत्यक्ष, अनुमान या शब्दपूर्वक प्रत्यक्ष प्रमाण में कर देते हैं। उपमान के स्वतन्त्र प्रामाण्य का समर्थन करते हुए हम कहना चाहेंगे कि उपमिति व उसके करण के लक्षण के बारे में अद्वैत वेदान्त का मत अधिक तर्कसंगत है।

उपमान की प्रक्रिया में अवान्तर व्यापार को लेकर दार्शनिकों में मतभेद है। **अद्वैत वेदान्त** में उपमानरूप सादृश्यज्ञान और उपमितिरूप सादृश्य प्रमा के बीच कोई अन्य व्यापार नहीं माना गया है। **मीमांसा दर्शन** में भी उपमान की प्रक्रिया में अवान्तर व्यापार का कोई उल्लेख नहीं मिलता है। **न्याय दार्शनिक** उपमान की प्रक्रिया में अवान्तर व्यापार को मानते हैं। उनके अनुसार किसी आरण्यक व्यक्ति से 'गवय गो सदृश होता है' सुनकर अरण्य में गये हुए शहरी व्यक्ति का 'गवय' के साथ इन्दिय सन्निकर्ष होने पर 'यह गो सदृश है', ऐसा गोसादृश्य ज्ञान होता है। तदनन्तर आरण्यक व्यक्ति के बताए हुए 'गवय, गोसदृश होता है' वाक्यार्थ का स्मरण होता है, इसके पश्चात् 'अयं गवयपदवाच्यं' (यह गवय पशु 'गवय' शब्द का वाच्य अर्थ है) –यह ज्ञान होना ही उपमिति है। न्याय मत में उपमान प्रमाण वस्तुबोधक न होकर शक्तिग्राहक है। 'गवय' पद की एक विशिष्ट पशु में शक्ति है, इस प्रकार का ज्ञान प्राप्त कराना ही उपमान का प्रयोजन है।

किन्तु **अद्वैत वेदान्ती** उपमान का उपर्युक्त प्रयोजन नहीं स्वीकार करते हैं। उनके मतानुसार 'अनेन सदृशी मदीया गौः'– यह ज्ञान होना ही उपमिति है। हमें अनुभव भी यही होता है कि 'इस पशु जैसी ही मेरी गाय है।' अतः 'गोसादृशो गवय.' इस अतिदेश–वाक्य के स्मृतिरूप व्यापार की कल्पना करने के पश्चात् उससे 'गवय, गवय शब्द का वाच्य है' ज्ञान की कल्पना करना, यह सब अनुभव के विरूद्ध है और इसलिए उपमान को शक्तिग्राहक नहीं माना जा सकता है। सामान्य अनुभव और तर्क दोनों ही दृष्टियों से अद्वैत वेदान्त का मत अधिक सन्तोष जनक प्रतीत होता है। **निष्कर्षतः सम्पूर्ण उपमान प्रमाण के बारे में अद्वैत वेदान्त का दृष्टिकोण अधिक औचित्यपूर्ण जान पड़ता है।**

शोध–विषय में विवेचन क्रम में उपमान के पश्चात् **शब्द प्रमाण** का स्थान है। प्रायः शाब्दी प्रमा के करण को शब्द प्रमाण माना जाता है। लेकिन शब्द को पृथक प्रमाणत्व प्रदान करने वाले जैन, सांख्य–योग, न्याय, पूर्वमीमांसा एवं अद्वैत वेदान्त दर्शनों में शब्द प्रमाण के विशिष्ट लक्षण के बारे में मतभेद परिलक्षित होता है। **जैन दर्शन** में श्रुत ज्ञान या शाब्द ज्ञान को आगम माना गया है। **न्याय दर्शन** के दोनों सम्प्रदायों मे शब्द प्रमाण के बारे में किंचित् मतभेद परिलक्षित होता है। **प्राचीन न्याय** में 'आप्तोपदेश' को शब्द प्रमाण माना गया है। **नव्य न्याय** में आप्तता के विचार का परित्याग करके 'वाक्यार्थ ज्ञान' को शब्द प्रमाण माना गया है और वाक्यार्थ ज्ञान का अर्थ 'वाक्य के अन्तर्गत पदसमूह का स्मरणात्मक ज्ञान' किया गया है। **केशव मिश्र** तथा **अन्नंभट्ट** ने 'उपदेश' को हटाकर 'आप्तवाक्य' को शब्द प्रमाण माना है।

न्याय दर्शन के दोनों सम्प्रदाय यह मानते हैं कि शब्द प्रमाण होने के लिये वाक्य का अर्थपूर्ण एवं विशेष ढंग से क्रमबद्ध होना आवश्यक है। इसके लिये प्राचीन नैयायिक आकांक्षा, योग्यता एवं सन्निधि को आवश्यक मानते हैं, जबकि नव्य नैयायिक तात्पर्यज्ञान को भी आवश्यक मानते हैं।

'आप्त' शब्द की व्याख्या के अतिरिक्त शब्द प्रमाण के लक्षण के बारे में सांख्य–योग और न्याय दर्शन में कोई विशेष अंतर नहीं है। सांख्य–योग के अनुसार सुदृढ प्रमाणों के द्वारा पदार्थ का अवधारण कराने वाला आप्त व्यक्ति जब अपने अनुभव के अनुसार किसी पदार्थ के वास्तविक स्वरूप का वर्णन करता है, तो उस समय के उसके कथन को शब्द प्रमाण कहते हैं।

शब्द प्रमाण के लक्षण के सम्बन्ध में मीमांसकों ने पूर्ववर्तियों के लक्षणों का तर्कपूर्ण ढंग से खण्डन करके शब्द प्रमाण का लक्षण निर्धारित किया है। **शबर स्वामी** के अनुसार "वर्ण ही शब्द है।" भाष्यकार की भाँति **प्रभाकर मिश्र** भी वर्ण को ही शब्द मानते हैं। उनके अनुसार शब्द उन अक्षरों से भिन्न नहीं हैं जिनसे यह बना है। शब्दों में अर्थद्योतन की नैसर्गिक शक्ति होती है, जिसके द्वारा वे पदार्थों को प्रकट करते हैं। इस प्रकार प्रभाकर के मत में अक्षर शाब्दिक बोध के साधन हैं।

आचार्य शबर पर प्रायः यह आक्षेप लगाया जाता है कि उन्होंने शब्द सामान्य का लक्षण न करके अपने मत को दोषयुक्त बना दिया है, क्योंकि सामान्य को समझे विना विशेष को नहीं समझा जा सकता है।

कुमारिल भट्ट के अनुसार 'विज्ञात' शब्द के द्वारा पदार्थ का अभिधान करते हुए जो असन्निकृष्ट (इन्द्रिय से असम्बद्ध) वाक्यार्थ विषयक ज्ञान होता है, उसे शब्द प्रमाण कहते हैं। **नैयायिक शाब्दबोध के प्रति ज्ञायमान पद अथवा पद–ज्ञान को करण मानते हैं, परन्तु भाट्ट मीमांसक पदों के**

द्वारा पदार्थों का स्मरण होने पर जो वाक्यार्थ ज्ञान होता है, उसे ही शब्द प्रमाण कहते हैं। पार्थसारथि मिश्र के अनुसार उस प्रमाण के द्वारा जो ज्ञान हो, उसे नवीन होना चाहिए।

प्राभाकर मीमांसक लौकिक या पौरूषेय शाब्दबोध के प्रामाण्य को अस्वीकार करते हैं। उनके अनुसार चूँकि पुरूष वचन केवल वक्ता पुरूष के अभिप्राय का अनुमान कराते हैं, स्वयं वाक्यार्थ का बोध नहीं कराते हैं, इसलिए पौरूषेय शाब्दबोध का अन्तर्भाव अनुमान प्रमाण में हो जाता है। किन्तु **भाट्ट मीमांसकों** के अनुसार वक्ता के बुद्धि की सिद्धि अनुमान से किसी भी प्रकार से नहीं हो सकती। इसलिए असिद्ध वक्तृबुद्धिरूप हेतु से श्रोता में शब्दार्थ विषयक अनुमिति नहीं की जा सकती। इसलिए लौकिक शब्द अनुमान मे अन्तर्भूत नहीं किया जा सकता। वैदिक शब्द के समान ही लौकिक शब्द भी प्रमाण हैं। भाट्ट मीमांसकों का यह मत अधिक उचित प्रतीत होता है।

अद्वैत वेदान्त में शब्द प्रमाण का अधिक सन्तुलित एवं तर्कसंगत लक्षण प्रस्तुत करते हुए कहा गया है कि जिसका पदार्थ ससर्ग, किसी भी अन्य प्रमाण से बधित नहीं होता, ऐसे और वक्ता के तात्पर्यविषयीभूत, संसर्ग के बोधक वाक्य को शब्द प्रमाण कहते है– **"वाक्यस्य तात्पर्यविषयीभूतसंसर्गो मानान्तरेण न बाध्यते, तत् वाक्यं प्रमाणम्।" धर्मराजाध्वरीन्द्र** के अनुसार लक्षण में 'वाक्यस्य' **पद के प्रयोग** द्वारा अन्य प्रमाणों से प्रत्यक्ष का भेद प्रदर्शित किया गया है। **इससे शब्द** प्रमाण का अनुमान में अन्तर्भाव किये जाने का खण्डन भी हो जाता है। इसलिए शब्द प्रमाण के लक्षण के बारे में अद्वैत वेदान्त का मत अधिक सन्तोषजनक प्रतीत होता है।

चार्वाक, बौद्ध और **वैशेषिक दार्शनिकों** के अनुसार शब्द का अन्तर्भाव अनुमान में हो जाता है। हमारा मानना है कि शब्द प्रमाण को अनुमान में अन्तर्भावित करना उचित नहीं है, क्योंकि शब्द प्रमाण व्याप्ति–निरपेक्ष होता है, जबकि अनमान का आधार व्याप्ति है। दूसरी बात यह है कि शब्द प्रमाण के लिए आकांक्षा, योग्यता, आसत्ति और तात्पर्यज्ञान आवश्यक होता है, जो कि अनुमान में नहीं होता। इसलिए शब्द का प्रामाण्य सिद्ध होता है।

एक प्रश्न यह उठता है कि **शब्द का अर्थ** क्या है? इसके उत्तर में व्यक्तिवाद, आकृतिवाद, अपोहवाद, स्फोटवाद, जात्याकृतिव्यक्तिवाद, जातिविशिष्टव्यक्तिवाद तथा जातिवाद जैसे अनेक सिद्धांतों का प्रतिपादन किया गया है। किन्तु जातिवाद के अतिरिक्त अन्य सभी सिद्धान्त दोषपूर्ण हैं। इनका विस्तृत विवेचन सम्बन्धित स्थल पर किया गया है। **जातिवाद** के अनुसार जाति ही शब्द का अर्थ है। हमारे मतानुसार पूर्वमीमांसा एवं अद्वैत वेदान्त में स्वीकृत जातिवाद ही शब्दार्थ की सही एवं सन्तुलित व्याख्या करता है।

जहाँ तक **शब्दार्थ सम्बन्ध** की बात है, जैन और न्याय–वैशेषिक के अनुसार शब्द और अर्थ के बीच अनित्य सम्बन्ध है, जबकि व्याकरण, सांख्य, मीमांसा और अद्वैत वेदान्त के अनुसार यह सम्बन्ध नित्य है। अनित्यवादियों के अनुसार शब्दार्थ सम्बन्ध को नित्य मान लेने पर प्रथम बार में ही उसका ज्ञान हो जाना चाहिए, किन्तु ऐसा नहीं होता। अतः शब्दार्थ सम्बन्ध को अनित्य मानना चाहिए।

किन्तु शब्दार्थ–सम्बन्ध का प्रथम बार में ज्ञान न होने मात्र से ही यह सिद्ध नहीं होता कि दोनों का सम्बन्ध अतित्य है। वस्तुत शब्द की उत्पत्ति न होकर अभिव्यक्ति मात्र होती है। शब्द और उससे निर्दिष्ट अर्थ दोनों ही नित्य है और अज्ञातकाल से मनुष्य उन्हीं शब्दार्थो के लिये उन्हीं शब्दो का प्रयोग करते रहे हैं। इससे सिद्ध होता है कि शब्द और अर्थ का सम्बन्ध नित्य है।

अद्वैत वेदान्त और नव्य न्याय के अनुसार **वाक्यज्ञान** के लिए वाक्यगत पदों में परस्पर आकांक्षा, योग्यता, सन्निधि एव तात्पर्यज्ञान का होना आवश्यक है, जबकि अन्य शब्दवादी दर्शनों में वाक्यबोध के लिए केवल प्रथम तीन को ही आवश्यक माना गया है। किनतु वाक्यबोध के लिये तात्पर्यज्ञान को मानना आवश्यक है। नव्य नैयायिकों के अनुसार सन्दर्भ एवं प्रसंग के अनुसार अर्थ बदलते रहते हैं, अतः विशेष सन्दर्भों में अर्थ के निर्धारण के लिये तात्पर्यज्ञान से श्रोता को विवक्षित अर्थ का बोध होता है तथा वाक्य के अर्थ के बारे में संशय का निवारण भी होता है। इसलिए वाक्यार्थ बोध के लिये तात्पर्य ज्ञान को कारण मानना आवश्यक है।

वाक्यार्थ बोध के प्रसंग में मुख्यतः चार मत दृष्टिगोचर होते हैं। प्रथम मत **वैयाकरणों** का है जिसके अनुसार वाक्य ही वाक्यार्थ का बोधक होता है। इस वाक्यार्थ बोध में धात्वर्थ को ही मुख्य विशेष्य माना जाता है और पदार्थ उसी में विशेषण के रूप में प्रतीत होते हैं। किन्तु यह मत उचित नहीं है, क्योंकि वाक्य और वाक्यार्थ दोनों निरवयव होते हैं। किसी समय वाक्य का एकदेश विस्मृत हो जाने पर भी वाक्यार्थ निकल आता है–यह अनुभवसिद्ध है। किन्तु वैयाकरणों के मत को मानने पर उस अनुभव का अपलाप करना पड़ेगा।

द्वितीय मत **तार्किकों** का है जिसमें प्रथमान्त पद से उपस्थापित अर्थ को विशेष्य माना जाता है और पदार्थ उसी में विशेषण रूप में प्रतीत होते है। किन्तु यह विचार भी तक की कसौटी पर खरा नहीं उतरता, क्योंकि तार्किकों का मत सर्वत्र एक सा नहीं है। **गदाधर भट्टाचार्य** ने 'व्युत्पत्तिवाद' में कहा है कि "भूतल घटो नास्ति" इत्यादि स्थलों मे तार्किकों का नियम लागू नहीं होता। इसलिए यह नियम सीमित होने से अस्वीकार्य है।

तीसरा मत 'अन्विताभिधानवाद' **प्राभाकर मीमांसकों** का है। इसके अनुसार वाक्य तो पदसमुदायरूप है। अर्थात् पद ही वाक्य है और पदार्थ ही वाक्यार्थ है। तात्पर्य यह है कि पद अन्वित अर्थ को बताता है। किन्तु यह मत भी सन्तोषजनक नहीं है, क्योंकि इसमें पदों की अन्वय तथा अर्थ में दो शक्तियाँ माननी पड़ती हैं। इसलिए गौरव प्रतीत होता है और लाक्षणिक स्थलों में अन्विताभिधान का होना संभव नहीं है।

चतुर्थ और अन्तिम मत **भाट्ट मीमांसकों** का है जिसे 'अभिहितान्वयवाद' कहा जाता है। **अद्वैत वेदान्त** में भी इसी मत का समर्थन किया गया है। इसके अनुसार पद पदार्थ के स्वरूप के ही वाचक होते हैं। वे आकांक्षा, योग्यता, आसत्तिरूप सहकारी कारणों से युक्त होकर लक्षणा से वाक्यार्थ को बताते हैं। अद्वैत वेदान्तियों ने किञ्चित संशोधन के साथ इस मत का समर्थन किया है। इनके अनुसार वाक्यार्थ बोध के लिये उपर्युक्त तीन सहकारी कारणों के अतिरिक्त तात्पर्यज्ञान को भी मानना चाहिए। अद्वैत वेदान्त का यह मत उचित ही है। इसका विस्तृत विवेचन वाक्य के स्वरूप विवेचन प्रकरण में किया गया है। हमारा मानना है कि अद्वैत वेदान्त द्वारा संशोधित 'अभिहितान्वयवाद' को सिद्धान्त के रूप में स्वीकार किया जा सकता है।

शब्द प्रमाण के मुख्यत **दो भेद** माने गये है– वैदिक व लौकिक। प्राभाकर आदि कुछ दार्शनिक लौकिक शब्द के प्रामाण्य को नहीं मानते, किन्तु वैदिक शब्द के प्रामाण्य को प्रायः सभी शब्दवादी दार्शनिक मानते है। हमारे मतानुसार लौकिक शब्द को प्रामाणिक माना जाना चाहिए। वैदिक शब्द को एक मत से प्रमाण मानते हुए भी दार्शनिकों में वेद के प्रामाण्यादि के बारे में दार्शनिकों में मतभेद है। **न्याय** के अनुसार वेद पौरूषेय व नित्य है, जबकि **पूर्वमीमांसा** में वेद को अपौरूषेय और नित्य माना गया है। **अद्वैत वेदान्त** के अनुसार वेदार्थ तो नित्य है, किन्तु वेद अपौरूषेय होते हुए भी नित्य नहीं हैं, क्योंकि ईश्वर प्रत्येक सृष्टि के आरम्भ में फिर से उनका उच्चारण करता है। अद्वैत वेदान्त का यह मत तर्क की कसौटी पर अधिक खरा उतरता है, क्योंकि वस्तुतः तात्त्विक दृष्टि से ईश्वर (ब्रहम) के अतिरिक्त अन्य किसी की नित्य सत्ता नहीं है। इसलिए वेदादि के परमार्थिक दृष्टि से नित्य होने का प्रश्न ही नहीं उठता। इस तरह से **निष्कर्षतः हमारा मानना है कि शब्द प्रमाण के समग्र पक्षों पर अद्वैत वेदान्त का मत अधिक तर्कपूर्ण है।**

पूर्वमीमांसा एवं अद्वैत वेदान्त में **अर्थापत्ति** को एक पृथक् प्रमाण माना गया है। दोनों ही दर्शनों में अर्थापत्ति प्रमाण का स्वरूप लगभग समान है। सामान्यतः सत्य अर्थ की कल्पना को अर्थापत्ति कहते हैं। अर्थापत्ति का लक्षण है– **"उपपाद्य के ज्ञान से उपपादक की कल्पना ही अर्थापत्ति है, जिसमें उपपाद्य का ज्ञान करण (प्रमाण) है।"** अर्थापत्ति प्रमाण तथा तज्जन्य प्रमा को भी अर्थापत्ति ही कहते हैं, उसी प्रकार जैसे प्रत्यक्ष प्रमाण तथा तज्जन्य प्रमा भी प्रत्यक्ष कहलाती है। यद्यपि प्रमा एवं प्रमाण दोनों के लिये 'अर्थापत्ति' शब्द का प्रयोग होता है, तथापि दोनों में 'अर्थापत्ति' शब्द की प्रवृत्ति का निमित्त भिन्न–भिन्न है। अतएव अर्थो में भी भिन्नता है। कल्पनारूप प्रमा में अर्थापत्ति की प्रवृत्ति षष्ठी समास करके होती है। अर्थात् "अर्थस्य आपत्तिः कल्पना इति अर्थापत्तिः" एवं कल्पना के करण के अर्थ में अर्थापत्ति शब्द बहुब्रीह समास करके प्रयुक्त किया जाता है। अर्थात् "अर्थस्य आपत्तिः यस्मात् तत्।"इस प्रकार प्रवृत्ति के निमित्त भेद से एक ही अर्थापत्ति शब्द के 'प्रमा' और 'प्रमाण' रूप दोनों ही अर्थ हो सकते हैं। संक्षेप में, अर्थापत्ति को परिभाषित करते हुए हम कह सकते हैं कि जहाँ दृष्ट अथवा श्रुत पदार्थ एक दूसरे से असंगत जान पड़ते हों, तो उस असंगति को दूर करने के लिये एक सत्य

अर्थ की कल्पना करनी पडती है। इस अर्थ की कल्पना को ही अर्थापत्ति प्रमाण कहते है।

अर्थापत्ति के भेद को लेकर भी दार्शनिको में मतभेद है। **भाट्ट मीमांसक** और **अद्वैत वेदान्ती** अर्थापत्ति के दो भेद मानते है– दृष्टार्थापत्ति तथा श्रुतार्थापत्ति। **प्रभाकर मिश्र** केवल दृष्टार्थापत्ति को ही अर्थापत्ति मानते है। उनके अनुसार श्रुतार्थापत्ति को अर्थापत्ति का एक अन्य भेद मानने की आवश्यकता नहीं है, क्योकि दृष्ट और श्रुत दोनों एक ही अर्थ के बोधक हैं। लेकिन प्रभाकर का यह मत उचित प्रतीत नही होता, क्योंकि दृष्टार्थापत्ति से संगृहीत सभी अर्थापत्तियाँ 'प्रमेयग्राहिणी' हैं, जबकि श्रुतार्थापत्ति 'प्रमाणग्राहिणी' है। इसी कारण भाट्ट मीमांसक एवं अद्वैत वेदान्ती श्रुतार्थापत्ति को अर्थापत्ति का एक पृथम् भेद मानते हैं। जिसे उचित माना जा सकता है।

श्रुतार्थापत्ति को दृष्टार्थापत्ति से भिन्न मानते हुए भी भाट्टों एवं अद्वैत वेदान्तियों में श्रुतार्थापत्ति की व्याख्या में थोडा मतभेद है। भाट्ट मीमांसकों का मत है कि श्रुतार्थापत्ति में शब्द या वाक्य की कल्पना करनी पड़ती है, जबकि अद्वैत वेदान्तियों के अनुसार इसमें कभी शब्द की तथा कभी तथ्य की कल्पना करनी पडती है। अद्वैत वेदान्तियों का मत अनुभव के अधिक अनुकूल है, क्योकि जहाँ शब्द या वाक्य से काम नहीं चल सकता, वहाँ कभी–कभी तथ्य की कल्पना करना आवश्यकत हो जाता है। इसलिए **श्रुतार्थापत्ति के बारे में अद्वैत वेदान्त का मत अधिक सन्तोषजनक प्रतीत होता है।**

अर्थापत्ति के प्रामाण्य को न मानने वाले दर्शनों में अर्थापत्ति का अन्तर्भाव अनुमान प्रमाण में कर दिया गया है। **नैयायिक** इसे केवल व्यतिरेकी अनुमान में अन्तर्भावित करते हैं। लेकिन **मीमांसा** एवं **अद्वैत वेदान्त** में केवलव्यतिरेकी अनुमान को अस्वीकार कर दिया गया है। इसलिए वे इसका अन्तर्भाव केवल व्यतिरेकी अनुमान में न करके स्वतन्त्र प्रमाणत्व प्रदान करते हैं। पुनश्च, अनुमान की प्रक्रिया अनुपपन्नता पर आधारित नहीं है, जबकि अर्थापत्ति का मुख्य आधार ही अनुपन्नता है। अनुमान का आधार व्याप्ति है, किन्तु व्याप्ति अर्थापत्ति का आधार नहीं है। इसलिए **अर्थापत्ति को एक स्वतंत्र प्रमाण मानना औचित्यपूर्ण है और इसके समग्र पक्षों पर अद्वैत वेदान्त का मत सर्वाधिक तर्कसंगत है।**

प्रमाणों के विवेचन क्रम में अन्तिम स्थान **अनुपलब्धि** प्रमाण का है। अभाव प्रमा के साधकतम् या असाधारण कारण को अनुपलब्धि प्रमाण कहते हैं। प्रत्यक्षादि प्रमाणों से ज्ञेय पदार्थो के अभाव का ज्ञान जिस साधन से होता है, उसे अनुपलब्धि या अभाव प्रमाण कहते हैं। इससे स्पष्ट होता है कि प्रत्येक अभावानुभव का ज्ञान अनुपलब्धि प्रमाण से नहीं होता, प्रत्युत केवल उसी अभावानुभव का ज्ञान अनुपलब्धि प्रमाण से होता है जिसे जिस परिस्थिति में उपलब्ध रहना चाहिए, उस परिस्थिति में वह उपलब्ध नहीं होती है। इस प्रकार अभाव ज्ञान का कारण 'योग्यानुपलब्धि' है।

अनुपलब्धि के पृथक् प्रमाणत्व को लेकर दार्शनिकों में मतभेद है। न्याय–वैशेषिक, सांख्य–योग, बौद्ध, जैन एवं प्राभाकर मीमांसक अनुपलब्धि को पृथक् प्रमाण नहीं मानते हैं, जबकि

शाबर एवं भाट्ट मीमांसक तथा अद्वैत वेदान्ती इसे पृथक् प्रमाण मानते हैं। भाट्ट मीमासा एवं अद्वैत वेदान्त में अनुपलब्धि प्रमाण के बारे में गहन चिन्तन किया गया है। दोनों ही दर्शनों में विवेच्य प्रमाण के बारे में गहन चिन्तन किया गया है। दोनों ही दर्शनों में विवेच्य प्रमाण का स्वरूप लगभग समान है।

प्राभाकर मीमांसक अनुपलब्धि को प्रमाण नही मानते है। इनके अनुसार भावात्मक पदार्थ का संसर्ग तो होता है, किन्तु अभावात्मक पदार्थ का ससर्ग नहीं होता। साक्षात् या परम्परया सम्बन्धरहित प्रमेय की साधकता किसी प्रमाण में दृश्य न होने के कारण अनुपलब्धि प्रमाण की सत्ता किसी भी तरह से सिद्ध नहीं हो सकती है। **न्याय दर्शन** में भी अनुपलब्धि का अन्तर्भाव प्रत्यक्ष, अनुमान एवं आगम प्रमाणों में किया गया है। नैयायिक अनुपलब्धि (अभाव) के प्रामाण्य का खण्डन करते हुए भी अभाव के पदार्थत्व को स्वीकार करते हैं, जबकि प्राभाकर न तो अभाव प्रमाण को मानते हैं और न अभाव नामक पदार्थ को ही। इनके अनुसार अभाव अधिकरणरूप ही है। **भाट्ट मीमांसकों** के अनुसार अभाव अधिकरणरूप नही है, बल्कि अधिकरण से अधिक है। नैयायिक भी अभाव को अधिकरण से अधिक मानते हैं, किन्तु वे उसका ग्रहण विशेष्य–विशेषणाभाव सन्निकर्ष के माध्यम से प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा अथवा अनुमान प्रमाण या शब्द प्रमाण से कर लेते हैं। प्राभाकर मीमांसक अभाव की प्रमेयता का खण्डन करते हुए भी अभाव को प्रत्यक्षगम्य मानते हैं।

किन्तु विशेष्य–विशेषण भाव सन्निकर्ष के माध्यम से प्रत्यक्ष द्वारा अभाव का ज्ञान नहीं हो सकता, क्योंकि विशेष्य–विशेषणभाव कोई सम्बन्ध ही नहीं है। दूसरी बात यह है कि इन्द्रियों का सन्निकर्ष केवल भावात्मक पदार्थों के साथ ही होता है, अभावात्मक पदार्थो के साथ नहीं। इसलिए अनुपलब्धि (अभाव) का अनतर्भाव प्रत्यक्ष में नहीं किया जा सकता। अनुमान प्रमाण से भी अभाव पदार्थ का ज्ञान नहीं हो सकता, क्योंकि अभाव के ग्रहणार्थ उपयुक्त लिंग का अभाव है। शब्द प्रमाण या उपमान के लिए आप्तवाक्य और सादृश्यज्ञान आवश्यक होता है, जो कि अनुपलब्धि में अप्राप्य है। इसलिए अभाव पदार्थ के ज्ञान के लिये अनुपलब्धि प्रमाण को मानना आवश्यक है।

न्याय–वैशेषिक दर्शन की ही भाँति भाट्ट मीमांसा एवं अद्वैत वेदान्त में अनुपलब्धि के प्रमेय भूत **अभाव के चार भेद** माने गये हैं– प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अन्योन्याभाव और अत्यन्ताभाव। **न्याय–वैशेषिकों के अनुसार इनमें से प्रथम दो क्रमशः** अनादि–सान्त तथा सादि– **अनन्त होते हैं, जबकि अन्तिम दो अनादि और अनन्त इसलिए नित्य होते हैं।** किन्तु **अद्वैत वेदान्त के अनुसार** प्रध्वंसाभाव को अनादि अर्थात् नित्य मानने से ब्रह्म और प्रध्वंसाभाव दोनों को नित्य मानना होगा, जिससे द्वैतापत्ति होगी। इसलिए प्रध्वंसाभाव को ध्वंसरूप अर्थात् अनित्य मानना चाहिए। पुनश्च,

प्रलय काल में समस्त पदार्थों का ध्वस होने पर उन पर आश्रित अत्यन्ताभाव का भी नाश हो जाता है, इसलिए अत्यन्ताभाव को नित्य नहीं माना जा सकता है। इसी तरह अन्योन्याभाव भी अनादि–अनन्त न होकर सादि और अनन्त दोनों होता है। अन्योन्याभाव के अधिकरण के सादि होने पर वह सादि होगा और अधिकरण के अनादि होने पर वह अनादि होगा। अद्वैत वेदान्त का मत तत्त्वमीमांसीय दृष्टि से द्वैतवाद आदि दोषों से रहित होने के कारण अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। **वस्तुतः अनुपलब्धि प्रमाण प्रमाण के समग्र पक्षों पर अद्वैत वेदान्त का मत अधिक तर्कपूर्ण प्रतीत होता है।**

निष्कर्षतः हमारा मानना है कि प्रस्तुत शोध–विषय में विवेचित छः प्रमाणों के बारे में समग्र रूप से अद्वैत वेदान्त का मत अधिक सन्तुलित एवं तर्कपूर्ण है। इसलिए षड् प्रमाणों के समस्त पक्षों पर अद्वैत वेदान्त के मत को सिद्धान्त के रूप में स्वीकार किया जा सकता है।

परिशिष्ट
संदर्भ-ग्रन्थ-सूचिका

संदर्भ-ग्रन्थ-सूचिका

अर्चट	:	*हेतुबिन्दु टीका, गायकवाड़ ओरिएण्टल सीरीज बड़ौदा, 1949।*
अकलंक	:	*राजवार्तिक, भारतीय ज्ञानपीठ वाराणसी, 1957।*
अनिरूद्ध	:	*अनिरूद्धवृत्ति, प० आशुतोष विद्याभूषण तथा पं० नित्यबोध विद्यारत्न, कलकत्ता, 1935।*
आनन्दपूर्ण	:	*न्यायचन्द्रिका, गवर्नमेण्ट ओरिएण्टल मैनुस्क्रिप्ट लाइब्रेरी, मद्रास, 1959।*
अन्नं भट्ट	:	*तर्कसंग्रह, भण्डारकर प्राच्यविद्या संशोधन मन्दिर, पूना, 1930।*
बसुबन्धु	:	*विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि, नव नालन्दा महाविहार रिसर्च पब्लिकेशन, नालन्दा, 1957।*
भट्टोजि दीक्षित	:	*वैयाकरण सिद्धान्त कौमुदी, मोती लाल बनारसी दास, 1979।*
चित्सुखाचार्य	:	*तत्त्वप्रदीपिका,उदासीन संस्कृत विद्यालय, काशी, 1956।*
दिङ्नाग	:	*प्रमाणसमुच्चय, मैसूर विश्वविद्यालय प्रकाशन, मैसूर, 1930।*
देवनन्दी	:	*सर्वार्थसिद्धि, भारतीय ज्ञानपीठ वाराणसी, 1935।*
डॉ० राधाकृष्णन्	:	*भारतीय दर्शन, भाग–II राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली, 1983।*
डॉ० चक्रधर बिजल्वान	:	*भारतीय न्यायशास्त्र, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, 1983।*
धर्मकीर्ति	:	*न्यायबिन्दु, काशी प्रसाद जायसवाल अनुशीलन संस्था, पटना, 1955।*
धर्मकीर्ति	:	*प्रमाणवार्तिक, किताब महल, इलाहाबाद, 1943।*
धर्मोत्तर	:	*धर्मोत्तर प्रदीप, काशी प्रसाद जायसवाल अनुशीलन संस्था, पटना, 1955*
धर्मोत्तर	:	*न्यायबिन्दुटीका, काशी प्रसाद जायसवाल अनुशीलन संस्था, पटना, 1955।*
धर्मभूषण	:	*न्यायदीपिका, वीरसेवा मन्दिर सहारनपुर, 1945।*
धर्मराजाध्वरीन्द्र	:	*वेदान्त परिभाषा, व्याख्या– श्री गजानन शास्त्री मुसलगाँवकर, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, 1983।*
गौतम	:	*न्यायसूत्र, कलकत्ता संस्कृत ग्रन्थमाला, कलकत्ता, 1936।*
गंगेश उपाध्याय	:	*तत्त्वचिन्तामणि, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, 1917।*
गदाधर भट्टाचार्य	:	*गादाधरी, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, 1917।*
हेमचन्द्र	:	*प्रमाणमीमांसा, सिन्धी जैन ग्रन्थमाला, अहमदाबाद, 1939।*
हरिदास	:	*हरिदासवृत्ति, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, 1962।*

ईश्वर कृष्ण	:	*सांख्यकारिका, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, 1963।*
जैमिनि	:	*मीमांसासूत्र (जैमिनिसूत्र), आनन्दश्रम मुद्रणालय, पूना, 1929।*
जयन्त भट्ट	:	*न्याय मंजरी, भाग–I, प्राच्यविद्या संशोधनालय, मैसूर, 1970।*
जयन्त भट्ट	:	*न्याय मंजरी, भाग–II, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, 1936।*
कुमारिल भट्ट	:	*श्लोकवार्तिक, मद्रास विश्वविद्यालय प्रकाशन, मद्रास, 1940*
कुमारिल भट्ट	:	*न्यायरत्नाकर, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, 1953।*
कुमारिल भट्ट	:	*तन्त्रवार्तिक, आनन्दाश्रम, पूना, 1970।*
कणाद	:	*वैशेषिक सूत्र, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, 1933।*
केशव मिश्र	:	*तर्कभाषा, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, 1953।*
केशव मिश्र	:	*तर्कभाषा, व्याख्या– बदरीनाथ शुक्ल, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, द्वितीय संस्करण, 1976।*
कुन्दकुन्द	:	*प्रवचनसार, श्री परमश्रुत प्रभावक मण्डल, बम्बई, 1936।*
मधुसूदन सरस्वती	:	*अद्वैत सिद्धि, निर्णय सागर मुद्रणालय, बम्बई, 1977।*
माधवाचार्य	:	*सर्वदर्शनसंग्रह, भण्डारकर प्राच्यविद्या संशोधन मन्दिर, पूना, 1951।*
मनोरथनन्दी	:	*मनोरथनन्दीवृत्ति, किताब महल, इलाहाबाद, 1943।*
महेन्द्र कुमार जैन	:	*जैन तर्कभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1978।*
नारायण भट्ट	:	*मानमेयोदय, थियोसाफिकल पब्लिशिंग हाउस, अड्यार, मद्रास, 1933।*
पाणिनि	:	*अष्टाध्यायी, रामलाल कपूर ट्रस्ट, बहालगढ़, सोनीपत, 1973।*
प्रशस्तपाद	:	*प्रशस्तपादभाष्य, निर्देशक अनुसन्धान संस्थान वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, 1963।*
प्रभाचन्द्र	:	*प्रमेयकमलमार्तण्ड, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, द्वितीय संस्करण, 1941।*
प्रो० संगमलाल पाण्डेय	:	*भारतीय दर्शन का सर्वेक्षण, सेण्ट्रल बुक डिपो, इलाहाबाद, 1981।*
प्रभाकर मिश्र	:	*बृहती, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, 1933।*
पार्थसारथि मिश्र	:	शास्त्रदीपिका, चौखम्बा प्रकाशन, 1913।
रत्नकीर्ति	:	*रत्नकीर्ति निबन्धावली, के0पी0 जायसवाल अनुशीलन संस्था, पटना, 1955।*
रंगनाथ पाठक	:	*स्फोट दर्शन, बिहार राष्ट्र भाषा परिषद, 1967।*
सिद्धसेन दिवाकर	:	*न्यायावतार, श्री परमश्रुत प्रभावक मण्डल, बम्बई, 1936।*
श्री हर्ष	:	*खण्डनखण्डखाद्य, अच्युत ग्रन्थमाला, वाराणसी, सं0 2018।*
एस० सुब्रह्मण्यम् शास्त्री	:	*न्यायभूषण, गवर्नमेण्ट ओरिएण्टल मैनुस्क्रिप्ट लाइब्रेरी, मद्रास, 1961।*
शबर स्वामी	:	*शाबरभाष्य, आनन्दाश्रम मुद्रणालय, पूना, 1951।*

शालिकनाथ मिश्र : *प्रकरणपचिका, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय मुद्रणालय, काशी 1961।*

उदयन : *किरणावली, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, 1919।*

उद्योतकर : *न्यायवार्तिक, कलकत्ता संस्कृत ग्रन्थमाला, कलकत्ता, 1936।*

उम्बेक : *श्लोकवार्तिकतात्पर्यटीका, मद्रास विश्वविद्यालय प्रकाशन, मद्रास, 1940।*

उमास्वामी : *तत्त्वार्थाधिगमसूत्र, भारतीय ज्ञानपीठ वाराणसी, 1949।*

वात्स्यायन : *न्यायभाष्य, कलकत्ता संस्कृत ग्रन्थमाला, कलकत्ता, 1936।*

वाचस्पति मिश्र : *सांख्यतत्त्वकौमुदी, सत्य प्रकाशन बलरामपुर हाउस, इलाहाबाद, 1962।*

वाचस्पति मिश्र : *न्यायकणिका, तारा पब्लिकेशन, वाराणसी, 1978।*

वाचस्पति मिश्र : *न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका, कलकत्ता संस्कृत ग्रन्थमाला, कलकत्ता 1936।*

विश्वनाथ : *सिद्धान्तमुक्तावली, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, 1951।*

विज्ञानभिक्षु : *सांख्यप्रवचनभाष्य, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, 1951।*

व्यास : *व्यासभाष्य, भारतीय विद्या प्रकाशन, पंचगंगाघाट, वाराणसी, 1963।*

BELVALKER, S.K. : *Upman in Indian Philosophy, Eastern book linkers, Jawahar Nagar, Delhi, 1980.*

CHATTERJEE, S.C. : *The Nyaya Theory of Knowledge, Calcutta University Press, Calcutta, 1950.*

DATTA, D.M. : *The Six Ways of Knowing, Calcutta University Press, Calcutta, Second edition, 1978.*

JHA, G.N. : *Slokavartika, English Translation, Asiatic Society of Bengal, Calcutta, 1980.*

MOTILAL, B.K. : *Perception, Clarendon Press, Oxford, 1986.*

MOHANTI, J.N. : *Gangesha's Theory of Truth.*

RANADEL H.N. : *Fragments from Dinnāge, Royal Asiatic Society London, 1929.*

STCHERBATSKY, T. : *Buddhist Logic, Dover Publication, New York, 1962.*